

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

केंद्र ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० वा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००९

दूरभाष : ३३३४३१

सर्वाधिकार सुरक्षित

द्वितीय संस्करण १९९५

- मूल्य १२५-००

:

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० वा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९९

प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

धीक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० वा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००९

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

श्रीधन्वन्तरये नमः

‘इदं नमः ऋषिश्य पूर्वजेश्यः पूर्वेश्यः पृथिक्षदेश्यः ।’
(अ० १०१४१२५)

पूर्वकाल के पूर्वज ऋषियो, जिन्होने
ज्ञान के अरण्य में पगड़ियों का
निर्माण किया है, को प्रणाम ।

चरकसंहिता

'चरक-चन्द्रिका'-हिन्दीव्याख्या-विशेष वक्तव्य भावि से संबलित

व्याख्याकार—

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

साहित्याचार्य, व्याख्यावाचार्य

पम० ए०, पो-एच० ही०, ही० एस-सी०-प्र०

प्राक्कथन लेखक—

डॉ० गङ्गासहाय पाण्डेय

एवं

डॉ० प्रभाकर जनार्दन देशपाण्डे

तम्प्रति उपलब्ध चरक-संहिता ८ स्थानों तथा १२० अध्यायों में विभक्त है। प्रस्तुत संहिता काय-चिकित्सा का सर्वमान्य अन्थ है। जैसे समस्त संस्कृत-वाक्यमय का आधार वैदिक साहित्य है, डीक वैसे ही काय-चिकित्सा के क्षेत्र में जितना भी परवती साहित्य लिखा गया है, उन सब का उपजीव्य चरक है।

चरकसंहिता के अन्त में अन्यकार की प्रतिक्षा है—यदिहास्ति तदन्यन्त यज्ञोहास्ति न तद् क्षचित् । इसका अभिप्राय यह है कि काय-चिकित्सा के सम्बन्ध में जो साहित्य व्याख्यान रूप में अथवा सूत्र रूप में इसमें उपलब्ध है, वह अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है, और जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी सुलभ नहीं है। चरक का यह डिण्डमघोष तुलनात्मक दृष्टि से सर्वदा देखा जा सकता है।

दूसरी विशेषता महार्षि चरक की यह रही है—'पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः'। इन्होंने अपने तन्त्र के अतिरिक्त दूसरे विषय के आचार्यों के क्षेत्र में टॉग अडाना पसन्द नहीं किया, अतएव उन्होंने कहा है—'अत्र धून्वन्तरीचाणाम् अधिकारः क्रियाविधौ'।

इस प्रकार के आदर्श अन्थ पर भट्टराहिरचन्द्र आदि अनेक स्वनामधन्य मनीषियों ने टीकाएँ लिखकर इसके रहस्यों का उद्घाटन समय-समय पर किया है।

इसके पूर्व भी चरक की कतिपय व्याख्याएँ लिखी गयी हैं, वे विषय का बोध भी कराती हैं। चरकसंहिता की चरक-चन्द्रिका टीका के रूप में लेखक का इस दिशा में पह रुख्य प्रयास है। इसमें व्याख्यान चरक के रहस्यमय गूढ स्थलों का सरस भाषा में आशय रूपृष्ठ किया गया है। स्थल विशेष पर पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी नाम भी दे दिये गये हैं। आवश्यकतानुसार प्रकरण विशेष पर आधुनिक चिकित्सा-सिद्धान्तों का तुलनात्मक दृष्टि से भी समावेश कर दिया गया है, जिससे पाठकों को विषय को समझने में मुश्किल हो। साथ ही कठिन स्थलों को विशेष वक्तव्य तथा टिप्पणियों द्वारा प्राजल किया गया है। प्रथम भाग (सज्जनिदान-विमान-शारीर-इन्द्रियस्थान) २५०-००
द्वितीय भाग (चिकित्सा कल्प-सिद्धिस्थान) ३००-००

सचित्र स्त्रीरोग-चिकित्सा

डॉ० जहानसिंह चौहान

मूल्य २२५-००

सचित्र इंजेकशन-चिकित्सा

डॉ० जहानसिंह चौहान

मूल्य १२५-००

सचित्र नेत्र-विज्ञान

डॉ० शिवनाथ खन्ना

मूल्य १२५-००

सचित्र प्रसूति-तन्त्र

डॉ० शिवनाथ खन्ना

मूल्य १२५-००

प्राक्तिकथन

व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के सर्वधन का सबसे प्रबल कार्य है—उनके स्वास्थ्य, उनके जीवन के विकास और उनके आनन्द की साधना। प्रगति और उन्नति की धुरी है—मानव का सुन्दर एवं अनिन्द्य स्वास्थ्य तथा बलिष्ठ शरीर एवं सुदृढ़ मन की सरचना। निरन्तर गति मानव-जीवन की प्रगति का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र, उसके कानों में ‘चलते रहो, चलते रहो’ की ध्वनि गूँजती रहनी चाहिए। जागृत और सचेत रहना ही जीवन है। सोने का नाम कलि है, अङ्गडाई लेने का नाम द्वापर है, उठकर खड़े हो जाने का नाम त्रेता और चल पड़ने का नाम सरयुग है^१। अतः हमें मरयुग के रास्ते पर चलने का न्रत लेना चाहिए।

जब तक ‘चरैवेति चरैवेति’ के संगीत की धुन व्यक्ति या राष्ट्र के रथचक्रों में गूँजती रहती है, तब तक ही वे प्रगति और उन्नति के सोपान पर आरूढ़ होकर अपने प्राप्तव्य उच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहते हैं। मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना सास्कृतिक विकास की एक बहुफलप्रदा विधा है। इस परिषेक्ष्य में पूर्व और नूतन के समन्वयन की कल्पना करना एक उच्च मस्तुकि की उर्वर भूमिका तैयार करना है।

यह एक सुविचारित सूक्ति है कि ‘किसी वस्तु की उत्तमता की कसीटी उसका पुरानापन नहीं है और न तो किसी वस्तु की अनहंता की कसीटी उसका नयापन है’^२।

वे लोग मूढ़ हैं, जो बुद्धि-दारिद्र्य के कारण दूसरों की बात पर विना मोचे-विचारे अमल करते हैं। जो बुद्धि-सम्पन्न है, वे गुण-दोष के आधार पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् किसी की बात मानते हैं या इनकार करते हैं।

नयेपन और पुरानेपन के प्रपञ्च में न पड़कर विवेक और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखकर नये-पुराने ज्ञान-विज्ञान के मेल-जोल के पक्ष को अपनाकर

^१ कलि शयोनो भवति सज्जिहानस्तु डापरः ।

उत्तिप्रस्त्रेता भवति कृत मम्पद्यने चरन् ॥

चरैवेति, चरैवेति ।

—(ऐतरेयब्राह्मण)

^२ पुराणमित्येव न साधु मर्व न चापि काव्य नवमित्यवथ्यम् ।

भन्नं परीक्ष्यान्तरद् भजन्ने मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥

जहाँ कहीं से जीवनवृक्ष को सवधित करनेवाली मूल्यवती गामग्री प्राप्त हो सकती है, उसे ग्रहण कर अपनी जीवदायिनी प्राणविद्या की ज्ञानसम्पदा के विस्तार में सातत्येन अभिरुचि रखते हुए आयुर्वेद के माथ नव्य चिकित्सा-विज्ञान का सामञ्जस्य-स्थापन एक स्पृहूणीय बुद्धिकीणल है ।

इसी चित्तवृत्ति के उन्मेष से अनुप्राणित होकर अधुनातन आयुर्वेद-मनीषियों ने आयुर्वेद के नवीन पाठ्यक्रम में अनेक आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के विषयों का समावेश किया है, जो एक रमणीय निवेश है । अस्तु ।

प्रस्तुत ग्रन्थ कायचिकित्सा भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद, नई दिल्ली के आयुर्वेदाचार्य के पाठ्यक्रम में कायचिकित्सा विषय के तृतीय प्रश्नपत्र में सम्बद्ध है । इस प्रश्नपत्र में अनेक ऐसे विषय हैं, जो नवीन चिकित्सा-विज्ञान के हैं और जिन पर हिन्दी भाषा में लिखित पुस्तकों का अभाव है, अन मेरा यह प्रयाप्त उस अभाव को भरने का है । पाठ्यक्रम में निहित विषयों के तमस को विदीर्ण करने के लिए यह प्रस्तुति एक दीपणिखा है, अथवा नवीन विषय के दण्डकवन में प्रवेश के लिए एक पगडण्डी है । अधिक प्रकाश और राजपथ के निर्माण की दिशा में विशेषज्ञ आधुनिक तकनीकविद् शिल्पकारों को आगे आना चाहिए ।

यह ग्रन्थ १६ अध्यायों में विभक्त है । अध्याय-क्रम से विषयों का निर्धारण निम्नाङ्कित प्रकार से किया गया है —

१ प्रथम अध्याय — इसके अन्तर्गत वातव्याधि-निदान-लक्षण-आवरण, चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त, चिकित्सासूत्र, सामान्य चिकित्सा, विशिष्ट वातरोगों के लक्षण और विशिष्ट चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

२ द्वितीय अध्याय — इसमें स्थौल्य-निदान, दोष-दूष्य आदि चिकित्सा सूत्र और चिकित्सा का वर्णन है । कार्यरोग का सवर्ज्जि वर्णन तथा रिकेट्स, आँस्टियोमैलेसिया, बेरी-बेरी और पेलाग्रा के निदान, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन और कुपोषणजन्य विकारों की रोकथाम का वर्णन किया गया है ।

३ तृतीय अध्याय — इसमें प्रमुख अन्त स्नावी ग्रन्थियों के रोगों के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन किया गया है । जैसे — चुलिका-ग्रन्थि, उपचुलिका, उपवृक्क, थाइमस, पोषणिका, अग्न्याशय, वीजग्रन्थि, अन्त फल और अपरा का वर्णन है ।

४ चतुर्थ अध्याय — इसमें आनुवणिक रोग, पर्यावरण, देश-काल-जल-वायु, पर्यावरण-परिवर्तनजन्य रोग, अशुघात और यात्राजन्य विकारों का वर्णन है ।

(५)

५. पचम अध्याय—इसमें धाराम-विद्याक्षता, भागी धातुजन्य विद्याक्षता, पारदन्ताग-पद्धति के विद्यालक्षण और विद्याक्षता की सामान्य चिकित्सा का वर्णन है।

६. छठ अध्याय—इसमें इत्यनित चिकार और उनका प्रतिकार, चालाकार आदि, संषेदनज विद्यार और उपचार, यूनिवर्सल, अल्कोहिप, विद्यजनु दंग, लूता, मूराह, मधिता, जहागदी आदि तथा शङ्खाविद्य-लक्षण और चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

७. सप्तम अध्याय—इसमें व्याधिक्षमित्य, नीरम चिकित्सा, लग्नीकारोग, अनूर्जता एवं चिकित्सन-प्रेग्नें विकारों और उपचारों का वर्णन है।

८. अष्टम अध्याय—इसमें द्रुगरोगों के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

९. नवम अध्याय—इसमें मन का निरूपण किया गया है।

१०. दशम अध्याय—इसमें मनोविज्ञान की उपादेयता, मानस रोगों का निदान और उनके लक्षणों का वर्णन है।

११. एकादश अध्याय—इसमें मानसरोगों का चिकित्सासूत्र एवं उन्माद रोग विस्तारपूर्णक वर्णित है।

१२. द्वादश अध्याय—इसमें अपम्मार, अतत्वाभिनिवेष, मनोविक्षिप्ति (Psychosis), अव्यवस्थितचित्तता (Schizophrenia), विपाद (Depression), अ्रम (Illusion), विघ्रम (Hallucination), सविघ्रम (Paranoia), व्यामोह (Delusion), मन श्रान्ति (Neures-thenia) और मनोग्रन्थि—इनके लक्षण और उपचार का वर्णन किया गया है।

१३. त्रयोदश अध्याय—इसमें आत्यधिक चिकित्सा की परिभाषा, उसके स्वरूप, प्रकार एवं सामान्य सिद्धान्त का वर्णन है। तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार के असन्तुलनजन्य विकारों तथा दग्ध और रक्तस्राव के विविध स्वरूपों का सौपचार वर्णन है।

१४. चतुर्दश अध्याय—इसमें तीव्र उदरशूल, अन्नद्रवशूल, परिणामशूल, आनाह, उदावर्त, तीव्र श्वासकाठिन्य और वृक्कशूल के निदान-लक्षण-चिकित्सा का वर्णन है।

१५. पञ्चदश अध्याय—इसमें मूत्रावरोध, अन्त्रावरोध, हृच्छूल और मूर्छा का सविस्तर वर्णन किया गया है।

१६. षोडश अध्याय—इसमें मधुमेहजन्य उपद्रव यथा—मधुमयताधिक्य

एवं उपमधुमयता, उदर्याकिलाशोथ, तीग्रजवर, औषधप्रतिक्रिया एवं विपाक्तता का वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार कायचिकित्सा के तृतीय प्रश्नपत्र के ममग्र विषय उस ग्रन्थ में सम्भिष्ठ है और मुझे यह विश्वास है कि यह ग्रन्थ उस विषय के लिए उपयोगी ज्ञान प्रदान करने में पूर्णतः सामर्थ्यवान् मिद्ध होगा ।

स्वाध्याय और निष्ठा का सम्बल संजोकर ही इन विषयों पर लेखनी चलाने का साहभ अंजित किया जा सका है, क्योंकि अधिकाश शीर्षक नये हैं और प्रथम उन्हे आत्मसात् करके ही लेखन का आरम्भ किया गया । आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थों का पर्यालोचन कर उनसे मारांश लेकर अपनी स्वयं की शैली में विषयों का प्रस्तुतीकरण किया गया है ।

इस ग्रन्थ के लेखन में यह प्रयास किया गया है कि कायचिकित्सा के तृतीय प्रश्नपत्र के सभी विषय इस ग्रन्थ में सुनियोजित ढंग से सरल एवं सुविध भाषा में लिखे जायें । पाठक-वृन्द अल्पश्रम से ही अध्येतन्य विषय को अपना बना सके, स्वाध्याय में तल्लीनरता हो, अभिरुचि हो, मनस्तोष हो, जिज्ञासा का उदय हो, अध्ययन में मनोयोग हो, गतिशीलता हो और सहज ही विषय हृदयज्ञम हो जायें, इस बात के लिए सभी विषय मनोरम रमणीय शैली में प्रस्तुत किये गये हैं । अध्येता की सन्तुष्टि ही लेखन की महनीयता की परख है ।

हमारे पूर्व प्रकाशित पाठ्यग्रन्थों को समादर और स्पृहणीयता मिली है और वही मेरी 'लेखनी' को सतत गति देनेवाली प्रेरणा है । यह ग्रन्थ जैसा भी बन पड़ा है, आप सहृदय भावकर्जनों के समक्ष है । इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में आप विद्वज्जनों की अवधारणा का स्वागत है । यो तो इस सृष्टि में सर्वत्र कुछ गुण हैं तो दोष का होना भी स्वाभाविक है—'नहि किञ्चिददोषनिर्गुणम्' के अनुसार जहाँ प्रकाश है, वहाँ तम के अस्तित्व का भान होगा ही ।

आभार

मेरे आत्मज डा० आशुतोष शुक्ल (बी० ए० एम० एस०, साहित्यरत्न) और मेरी ममता की मूर्ति पत्नी श्रीमती सुशीला देवी अनेकश धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने मुझे अनेक प्रकार की बाधाओं से मुक्त कर लेखन-कार्य में प्रोत्साहन दिया तथा मनोयोगपूर्वक सहयोग देकर उत्साहवर्धन किया ।

मेरे ज्येष्ठ भ्राता प० राजदेव शुक्ल वैद्य, आयुर्वेदाचार्य और उनके कनिष्ठ पुत्र डा० श्यामजी शुक्ल (बी० ए० एम० एस, एम० डी० एवाई, पी-एच डी० का० हि० वि० वि०) के प्रति आभार व्यक्त करना भी मैं

अपना नैतिक धर्म मानता हूँ, जिनके सतत अनुरोध से इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न हो सका ।

मैंने इस ग्रन्थ के लेखन में यत्र क्वापि अनेक विषयों के लेखन में आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थों से सहायता ली है तथा ज्ञानान्विहोत्र के व्रती जिन अन्य ऋषिकल्प विद्वज्जनों की कृतियों से किसी भी प्रकार की सहायता ली है, उन सभी के प्रति सादर आभार प्रकट करना अपना मधुर कर्तव्य समझता हूँ ।

अन्त में मैं चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी परिवार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने पुन पुन स्मरण और प्रेरणा प्रदान कर इस ग्रन्थ को पूरा कराया तथा इसका सुन्दर एव सुरचिपूर्ण प्रकाशन-कार्य सम्पन्न किया । भगवान् विश्वनाथ उनकी सारस्वत-सेवा की प्रवृत्ति को अधिकाधिक समन्वय करे, यही प्रार्थना है ।

ये तु शास्त्रविदो दक्षा शुचय कर्मकोविदा ।

जिरहस्ता जिरात्मानस्तेभ्यो नित्य कृत सम ॥

दशहरा

१८ अक्टूबर, १९९१
आणुरोष औषधालय,
जलकल रोड, देवरिया

विद्वज्जनानुचर
विद्याधर शुक्ल

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

वातव्याधि

१-३२

परिचय १, निरुक्ति १, सन्दर्भ-ग्रन्थ १, सामान्य निदान २, सम्प्राप्ति २, दोषदूष्य-अधिष्ठान ३, प्राणवायु ३, उदानवायु ३, व्यानवायु ४, ममानवायु ४, अपानवायु ४, पूर्वरूप ४, रूप या लक्षण ४, वातव्याधियो के सामान्य लक्षण ४, वात के वाइस आवरण ४, सुश्रुतोक्त दश आवरणों के लक्षण ५, वातव्याधियो के आविष्कृततम प्रकार ६, वातव्याधि-चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त और चिकित्सासूत्र ६, मामान्य चिकित्सा ६; विशिष्ट वातलक्षण और चिकित्सा—कोष्ठगत वात १०, सर्वाङ्गगत वात १०, गुदगत वात १०, आमाशयगत वात १०, पक्वाशयगत वात १०, त्वग्गत वात १०, रक्तगत वात १०, मासमेदोगत वात ११, अस्थिमज्जागत वात ११, शुक्रगत वात ११, सिरा-स्नायु-सन्धिगत वात ११, हनुग्रह ११, मन्यास्तम्भ १२, जिह्वास्तम्भ १२, विश्वाची १२, क्रोष्टुशीर्ष १२, खञ्ज-कलाय-खञ्ज-पगुवात १३, वातकण्टक १३, पाददाह १३, पादहर्ष १३, असशोष १३, अवबाहुक १३, मूक-मिन्मिन-नादगद १४, तूनी-प्रति-तूनी १४, आघान-प्रत्याघान १४, अछोला-प्रत्याछोला १५, वस्ति-गत प्रतिलोम वात १५, कम्पवात १६, ऊर्ध्ववात १६, आक्षेपक-अपतन्त्रक-अपतानक-दण्डापतानक-धनु स्तम्भ-अभ्यन्तरायाम-बाह्यायाम-अभिघातज आक्षेपक १६-१७, व्यवस्थापत्र १८, पक्षवध २०, पक्षवध में पित्त-कफानुबन्ध २१, पक्षवध-प्रकार २१, पक्षवध की सम्प्राप्ति २१, लक्षण २१, चिकित्सा २१, व्यवस्थापत्र २१, अर्दित-परिचय २३, निदान २३, सम्प्राप्ति २३, लक्षण २३, असाध्य लक्षण २३, चिकित्सासूत्र २३, व्यवस्थापत्र २३, गुद्रसी—निदान २५, सम्प्राप्ति २५, लक्षण २५, चिकित्सासूत्र २६, चिकित्सा २६, व्यवस्थापत्र २६, आवृत वातचिकित्सा—आवृत वातचिकित्सा के सिद्धान्त २७, पित्तावृत वातचिकित्सा २७, कफावृत २७, पित्त-कफावृत २७, रक्तावृत २८, आमावृत २८, मामावृत २८, अस्थिमज्जावृत २८, शुक्रावृत २८, अन्नावृत २८, मूत्रावृत २८, मलावृत २८, ऊरस्तम्भ—परिचय २८, सन्दर्भ ग्रन्थ २८, निदान २९, सम्प्राप्ति २९, सम्प्राप्तिचक्र २९, दोष-दूष्य-अधिष्ठान २९, पूर्वरूप २९, लक्षण ३०, साध्यासाध्यता ३०, चिकित्सासूत्र ३०, चिकित्सा ३०, व्यवस्थापत्र ३२, पथ्यायथ्य ३२।

द्वितीय अध्याय स्थौल्य, काश्य एवं कुपोषणजन्य विकार ३३-५१

स्थौल्य—परिचय ३३, निदान ३३, सम्प्राप्ति ३३, सम्प्राप्तिचक्र ३४, दोष-दूष्य-अधिष्ठान ३४, लक्षण ३५, असाध्यता ३५, विशेष वक्तव्य ३५, चिकित्सासूत्र ३७, चिकित्सा ३८, व्यवस्थापन ३८, पथ्यायथ्य ३८ :

काश्य—निदान ३९, लक्षण ४०, उपद्रव और असाध्यता ४०, चिकित्सासूत्र ४०, चिकित्सा ४०, व्यवस्थापन ४१, पथ्यायथ्य ४२ । कुपोषणजन्य विकार और उनके कारण ४२, कतिपय कुपोषणजन्य रोग—रिकेट्स—निदान ४५, लक्षण ४५, चिकित्सा ४६, आँस्टियो-मैलेसिया—निदान ४७, लक्षण ४७, चिकित्सा ४७, स्कर्वी—निदान ४७, लक्षण ४७, चिकित्सा ४७, बेरीबेरी—निदान ४८, लक्षण ४८, आद्र बेरीबेरी ४९, शुष्क बेरीबेरी ४९, चिकित्सा ४९, पेलाग्रा—निदान ४९, लक्षण ५०, चिकित्सा ५०, कुपोषण की रोकथाम—प्रति व्यक्ति अन्न की खपत में वृद्धि ५१, सन्तरति-नियमन ५१, पोषण-सम्बन्धी प्रशिक्षण और आहार-समृद्धि ५१, स्वयसेवी दलों द्वारा स्वास्थ्य एवं चिकित्सा कार्य ५१, चिकित्सक का उत्तरदायित्व ५१ ।

तृतीय अध्याय प्रमुख अन्त स्रावी ग्रन्थियों के रोग ५२-६५

प्रावेशिक ५२, अन्तर्ग्रन्थि-सस्थान-परिचय ५२, अन्त स्रावी ग्रन्थियों के कार्य ५२, अन्तर्ग्रन्थि-सस्थान और नाडीसस्थान का साम-ञ्जस्य ५२, चुल्लिका ग्रन्थि—परिचय ५३, चुल्लिकाग्रन्थि के कर्म ५३, चुल्लिकाग्रन्थि के स्राव का हीनयोग ५४, चुल्लिकाग्रन्थि के स्राव का अतियोग ५५, वहिनेत्रगलगण्ड ५५, उपचुल्लिकाग्रन्थि—परिचय ५५, उपचुल्लिका के कर्म ५५, उपचुल्लिका ग्रन्थि के स्राव का हीनयोग ५६, टिटैनी के लक्षण ५६, चिकित्सा ५६, उपचुल्लिका के स्राव का अतियोग ५७, उपवृक्क—परिचय ५७, कर्म ५७, उपवृक्क के अन्त स्राव का हीनयोग ५७, उपवृक्क के अन्त स्राव का अतियोग ५७, याइमस—परिचय ५८, कर्म ५८, विकृति ५८, पोषणिकाग्रन्थि—परिचय ५८, अग्रिम खण्ड के अन्त स्राव और उनके कार्य ५९, पश्चिम खण्ड के अन्त स्राव और उनके कार्य ५९, पोषणिका के अन्त स्राव का हीनयोग ५९, पोषणिका के अन्त स्राव का अतियोग ६०, अग्न्याशय या क्लोम—परिचय ६१, कर्म ६१, विकृति ६२, उपचार ६२, बीज-ग्रन्थियाँ (वृपण और अन्त फल)—वृपण ग्रन्थियाँ ६२, अन्त शुक्र का कार्य ६३, अन्त-शुक्र और एण्डोजन की मूच्चीवन्ति के परिणाम ६३, अन्त फल

और अपरा ६४, अन्त फल के अन्त सावो का कार्य ६४, बीजपुट और बीजपुट किण के अन्त साव ६५, अपरा ६५ ।

चतुर्थ अध्याय आनुवाशिक व्याधियाँ एव पर्यावरण ६६-६९

आनुवाशिक व्याधियाँ—परिचय ६६, जन्मबलप्रवृत्त रोग ६८, आनुवाशिक रोगों का प्रतिषेध ७०, आनुवाशिक रोगों में परामर्श ७० । पर्यावरणीय सिद्धान्त, दोष, परामर्श और प्रतीकार—सामाजिक पर्यावरण ७१, उपचार ७५, पर्यावरण के क्षेत्र—(१) भूमि या देश—देश में पर्यावरण-प्रदूषण के लक्षण ७५, निवास के अयोग्य भूमिदेश ७५, निवासस्थान योग्य भूमि ७६, जलवायु के प्रति सहिष्णुता ७६, भूमिदेश के प्रभाव से होनेवाले रोग ७६, उपचार ७७, (२) काल—काल-प्रदूषण के लक्षण ७७, काल-प्रदूषण से जीवाणु-सक्रमण ७८, मनुष्य-शरीर में कीटकों के प्रवेशमार्ग ७८, उपचार ७८, वातावरण प्रभावजन्य प्रतिश्याय ७९, निदान ७९, प्रतिश्याय के लक्षण ७९, निवारक उपचार ७९, स्थानीय चिकित्सा ८०, आश्यन्तर चिकित्सा ८०, व्यवस्थापन ८०, पथ्यापथ्य ८१, (३) जल—शरीर में जल के प्रमुख कार्य ८१, जल की अशुद्धियाँ ८१, अशुद्ध जलजन्य रोग ८२, जल का शोधन ८२, (४) वायु—उपादेयता ८३, पर्यावरण-प्रदूषक वायु के लक्षण और अशुद्धियाँ ८३, अशुद्ध वायु से होनेवाले रोग ८४, निवासस्थान में वायु के आवागमन की व्यवस्था ८४, वायु की शुद्धि ८५, शव-विनाशन से पर्यावरण-प्रदूषण का बचाव ८५, औद्योगिक स्थानगत पर्यावरण ८६, व्यावसायिक पर्यावरण ८७, युद्धजनित पर्यावरण-प्रदूषण और व्याधियाँ ८८, ध्वनि में पर्यावरण प्रदूषण ९०, पर्यावरण-परिवर्तनजन्य व्याधियाँ—लू लगना ९१, सौर गजचर्म ९२, आतपजन्य श्रम ९२, क्रान्तिमण्डलीय स्वेदावरोधक अतिदीर्घत्य ९३, अशुद्धात ९३, शीतताजनित विकार ९५, आकस्मिक शीत लगना ९५, यात्राजन्य विकार—पर्वतीय यात्रा विकार ९६, जीर्णपर्वतारोहण विकार ९६ ।

**पञ्चम अध्याय खाद्यान्न विषाक्तता एव भारी धातुजन्य ९७-११५
विषाक्तता**

खाद्यान्न विषाक्तता ९७, विषाक्त अन्न के वाष्पजनित विकार और उपचार ९७, विषाक्त अन्नस्पर्श ९८, विषाक्त अन्न भोजन ९८, आमाशयगत विषाक्त अन्न के लक्षण और चिकित्सा ९८, पक्वाशयगत विषाक्त अन्न के लक्षण व चिकित्सा ९८, सविष द्रवद्रव्य के लक्षण ९९, सविष शाक, दाल तथा मास के लक्षण ९९, खाद्यान्न विषा-

क्तता के सामान्य कारण, लक्षण तथा उपचार ९९, प्रतिषेध १००, अशोषित विष को बाहर निकालना १००, शोषित विष को बाहर निकालना १०१, प्रतिविष का प्रयोग १०२, लक्षणिक चिकित्सा १०३। भारी धातुजन्य विषाक्तता १०३, सखिया या फेनाश्म १०३, सखिया के योगिक १०४, सखियाजन्य विषाक्तता के लक्षण १०४, चिकित्सा १०५, जीर्ण शङ्खविष के लक्षण १०६, चिकित्सा १०६, नीलाञ्जन १०६, चिकित्सा १०७, पारद १०७, पारद विषाक्तता के लक्षण १०७, चिकित्सा १०८, पारद का जीर्ण विष १०८, लक्षण १०८, चिकित्सा १०९, नाग १०९, नाग के लवण १०९, नाग-विषाक्तता के लक्षण ११०, चिकित्सा ११०, नाग का जीर्ण विष ११०, लक्षण ११०, चिकित्सा १११, यशद १११, यशद के योगिक १११, लक्षण ११२, चिकित्सा ११२, ताम्र ११२, ताम्र के योगिक ११२, लक्षण ११२, ताम्र के जीर्ण विष के लक्षण ११३, चिकित्सा ११३, विष प्रयोग के मार्ग ११४, विषाक्तता के प्रभावकारी तत्त्व ११४, विषाक्तता का निदान ११४, प्रत्यक्ष परीक्षा ११४, विषाक्तता की सामान्य चिकित्सा ११५।

षष्ठ अध्याय दशजनित विकार और उनका प्रतिकार ११६-१३६

कालाजार ११६, अतिनिद्रा रोग ११६, पीतज्वर ११६, झलीपद ११६ ग्रन्थिक ज्वर ११६, अल्के विष ११७, सर्पदशजनित विकार और उपचार ११७, सर्प क्यों काटते हैं? ११७, सर्प की जारियाँ ११७, सर्पों का वर्गीकरण ११८, दर्वांकिर सर्पदश के लक्षण ११९, मण्डली सर्पदश के लक्षण ११९, राजिमान सर्पदश के लक्षण ११९, कोलुब्राइन सर्पदश लक्षण १२०, वाइपेराइन सर्पदश लक्षण १२०, सर्पदश के बेगानुमार लक्षण १२०, सर्पदश की असाध्यता १२१, प्रतिषेधात्मक चिकित्सा १२१, सर्पदश-विषाक्तता के चिकित्सासूत्र १२१, सर्पदश निवारण के उपाय १२२, तात्कालिक सर्प-विषध्न चिकित्सा १२२, आधुनिक प्रणाली का उपचार १२२, वृश्चिकदश और उमका उपचार १२३, उत्पत्ति भेद से तीन प्रकार १२४, वृश्चिक विद्ध के लक्षण १२४, असाध्य लक्षण १२५, चिकित्सा १२५, अल्के-विष १२६, निदान १२६, सम्प्राप्ति १२६, पागल कुत्ते के लक्षण १२७, अधुनातन दृष्टिकोण १२७, अल्के विष-लक्षण १२७, जलसत्रास १२७, अरिष्ट लक्षण १२७, स्थानिक चिकित्सा १२८, आभ्यन्तर चिकित्सा १२८, प्रतिषेध १२८, विपजन्तु दश और उपचार १२९, लक्षण १२९, स्थानीय चिकित्सा १२९, आवस्थिक चिकित्सा १२९, कीटदश और उपचार १३०, दूषीविष

कीटदश के लक्षण १३०, प्राणहर कीटदश के लक्षण १३०, कीट विष दश चिकित्सा १३०, लूतादश और उपचार १३०, लूताओं के विष का प्रसार १३१, लूताविष के ७ दिनों में भावी लक्षण १३१, दूषीविष लूता का दश लक्षण १३१, प्राणहर लूतादश लक्षण १३१, लूताविष में चिकित्सासूत्र १३१, चिकित्सा १३२, लाक्षणिक चिकित्सा १३२, मूषकदश और उपचार १३२, दूषीविष मूषक दश और उपचार १३२, प्राणहर मूषकदश १३२, साध्यासाध्यता १३३, चिकित्सा १३३, आभ्यन्तर प्रयोग १३३, विषयुक्त मस्तिका, बर्ने एवं पिपीलिका-दश और उपचार १३४, चिकित्सा १३४, गृहगोधिका दश एवं उपचार १३४, चिकित्सा १३५, शतपदी दश एवं उपचार १३५, लक्षण १३५, चिकित्सा १३५, शङ्खाविष के लक्षण १३५, चिकित्सा १३६, पथ्यापथ्य १३६ ।

सप्तम अध्याय व्याधिक्षमित्व, प्रतिजन तथा प्रतियोगी, १३७-१५३ लसीका रोग एवं अनूर्जता

व्याधिक्षमित्व १३७, व्याधिक्षमित्व के दो भेद—रोगज क्षमता १३८, कृत्रिम व्याधिक्षमता १३९, व्याधिक्षम शरीर १३९, अव्याधिक्षम शरीर १४०, रोगक्षमता-सारणी १४०, सहज क्षमता १४०, जातिगत रोगक्षमता १४१, वशगत रोगक्षमता १४१, व्यक्तिगत रोगक्षमता १४१, सहज क्षमता के ह्रास के कारण १४१, जन्मोत्तर क्षमता १४१, सक्रिय और निष्क्रिय क्षमता में भेद १४३ ।

प्रतिजन तथा प्रतियोगी १४४ व्यापक क्षमता-उत्पादक द्रव्य १४४, रोगक्षमता ह्रासजन्य रोग १४४, रक्तरस चिकित्सा (सीरम थिरेपी) १४६, लसीका माध्य रोग १४६ ।

लसीकारोग (Serum Sickness) १४७, लक्षण १४८, चिकित्सा १४८, औषध-प्रयोग १४८ ।

अनूर्जता (Allergy)—परिचय १४८, अनूर्जता की वृद्धि १४९ जान्त्रव वस्त्र १४९, कुलज प्रवृत्ति १४९, वातावरण १४९, आहार १५०, औषध अनूर्जता १५०, अनूर्जताजनित रोग १५०, चिकित्सा १५०, चिकित्सक-प्रेरित चिकारो के प्रकार, उनका सामान्य परिचय और प्रतिकार १५० ।

अष्टम अध्याय	कुद्ररोग	१५४-१६६
---------------------	-----------------	----------------

कुद्ररोग : लक्षण एवं चिकित्सा—१ अजगल्लिका १५५, २ यव-प्रस्त्रा १५५, ३. अन्धालंजी १५६, ४ विवृता १५६, ५ कच्छपी

१५६, ६ वल्मीक १५६, ७ इन्द्रवृद्धा १५६, ८ पनसिका १५७,
९ पाषाणगर्दभ १५७, १०. जालगर्दभ १५७, ११ कक्षा १५७,
१२ विस्फोटक १५७, १३. अग्निरोहिणी १५७, १४ चिप्प १५८,
१५. कुनख १५८ १६ अनुशयी १५८, १७ विदारिका १५८,
१८ शर्कराबुद्द १५९, १९ पामा १५९, २० विचर्चिका १५९, २१
रक्सा १५९, २२. पाददारी १५९, २३ कदर १६०, २४ अलस
१६०, २५ इन्द्रलुप्त १६०, २६ दारुणक १६१, २७ अरुषिका
१६१, २८ पलित १६१, २९ मसूरिका १६२, ३० यौवनपिडका
१६२ ३१ पश्चिमीकण्टक १६२, ३२ मषक १६२, ३३ जतुमणि
१६३, ३४. तिलकालक १६३, ३५ न्यच्छ १६३, ३६ चर्मकील
१६३, ३७ नीलिका १६३, ३८ परिखितिका १६३, ३९ अवपाटिका
१६४, ४० निरुद्धप्रकष १६४, ४१ सज्जिरुद्धगुद १६५, ४२
अहिपूतन १६५, ४३ वृषणकच्छ १६६, ४४ गुदभ्रश १६६ ।

नवम अध्यायं **मनोविज्ञान** **१६७-१८७**

मन का निरूपण १६७, मन का स्वरूप १६७, मन का लक्षण १६७,
मन की निरुक्ति १६८, मन के भेद १६८, आन्तर और बाह्य भेद से
मन का विश्लेषण १६८, मनोविज्ञान-विवेक १६९, मन के दो गुण
१७२, मन के विषय १७२, काम-क्रोधादि मनोवृत्तियाँ १७३, मन
के कार्य या कर्म १७३, मन के दोष १७६, मन का इन्द्रियत्व और
भौतिकत्व १७६, मन का कर्तृत्व १७६, सत्त्वसार का लक्षण १७७,
सात्त्विक मन १७७, राजस मन १७७, तामस मन १७७, मन का
अधिष्ठान १७८, मनोवह स्रोत १७९, मन का पोषण १८७ ।

दशम अध्याय **मनोविज्ञान की उपादेयता** **१८८-२०९**

मनोविज्ञान की उपादेयता १८८, मानसरोगों के सामान्य कारण
१९१, असात्मेन्द्रियार्थसयोग १९२, प्रज्ञापराध १९३, परिणाम
१९४, मानसिक रोगी का इतिवृत्त लेखन २०३, मानसरोग-परीक्षा
२०५, मानसरोग के सामान्य लक्षण २०७ ।

एकादश अध्याय **मानसरोगों के सामान्य चिकित्सासूत्र** **२१०-२१५**

सामान्य चिकित्सासूत्र—सुझाव २१०, सम्मोहन २१०, प्रोत्साहन
२१०, सामुदायिक मनश्चिकित्सा २१०, पर्यावरण-परिवर्तन और
विश्राम २११, मानसिक रेचन २११, मनोविश्लेषण २११, आघात-
चिकित्सा २११, मानसशल्यचिकित्सा २१२, रोगलक्षण व्याख्या २१२,
उपदेश २१२, आहार मान्त्रवना और आश्वासन २१२, आयुर्वेदीय
दृष्टिकोण चिकित्सा के ३ प्रकार—दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा २१२,

युक्तिभ्यपाद्य चिकित्सा २१३, मत्त्वाधजग चिकित्सा २१४, उपाय-
भिष्मुता चिकित्सा २१५, गान्धिनी चिकित्सा एव तान्धिनी
चिकित्सा २१५, ग्रहवाधा चिकित्सा २१५, औषध चिकित्सा २१५।

द्वादश अध्याय उन्माद-अपरस्मार-अतत्त्वाभिनिवेश-मनो- २१६-२५१
विद्याप्ति-विषाद-अव्यवस्थितचित्तता-ध्रम-
विध्रम-संविध्रम-व्यामोह-मन-शान्ति-
मनोग्रन्थि, वृद्धावरयाजन्य विकार

उन्माद रोग—परिचय २१६, निर्वचन २१६, मन्दर्भ ग्रन्थ २१६,
सामान्य निदान २१६, सामान्य सम्प्राप्ति २१७, पूर्वस्प २१७,
नामान्य लक्षण २१८, उन्माद के प्राप्तार २१८, निदान-सम्प्राप्ति-
लक्षण—वातज उन्माद २१९, पित्तज २१९, कफज २२०, सप्त्रि-
पातज २२०, मानमदु घज २२०, विषज २२०।

भूतोन्माद—भूतोन्माद निदान २२१, भूतोन्माद मे देवादि प्रवेश
२२१, देव, यक्ष आदि द्वारा उन्मादोत्पत्ति का प्रयोजन २२१, हिंसा
के प्रयोजन से कृत उन्माद के लक्षण २२१, भूतोन्माद का पूर्वस्प
२२१, भूतोन्माद के सामान्य लक्षण २२१, देवोन्माद का लक्षण
२२२, शापोन्माद लक्षण २२२, पिश्चुन्माद लक्षण २२२, गन्धर्वोन्माद
लक्षण २२२, यक्षोन्माद लक्षण २२२, राक्षसोन्माद लक्षण २२२,
ब्रह्मराक्षसोन्माद लक्षण २२२, पिशाचोन्माद लक्षण २२३, असाध्य
उन्माद लक्षण २२३, चिकित्सासूत्र २२३, सामान्य औषध चिकित्सा
२२४, व्यवस्थापत्र २२६, उन्मादमुक्त लक्षण २२६, पथ्यापथ्य २२७।
अपस्मार—परिचय २२७, निर्वचन २२८, सन्दर्भ ग्रन्थ २२७,
निदान २२८, सम्प्राप्ति २२८, दोष-दूष्य-अधिष्ठान स्रोतस् २२९,
पूर्वस्प २२९, सामान्य लक्षण २२९, वेग आने का समय २३०, भेद
२३०, वातज अपस्मार लक्षण २३०, पित्तज अपस्मार लक्षण २३०,
कफज अपस्मार लक्षण २३०, सन्निपातज अपस्मार लक्षण २३०,
अप्याध्य अपस्मार लक्षण २३०, सापेक्ष निदान २३१, चिकित्सासूत्र
२३१, चिकित्सा २३२, सशमन प्रयोग २३२, सिद्धयोग-रस-रसायन
२३३, व्यवस्थापत्र २३४, पथ्यापथ्य २३४।

अतत्त्वाभिनिवेश—परिचय २३४, निदान व सम्प्राप्ति २३५, लक्षण
२३५, चिकित्सासूत्र २३६, चिकित्सा २३६, व्यवस्थापत्र २३७।

मनोविक्षिप्ति—परिचय २३७, लक्षण-प्रकार एव उपचार २३८-३९।

विषाद—परिचय २३९, लक्षण २३९, प्रकार २४०, उपचार २४०।

अव्यवस्थितचित्तता—परिचय २४१, कारण २४१, लक्षण २४१,
प्रकार २४२, उपचार २४२।

(१६)

भ्रम—परिचय २४३, लक्षण आदि २४३ ।

विभ्रम—परिचय २४४, लक्षण २४४, सापेक्ष निदान २४५ ।

संविभ्रम—परिचय २४५, लक्षण २४५, चिकित्सा २४६ ।

व्यामोह या मिथ्याविश्वास-संघर्ष—परिचय २४६, लक्षण १४६, विभिन्न विषयों के अनुमार पाँच प्रकार २४६ ।

मनःसंघर्ष-मनोनाडीदौर्बल्य-मनःशान्ति—परिचय २४७, कारण २४७, लक्षण २४७, चिकित्सासूत्र २४८, चिकित्सा २४८, व्यवस्थापत्र २४८, पथ्यापथ्य २४९ ।

मनोग्रन्थि—परिचय २४९, कारण एव लक्षण २४९, चिकित्सा २५० । वृद्धावस्थाजनित मनोविकार—परिचय २५०, कारण २५१, लक्षण २५१, उपचार २५१ ।

त्रयोदश अध्याय आत्यथिकचिकित्सा, तरल-बैद्युदम्लक्षार २५२-२८४ के असन्तुलनजन्य विकार, दग्धदाह एवं तीव्र रक्तस्राव

आत्यथिक चिकित्सा—परिभाषा, स्वरूप और प्रकार २५२, आत्यथिक चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त और सावधानी २५३ ।

तरल, बैद्युत, अम्ल और क्षार के असन्तुलनजन्य विकार—जल के असन्तुलनजन्य विकार और उनका उपचार २५४, शरीर के कारण द्रव्य २५६, क्षारता और अम्लता २५६, लवण रस के गुण २५७, लवण रस के अतियोग से हानि २५०, क्षार के गुण २५७, क्षार के अतियोग से हानि २५७, अम्लरस के गुण २५७, अम्लरस के अतियोग से हानि २५७, अम्लता और क्षारता का परीक्षण २५८, रस-रक्त में क्षारीय किवा अम्लीय प्रतिक्रिया २५८, कीटोसिस का उपचार २५९, अम्लोत्पादक और क्षारोत्पादक खाद्य पदार्थ २५९, अधिक अम्लोत्पादक पदार्थ २६०, अधिक क्षारोत्पादक पदार्थ २६०, जल और इलेक्ट्रोलाइट के सन्तुलन में वाधा २६०, सोडियम का विघटन २६१, सोडियम-ह्लास के कारण २६१, सोडियम-ह्लास का परिणाम २६१, चिकित्सा २६१, प्रारम्भिक जल का विघटन २६२, प्रारम्भिक जल-ह्लास का कारण २६२, जलह्लास का परिणाम २६२, चिकित्सा २६३, पोटैशियम का विघटन २६३, पोटैशियम-ह्लास का कारण २६३, पोटैशियम-ह्लास का परिणाम २६४, चिकित्सा २६४, पोटैशियम की अधिकता और विषाक्तता २६४, पोटैशियम की अधिकता के परिणाम २६५, चिकित्सा २६५, मैग्नेशियम की कभी और विषमयता २६६, जलीय विषमयता २६६, सोडियम और जल का सञ्चय २६७ ।

दग्धदाह २६८, दग्ध के प्रकार २६९, अग्निकर्म के दबल २६९, इतरया या प्रमाद-दग्ध २६९, कारण २७०, दग्ध के प्रकार और, लक्षण २७०, उपद्रव २७१, साध्यानाष्टता २७१, दग्धस्थान के अनुनार शरीर का १०० भागों में चिकित्सन २७२, दग्ध चिकित्सा की हिदायत २७२, प्लुष्ट या हीन दग्ध चिकित्सा २७२, दुर्दग्ध चिकित्सा २७३, सम्प्रददग्ध चिकित्सा २७३, अतिदग्ध चिकित्सा २७३, दग्ध की तात्कालिक चिकित्सा २७४, हिमदग्ध कारण और चिकित्सा २७५, प्रतियेधात्मक चिकित्सा २७६, विषुत रथा रासायनिक पदार्थों में दाह की चिकित्सा २७६, उन्द्रदग्धाग्निदग्ध २७६, मुरक्खाक्वच २७७।

तीव्र रक्तस्राव २७७, रारण और प्रकार २७७, रक्तवाहिनी भेद से रक्तस्राव २७८, वाह्य स्राव और उपचार २७८, शिर आदि का रक्तस्राव २७९, गुदा का रक्तस्राव २७९, चिकित्सासूत्र २८०, आन्तरिक रक्तस्राव २८०, फुफ्फुस-आमाशय-अन्त्र और वस्त्र से रक्तस्राव २८०, रक्तप्लीवन २८१, रक्तवमन २८१, सापेक्ष निदान २८२, चिकित्सा सहायक उपचार २८२, औपधीय चिकित्सा २८३, वाह्य रक्तस्राव २८३, आभ्यन्तर प्रयोग २८३, मूत्रमार्गत रक्तपित्त एवं गुदमार्गत रक्तपित्त चिकित्सा २८४।

चतुर्दश अध्याय तीव्र उदरशूल, तीव्र श्वासकाठिन्य २८५-२९४ एवं वृक्कशूल

तीव्र उदरशूल—परिचय २८५, सामान्य निदान २८५, उदरशूल का सापेक्ष निदान २८५, वारप्रधान शूल २८६, चिकित्सा २८६, पित्तज शूल चिकित्सा २८७, अन्द्रवशूल एवं परिणामशूल की चिकित्सा २८७, बानाह और उदावर्त चिकित्सा २८७।

तीव्र श्वासकाठिन्य २८७, परिचय २८७, कारण २८७, श्वासकाठिन्य के प्रकार २८८, चिकित्सासूत्र २८८ चिकित्सा २८८।

वृक्कशूल—परिचय २९१, निदान-सम्प्राप्ति २९२, लक्षण २९३, चिकित्सासूत्र २९३, चिकित्सा २९४।

पञ्चदश अध्याय मूत्रावरोध, अन्त्रावरोध, हृच्छूल २९५-३१० तथा मूर्च्छा

मूत्रावरोध—परिचय २९५, कारण २९५ चिकित्सासूत्र २९६, चिकित्सा २९७।

अन्त्रावरोध/बद्धगुदोदर—परिचय २९८, निदान एवं सम्प्राप्ति २९८, लक्षण २९८, चिकित्सासूत्र २९९, व्यवस्थापन एवं पथ्यापथ्य ३००।

हृच्छूल—परिचय ३००, निदान ३०२, सम्प्राप्ति ३०२, लक्षण ३०३, चिकित्सासूत्र ३०३, चिकित्सा ३०४, व्यवस्थापन व पथ्यापथ्य ३०५ ।
मूच्छा—परिचय ३०५, निदान ३०६, सम्प्राप्ति ३०६, प्रकार ३०७, सापेक्ष निदान ३०७, चिकित्सासूत्र ३०८, चिकित्सा ३०८, व्यवस्थापन ३०९, पथ्यापथ्य ३१० ।

**षोडश अध्याय मधुमेहजन्य उपद्रव, उदर्याकिलाशोथ, ३११-३२६
अन्त्रशोथ, तीव्रज्वर तथा औषध-
प्रतिक्रिया एव विषाक्तता**

मधुमेहजन्य उपद्रव—मधुमयताधिक्य ३११, अग्न्याशय ३१२, चिकित्सासूत्र ३१२, चिकित्सा ३१२, व्यवस्थापन ३१२, पथ्यापथ्य ३१२, उपमधुमयता ३१३, लक्षण ३१४, चिकित्सा ३१४ ।

उदर्याकिलाशोथ—परिचय ३१५, उदर्याकिलाशोथ ३१५, निदान ३१५, प्रकार ३१६, लक्षण ३१५, सापेक्ष निदान एव चिकित्सा ३१७ ।
अन्त्रशोथ—परिचय ३१७, क्षुद्रान्त्रशोथ के कारण ३१८, लक्षण ३१८, वृहदन्त्रशोथ ३१८, कारण ३१८, व्रणयुक्त वृहदन्त्रशोथ ३१९, लक्षण ३१९, चिकित्सा ३१९ ।

तीव्र ज्वर—परिचय ३२०, लक्षण ३२०, चिकित्सा ३२० ।

औषध-प्रतिक्रिया और विषाक्तता—परिचय ३२२, घातक परिणाम ३२२, सल्फावर्ग की औषधों के विपैले लक्षण ३२३, साधारण पेनिसिलीन तथा प्रोकेन पेनिसिलीन की प्रतिक्रियाएँ और उपचार ३२३, तत्काल उत्पन्न विषाक्तता में उपचार ३२४, औषधों का घातक मिश्रण ३२४, विशेष चेतावनी ३२५, विषाक्तता-प्रतिषेध के उपाय ३२६, विषाक्तता में चिकित्सक का कर्तव्य ३२६ ।

परिशिष्ट ३२७-३३६

इमर्जेन्सी बैंग में रखने योग्य औषधे ३२७, कुछ इमर्जेन्सी टेबलेट्स ३२८, अन्य आवश्यक उपकरण ३२८, व्यवस्थापन के साकेतिक शब्द ३२९, औषध देने का समय ३२९, औषध-सेवन के पाँच काल ३३०, दोषप्रत्यनीक चिकित्सा की श्रेष्ठता ३३१, चिकित्सा की सफलता के आधारसूत्र ३३२, रोगी विषयक अपेक्षा ३३२, रोग विषयक अपेक्षा ३३३, औषध विषयक जानकारी की अपेक्षा ३३४, आहार-विहार के कुछ नियम ३३६ ।

**भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित
आयुर्वेदाचार्य (बी० ए० एम० एस०) का पाठ्यक्रम
कायचिकित्सा : तृतीय प्रश्नपत्र
(भाग-क : ५० अंक)**

१. वातव्याधि का निदान, लक्षण, सम्प्राप्ति सम्बन्धी वर्णन एवं उसके प्रतिकार का सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त तथा प्रमुख वातव्याधियों की विशिष्ट चिकित्सा का वर्णन ।
(पृष्ठ १-३२)

२. कुपोषणजन्य विकार, यथा—स्थील्य एवं काश्य आदि का कारण, लक्षण, सम्प्राप्ति एवं चिकित्सा का वर्णन । (पृष्ठ ३३-४१)

३. विभिन्न अन्तःस्वादी-ग्रन्थियों (Indoctrine, pituitary, thyroid and parathyroid glands etc.) की व्याधियाँ, उनका निदान, सम्प्राप्ति और चिकित्सा का वर्णन । (पृष्ठ ५२-६५)

४. रोगोत्पत्ति में आनुवंशिकी (Hereditary), पर्यावरणीय (Environmental), व्याधिक्षमत्व (Immunity), चिकित्सक प्रेरक, आनुवंशिकी कारक, सामान्य परिचय, उनका मूल सिद्धान्त, दोष प्रकार, परार्मश तथा प्रतिकार का शान ।
(पृष्ठ ६६-९६)

खाद्य पदार्थों को विपाक्ता (Food poisoning) का प्रकार एवं प्रतिकार क्रम । भारी धातु (Heavy metal) जन्य विपाक्ता (व्याधि) का प्रकार, स्वरूप और प्रतिकार । उष्णता एवं शीतला जन्य विकार और उसके प्रतिकार । यात्राजन्य विकार, उनका प्रतिकार, वातावरण का प्रभाव, वातावरण की परिवर्तन जनित व्याधि एवं उसके प्रतिकार तथा प्रतिशयाय । (पृष्ठ ९७-११५)

किसी भी प्राणियों के द्वारा काटे जाने से उत्पन्न विकार और उनका प्रतिकार । (पृष्ठ ११६-१३६), व्याधिक्षमत्व (Immunity), विकृतिजन्य (Pathological) व्याधियाँ, उनका सामान्य परिचय और प्रतिकार (चिकित्सा) । यथा—प्राथमिक व्याधिक्षमता एवं व्याधिक्षमत्वहीनता, द्वितीय व्याधिहीनत्वक्षमता, सीरमजनित विकार, औपध अनूर्जता, चिकित्सक प्रेरित रोग और उनका सामान्य परिचय, प्रकार और प्रतिकार । (पृष्ठ १३७-१५१)

५. शुद्ध रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा । (पृष्ठ १५४-१६६)

(भाग-ख ५० अंक)

१. मानस रोग—मन पद की निखति, मन का स्थान, मन के गुण और कर्म । मानस रोगों के सामान्य कारण । मन के भावों—लोभ, मोह, क्रोध, हठ, विलाप, प्रीति,

शातव्य—विषय के आगे कोष्ठक में उल्लिखित अंक पुस्तक की पृष्ठ सख्या के सन्दर्भ में ।

भय, धैर्य, श्रद्धा, चेष्टा, स्मृति, ईर्ष्या, द्वेष, हृष्ट एवं शोक आदि के मानस रोगोत्पादन करने में महत्त्व। मानस रोगों के उत्पन्न होने में सामाजिक आचार, यथा—प्रान्ति, शील, शौच आदि का महत्त्व। मानस रोगों का निदान, लक्षण, भेद, सम्प्राप्तिवर्णन और चिकित्साक्रम। (पृष्ठ २१०-२१५); यथा—उन्माद, अपस्मार, अतत्त्वाभिनिवेश, अव्यवस्थितचित्तता, अपतन्त्रक, मनोविक्षिप्ति, अवसाद, भ्रम, विभ्रम, विश्वाससंघर्ष, मनोसंघर्ष एवं मनोग्रन्थि। मनोपस्थितजनित मानसिक विकार, उनकी दैवव्यपाश्रय तथा सत्त्वावजय चिकित्सा। (पृष्ठ २१६-२५१)

२. वार्धक्य—दृढ़ावस्थाजन्य विशिष्ट व्याधियों के कारण, लक्षण और चिकित्सा।

(पृष्ठ ३५०)

३. आत्यधिक चिकित्सा—आत्यधिक चिकित्सा की परिभाषा, स्वरूप एवं प्रकार और आत्यधिक चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त का शान। (पृष्ठ २५२)

अधोलिखित कायचिकित्सा में आत्यधिक अवस्था का प्रबन्ध (व्यवस्था)। यथा— जल एवं वैद्युत (Electrolight Substance) की हीनता (पृष्ठ २५४-२६७), जलना (पृष्ठ २६८-२७७), तीव्र रक्तस्राव (पृष्ठ २७७-२८४), तीव्र उदरशूल (पृष्ठ २८५-२८७), तीव्र वृक्कशूल (पृष्ठ २९१-२९४), तीव्र शासजन्य कट (पृष्ठ २८७-२८८), मूत्रावरोध (२९५-२९७), अन्त्रावरोध (पृष्ठ २९८-३००), दृच्छूल (पृष्ठ ३००-३०५), मूर्च्छा (पृष्ठ ३०५-३१०), मधुमेहजन्य (Hypoglasia-Hyperglasia) उपद्रव (पृष्ठ ३११-३१४), उदर्याकलाशोध (पृष्ठ ३१५-३१७), आन्त्रशोध (३१७-३१९), तीव्र ज्वर (पृष्ठ ३२०), औषध-प्रतिक्रिया (Medicinal reaction) और विषाक्तता। (पृष्ठ ३२२-३२६)

॥ श्री ॥

काय-चिकित्सा

प्रथम अध्याय

वातव्याधि

परिचय

जो रोग केवल वातदोष के विकृत होने से होते हैं, उन्हे वातव्याधि कहते हैं, जैसे चरक (च० सू० २०) ने अस्सी प्रकार के वातज विकार कहा है। वातव्याधियों के स्थान अग-विशेष या सर्वाङ्ग या कोष्ठ या दूष्य धातु हो सकते हैं। वायु आशु-कारी, चलनशील, अतिवलवान् तथा शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं का प्रेरक होता है और पित्त एवं कफ भी उसी के द्वारा सचालित होते हैं। अतः सर्वगुणी दोष होने के कारण स्वतन्त्र अध्यायों के रूप में वातव्याधि का वर्णन आचार्यों ने किया है।

इन वातरोगों में कहीं वात के कर्म की वृद्धि देखी जाती है और कहीं कर्मक्षय देखने में आता है, अतः वातव्याधि में वात की वृद्धि तथा हास एवं विचित्र चित्र देखने में आते हैं।

निरुक्ति

मधुकोषकार ने वातव्याधि शब्द की तीन प्रकार से निरुक्ति कर निम्नलिखित रूप में शङ्खा-समाधान प्रस्तुत किया है—

(१) 'वात एव व्याधि, इति वातव्याधि' 'वात ही व्याधि है' इस निरुक्ति के करने से नीरोग और स्वस्थ व्यक्तियों में वात की उपस्थिति होने से उनमें भी वातव्याधि की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी? अतः यह निरुक्ति मान्य नहीं है।
(२) 'वातेन जनितो व्याधि, वातव्याधि.' 'वात से उत्पन्न व्याधि ही वातव्याधि है' इस निरुक्ति से ज्वर, अतिसार आदि रोगों में भी वातव्याधि की अतिव्याप्ति (अलक्ष्य में लक्षण का घट जाना) हो जायेगी, क्योंकि वे रोग वात से भी उत्पन्न होते हैं। अतः (३) 'विकृतवातजनितोज्ञाधारणो व्याधिर्विव्याधि'। 'विकृत वात से उत्पन्न असाधारण व्याधि ही वातव्याधि है' यह तृतीय निरुक्ति निर्दुष्ट है। विकृत शब्द के प्रयोग से स्वस्थ व्यक्तियों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार असाधारण शब्द के प्रयोग से ज्वर आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वे केवल पाज ते ही नहीं, अपिनु वात के समान पित्त और कफ से भी उत्पन्न होते हैं।

सन्दर्भ-प्रन्थ—

१. अस्त्रात्तिहिता द्व० भ० १३, भ० २०; विकिर्णेता अ० ६७ हदा अ० ५६।

२ सुश्रुतसहित निदान ० अ० १, चिकित्सा० अ० ४ तथा ५ ।

३ अष्टाङ्गहृदय निदान० अ० १५, अ० १६, चिकित्सा० अ० २१ तथा २२ ।

सामान्य निदान॑

वातव्याधि के निदान अनेक श्रेणियों में बँटे हुए हैं, सक्षेपतः निम्नलिखित हैं—

(१) वातवर्धक आहार सम्बन्धी—१ रुक्ष २ शीत ३ अल्प ४ लघु ५ प्रमित
६ विरुद्ध ७ असात्म्य द कटु ९ तिक्त १० कषाय ११ दारुण १२ खर १३ विशद तथा १४ विपम आदि आहार तथा १५ उपवास एवं १६ आहार-विधि के विपरीत आहार ।

(२) वातवर्धक विहार सम्बन्धी—१. अतिमैथुन २ अतिजागरण ३ अतिव्यायाम ४ व्रेगविधारण ५ चिन्ता ६ शोक ७ काम द भय ९ प्लवन (तैरना) १० कष्टकर शय्या ११ हाथी-ऊँट-घोड़े की सवारी १२ अति अध्ययन १३ प्रधावन १४ प्रपीडन १५ उच्च भाषण १६ भार-वहन १७ बलवद्विग्रह १८ असात्म्य विहार आदि ।

(३) रोगातिकर्षण—किन्हीं दीर्घकालीन रोगों के होने से शरीर का कृश होना ।

(४) धातुक्षय—रस-रक्तादि धातुओं का ह्रास होना ।

(५) मार्गविरोध—वायु के मार्ग का अवरोध होना ।

(६) धातु या किसी दोष का आवरण ।

(७) आमरसोत्पत्ति ।

(८) स्वयं दोष का क्षय ।

(९) पञ्चकर्म का व्यतिक्रम—देश-काल आदि के अनुसार प्रयोग ।

(१०) अन्य हेतु—१ रक्तनिर्हरण २ अभिधात ३ मर्मस्थान की बाधा ।

४ प्रपीडन ५ विषमोपचार ६ पुरीपक्षय, ७ अभोजन द ग्रीष्मऋतु आदि ।

सम्प्राप्ति

स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुआ वायु शरीर में रिकृत स्रोतों को परिपूर्ण करके अनेक प्रकार के सर्वाङ्गव्यापी या एकाङ्गत रोगों को उत्पन्न करता है ।

वातप्रकोपक निदान—वातप्रकोप

वातवहनाडी क्रिया-व्यतिक्रम—अनेकविधि वातरोगों

की
उत्पन्नि

वातकर्मवृद्धि

आक्षेपक
आदि रोग

वातकर्मक्षय

पक्षवध
आदि रोग

वातव्याधि

दोष-दूष-अधिष्ठान—

१. दोष—वात ।

२. दूष—सर्वधातुएँ—रक्त, मास, मेद प्रमुख दूष्य तथा वातवहस्तोत ।

३ अधिष्ठान—कण्डरा, अग-प्रत्यग-सर्वाङ्ग, आवरण जन्य, मास, सिरा, स्नायु, अस्थि-सन्धियाँ ।

वक्तव्य—शरीर की प्रत्येक ऐच्छिक या अनैच्छिक और समन्वयकारक क्रियाओं का अधिष्ठाता एवं इन क्रियाओं की प्रकृतिस्थिरा के द्वारा आयु और वल को स्थिर रखनेवाला वायु ही है । ये कार्य वातनाडियों द्वारा सम्पादित होते हैं, अतः वायु से वातनाडियों का ग्रहण करना युक्तिसंगत है ।

वायु का कोई रूप नहीं होता, उसका ज्ञान शब्द और मुख्यतः स्पर्श के द्वारा किया जाता है । वातनाडी को ही वात का रूप नहीं मानना चाहिए, अपितु वातनाडी वात का अधिष्ठान तथा वात के कार्य-सम्पादन का माध्यम है । जिस प्रकार बिजली के तारों में विद्युद धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार वातनाडियों में वात प्रवाहित होता है । वातनाडी आश्रय है और वात आश्रयी है । नाडीमण्डल को आश्रय बनाकर वात शरीर और मन की सम्पूर्ण क्रियाओं का सम्पादन करता है ।

वायु ही समस्त शरीर में फैले हुए सिरा, धमनी आदि तन्त्र तथा हृदय, फुफ्फुस, यकृत एवं मस्तिष्क सदृश यन्त्रों को अपने-अपने कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है । चेष्टावहनाडियों (Motor nerves) के द्वारा पेशियों में विविध प्रकार की गतियों को उत्पन्न करना भी वात का ही कार्य है । मन का नियमन और मानसिक वृत्तियों का उत्पादन वायु का ही कार्य है । वायु की ही शक्ति से चेष्टावहनाडियों (Motor nerves) तथा सज्जावहनाडियों (Sensory nerves) के द्वारा सकल कर्मन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं । शरीर की सम्पूर्ण धातुओं को वायु द्वारा यथास्थान रखता है । वाणी का व्यापार (उदान) वायु के अधीन है । अग्नि का भी प्रेरक वायु ही है । वायु ही वातनाडियों के आश्रित होकर स्वेद, मूत्र, पुरीप आदि मलों का वहि क्षेपण, गर्भ की आकृति का निर्माण तथा दीर्घायु की प्राप्ति करता है । उक्त सभी कार्य वातनाडियों के अधीन हैं, अतः वात से वातनाडी का ग्रहण किया जाना उचित है ।

प्रकुपित वायु विपरीत कर्म करने के कारण अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों को उत्पन्न करता है । सक्षेपत वायु के स्थान और प्राकृत तथा वैकृत कर्म निम्न प्रकार के हैं—

प्राणवायु—इसका मुख्य केन्द्र शिर है । कण्ठ, हृदय तथा फुफ्फुस तक इसका विस्तार रहता है । इसकी विकृति से हृदय तथा फुफ्फुस के रोग होते हैं ।

उदानवायु—इसका प्रधान स्थान कण्ठ और फुफ्फुस है । इससे फुफ्फुसीय नाडी-जाल (Pulmonary plexus) का भी ग्रहण कर सकते हैं । इसमें विकृति होने से स्वरभेद तथा श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी रोग होते हैं ।

व्यानवायु—इसका प्रधान स्थान हृदय तथा सर्वशरीर बतलाया गया है। यह रक्तसंचार, अनेञ्चिक मासपेशियों की गति, हृत्स्पन्दन तथा धमनीप्रधमन का कार्य करता है। इसमें विकृति होने से हृदय के रोग तथा सर्वशरीरगत वारविकृति के लक्षण मिलते हैं। वायु ही शरीर की जीवनशक्ति है। इसके विकृत या क्षीण होने पर शरीर भी क्षीण एवं दुर्बल हो जाता है। वारनाडियाँ ही शरीर का पोषण करती हैं—‘Nerves exercise atrophic or nutritive influence over the tissues and organs they supply’ व्यानवायु की विकृति से ही कृशता, दुर्बलता तथा शोष और मासपेशी-क्षय (Muscular atrophy) जैसे रोग होते हैं।

समानवायु—इसका प्रधान केन्द्र पाचनस्थान है। इससे अधिजठर प्रदेशीय नाडीचक्र (Epigastric plexus) का ग्रहण हो सकता है। इसकी विकृति से पाचनक्रिया में विकृति एवं तज्जन्य मलबन्ध, आनाह, शूल, ग्रहणी, अतिसार आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

अपानवायु—इसका प्रधान स्थान गुदा या नाभि से अधोभाग है। इसके प्राकृत रूप से पर मल-मूत्र आदि का त्याग यथासमय और उचित रीति से होता है। इसके विकृत होने पर मूत्राधार, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, अर्श तथा गर्भ की असम्यक् प्रवृत्ति सदूश विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।

पूर्वरूप

वातरोगों के अव्यक्त लक्षण (इष्ट व्यक्त लक्षण) ही वातव्याधि के पूर्वरूप होते हैं। ज्वर आदि रोगों में अलग से पूर्वरूप के लक्षण दिये हुए हैं, किन्तु ‘वात-व्याधि’ तथा ‘उरक्षत’ में केवल ‘अव्यक्त लक्षण’ कहकर पूर्वरूप का वर्णन किया गया है।

रूप या लक्षण

वातविकारों के व्यक्त लक्षण ही वातव्याधि के रूप है।

वातव्याधियों के सामान्य लक्षण

१. अगुलिपवों में सकोच होना २. सन्धियों का जकड़ना ३. अस्थिभज्ज (हड्डी दूटना) ४. सन्धिविच्युति (Dislocation) ५. रोगटे खड़े हो जाना ६. प्रलाप ७. हाथ-पैर-पीठ और शिर का जकड़ना ८. लगड़ापन ९. पगुता १०. कूबड़ होना ११. अङ्गशोष १२. अनिद्रा १३. गर्भनाश १४. शुक्रनाश १५. रज क्षय १६. अगो में फड़कन १७. अगो में सूनापन १८. शिर-नासिका-नेत्र-जन्त्र और गरदन का टेढ़ा होना १९. अगो में दूटन होना—सूई चुभाने जैसी वेदना और पीड़ा होना २०. बास्त्रार आक्षेप और २१. थकावट होना—ये वातरोगों के सामान्य लक्षण हैं।

वात के बाइस प्रकार के आवरण

१. पित्तावृत वात

२. कफावृत वात

३. रक्तावृत वात

४. मासावृत वात

५. मेदसावृत वात

६. अस्थ्यावृत वात

७. मज्जावृत वार्त	१३. पित्तावृत प्राण	१९. कफावृत उदान
८. शुक्रावृत वार्त	१४. पित्तावृत उदान	२०. कफावृत अध्यान
९. अमावृत वार्त	१५. पित्तावृत अध्यान	२१. कफावृत समान
१०. मूत्रावृत वार्त	१६. पित्तावृत समान	२२. कफावृत अपान
११. मलावृत वार्त	१७. पित्तावृत अपान	
१२. सर्वधात्वावृत वार्त	१८. कफावृत प्राण	

इसके अतिरिक्त प्राण, उदान आदि भी परस्पर एक-दूसरे को आवृत करते हैं, जिससे दीर्घ प्रकार के आवरण होते हैं—

प्राणादगन्तव्याद्योन्यमावृष्टविन्दि यथाक्रमम् ।

मवेऽपि वित्तिविधि विचादावरण च यद् ॥

१ उदानावृत प्राण	८ अपानावृत उदान	१५. व्यानावृत समान
२ व्यानावृत प्राण	९ प्राणावृत व्यान	१६. अपानावृत समान
३ समानावृत प्राण	१०. उदानावृत व्यान	१७. प्राणावृत अपान
४ अपानावृत प्राण	११. समानावृत व्यान	१८. समानावृत अपान
५ प्राणावृत उदान	१२. अपानावृत व्यान	१९. उदानावृत अपान
६. व्यानावृत उदान	१३. प्राणावृत समान	२०. व्यानावृत अपान
७ समानावृत उदान	१४ उदानावृत समान	

इस प्रकार $22 + 20 = 42$ आवरण कहे गये हैं देखें—

पच्चाव्युओं के परस्पर आवरण	२०
पित्तावृत वार्त	१
कफावृत वार्त	१
सप्तधातु आवरण	७
मलावृत वार्त	१
मूत्रावृत वार्त	१
सर्वधात्वावृत वार्त	१
पित्तावृत पच्चाव्यु	५
कफावृत पच्चाव्यु	५

—४२—

सुश्रुतानुसार दश आवरण और उनके लक्षण

१. पित्तावृत प्राण	वमन, दाह ।
२ कफावृत प्राण	दीर्घल्य, थकावट, उन्द्रा, मुखवैरस्य ।
३ पित्तावृत उदान	दाह, मूर्छा, अम, क्लम ।
४ कफावृत उदान	स्वेद, हृष्ट, मन्दाग्नि, शीरता ।
५ पित्तावृत समान	स्वेद, दाढ़, कृष्णता, मूर्छा ।

६. कफावृत समान	मल-मूत्रावरोध, गात्रहर्प ।
७ पित्तावृत अपान	दाह, उष्णता, रक्तमूत्रता ।
८ कफावृत अपान	अध शरीर में भारीपन, शीतता ।
९ पित्तावृत व्यान	दाह, अग-विक्षेप, क्लम ।
१० कफावृत व्यान	स्तम्भन, शूल, शोथ ।

वातव्याधियों के आविष्कृततम प्रकार

१ कोष्ठगत वात	२ सर्वज्ञ वात	३ गुदगत वात
४ आमाशय वात	५ पक्वाशय वात	६ श्रोत्रगत वात
७ स्पर्शनगत वात	८ नेत्रगत वात	९ रसनागत वात
१० ध्राणगत वात	११. त्वग्-गत वात	१२. रक्तगत वात
१३ मासगत वात	१४ मेदोगत वात	१५. मज्जागत वात
१६ अस्थिगत वात	१७ शुक्रगत वात	१८ सिरागत वात
१९. स्नायुगत वात	२०. सन्धिगत वात	१९. आक्षेपक
२२. अपतन्त्रक	२३. दण्डापतानक	२४. अपतानक
२५ धनु स्तम्भ	२६ आभ्यन्तरायाम	२७ वाह्यायाम
२८ अभिधातज आक्षेपक	२९ पक्षवध	३० सर्वज्ञवध
३१ अदिति	३२ हनुग्रह	३३ मन्यास्त्रम्भ
३४ जिह्वास्तम्भ	३५. सिराग्रह	३६ गृध्रसी
३७ विश्वाची	३८. क्रोणुकशीर्ष	३९. खञ्जवात
४० पगुवात	४१ कलायखञ्ज	४२ वातकण्टक
४३. पाददाह	४४ पादहर्ष	४५ असशोप
४६ अवबाहक	४७ मूक	४८ मिन्मिन
४९ गदगद	५० तूनी	५१. प्रतितूनी
५२ आघ्मान	५३ प्रत्याघ्मान	५४. अष्ठीला
५५. वस्तिगत प्रतिलोम वात	५६. कम्पवात	५७ खल्ली
५८ ऊर्ध्ववात		

वातव्याधि-चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त और चिकित्सासूत्र

(१) आहार—मधुर, अम्ल, लवण रस युक्त स्निग्ध आहार देना चाहिए। स्नेहपान, स्निग्ध मासरस, स्निग्ध पायस एव स्निग्ध अन्न दे।

(२) विहार—स्निग्ध और उष्ण गुणों से युक्त द्रव्यों से अस्यज्ञ, उपनाह (पुलिंश वर्धना), उद्देष्टन (लपेटना), उन्मदन (मालिश करना), गरम-गरम कुनकुने क्वाथ को ऊपर से अज्ञों पर गिराना, अवगाहन (शरीर को वातधन क्वाथ में डुबाना), सवाहन (मुलायल हाथों से हल्का थपथपाना और मीजना, अवपीडन (देह दबाना), वित्रासन (भय उत्पन्न करना), विस्मापन (आश्र्वय में डाल देना), विस्मारण (रोग की चिन्ता को अन्य वारों को सुनाकर विस्मृत कर देना)।

(३) पेय—सुरा, आसव आदि मदिरा के प्रकारों को पिलाना और अनेक प्रकार के दीपनीय, पाचनीय, वातनाशक और विरेचन कारक द्रव्यों से सस्कारयुक्त बनाये हुए घृत-तैल-वसा-मज्जा, इन स्नेहों का पान कराना प्रशस्त है ।

(४) स्नेहन—आवरणरहित और स्तब्धतारहित वातविकार हो, तो सर्वप्रथम घृत-तैल-वसा और मज्जा के आम्यन्तर तथा वाह्य प्रयोग द्वारा स्नेहन करना चाहिए । स्निग्ध अन्न खिलाये तथा स्नेहपान कराये ।

(५) स्वेदन—सम्यक् स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करना चाहिए । चरकोक्त तेरह स्वेदन प्रकारों का सुविधानुसार प्रयोग करना चाहिए । सविधि पिण्डस्वेद या सकरस्वेद हितकर होता है । १ स्वेदन से अगो मे पोषण की प्राप्ति, मृदुता और कोमलता अंती है तथा २ दोष शाखा को छोड़कर कोष्ठ मे चला जाता है, जहाँ से उसका सुखपूर्वक निर्हरण किया जा सकता है ।

(६) संशोधन—स्नेहन-स्वेदन से सन्तोपप्रद लाभ न प्रतीत हो, तो स्नेह विरेचन देना चाहिए । रोगी की प्रकृति तथा बलावल का विचार कर २५० मि० ली० सुखोष्ण दूध मे २०-२५ ग्राम एरण्ड तैल मिलाकर रात मे सोते समय पिलाये ।

वातरोग की चिकित्सा मे आस्थापन और अनुवासन वस्ति को प्रधानतम उपचार माना जाता है, क्योंकि ये वस्तियाँ वात के मूल स्थान पवाशय मे जाकर वही पर वात को नष्ट कर देती हैं, तब शरीर के अवयवों मे फैले हुए वात-विकार उसी प्रकार शान्त हो जाते हैं, जैसे वृक्ष के मूल को काट देने पर उसके तने फूल-फल-पत्तियाँ अवयमेव विनष्ट हो जाती हैं ।

(७) रसायन-प्रयोग—वातरोगों मे रसायन औपधों का प्रयोग अतिश्रेष्ठ एव उपयोगी माना जाता है । शिवा गुटिका, महायोगर्ज गुग्गुलु, रसराज रस, मदना-नन्द मोदक, कामेश्वर मोदक आदि का प्रयोग लाभकर है । शिलाजतु एव अभ्यामल-कीय रसायन का प्रयोग करना चाहिए ।

(८) नस्य और धूम्रपान—स्निग्ध षड्बिन्दुतैल महानारायण तैल आदि का नस्य देना चाहिए और वातहर द्रव्यों के कल्प को चीलम मे रखकर धूम्रपान कराना चाहिए ।

(९) आवरण मे उपचार—वात के आवरणों मे सर्पि-तैल-वसा और मज्जा इन चारों स्नेहों का पान, अम्यंग और वस्ति मे प्रयोग करना चाहिए । स्नेहन, स्वेदन, निवातस्थान निवास और वजनदार ऊनी ओढ़ना प्रयोग मे लाना चाहिए । मधुर-अम्ल-लवण रस युक्त आहार तथा दुग्ध आदि वृक्षण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

वातरोग की चिकित्सा मे वात की त्रिविधि गति (क्षय, वृद्धि और समता) का तथा आवरण का ज्ञान अति आवश्यक है । आवृत वात मे आवरक की चिकित्सा पहले करनी चाहिए । यदि कफ और पित्त दोनों आवरक हों, तो पित्त की चिकित्सा

पहले करनी चाहिए—‘ससृष्टे कफपित्ताम्या पित्तमादो विनियेत् ।’ आवृत वात की चिकित्सा में ऐसी सावधानी वर्तनी चाहिए, कि आवरक की वृद्धि न हो ।

आवरणों की चिकित्सा में जो औषध कफकारक न हो, किन्तु भ्नग्ध तथा स्रोत शुद्धिकारक हो, उनके द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

जो औषध और आहार द्रव्य कफ-पित्त के विरुद्ध न हो और वात के अनुलोमन कारक हो, उनका चिकित्सा में प्रयोग करना चाहिए ।

प्राय मधुर अनुवासन वस्तियों के साथ-साथ यापना वस्तियाँ लाभकर है अथवा रोगी के बल को देखकर मृदु विरेचक औषधों का प्रयोग हितकर है ।

सामान्य चिकित्सा

१. वातरोग में घृत-रुँल-वसा या मज्जा का प्रयोग रोगी की अनुकूलता का विचार करना चाहिए ।

२ वस्ति देना वातरोग की सर्वोत्तम चिकित्सा है । यथावश्यक इसका प्रयोग करे और अभ्यग तथा स्वेदन करे । रोगी को हवा के झोके से बचाने के लिए उसे निवात स्थान में रखे एवं शरीर को गरम वस्त्र से ढँका रखे ।

३ मासरस, दूध, मधुर-अम्ल और नमकीन पदार्थ एवं शरीर का बल बढ़ाने-वाले बृहण पदार्थों का उपयोग वातनाशक होता है ।

४ वातबोष्ठन, वातबहनाडी-पुष्टिकर (Nervine tonic), भस्तिष्क-सुखुम्ना-उत्तेजक (Stimulant) वेदनाहर एकल द्रव्य—सुवर्ण भस्म, रौप्यभस्म, पुष्पराग, माणिक्य, शिलाजीत, दशमूल, ब्राह्मी, रासना, गुगल, जटामसी, भिलावा, एरण्ड तैल, लहसुन, बच, बादाम, पिस्ता, पिपरामूल, केवाच, शतावर, कायफल, धी, उड्ड, माल-कागनी, चनसुर, प्रसारणी, देवदारु, विधारा, कुचला, असगन्ध, सोठ, नीलगिरी तैल, विदारीकन्द, वरियार आदि । इनमें रासना, गुग्गुलु, एरण्ड तैल, बला, सिन्दुवार, लहसुन, दशमूल, बच्छनाग और कुचला, ये विशिष्ट रूप से वातनाशक हैं ।

इनका प्रयोग एकल या सयुक्त रूप में यथायोग्य करे ।

५. वाताक्षेप्धन-सङ्कोचहर (Antispasmodics)—वायुकोपजन्य आक्षेप और सकोच का नाश करनेवाली औषधों में के प्रमुख हैं—कस्तुरी, हींग, जटामसी, कपूर, एरण्ड तैल, नीलगिरी तैल, सोहागा, धतूरा, अफीम, अध्रकभस्म, शृगभस्म आदि । इनका प्रयोग उचित कर्त्तव्य तथा मात्रा के अनुसार करना चाहिए ।

६. उदरवात्तन (Carminatives)—उदर-आमाशय एवं अन्त्र में उत्पन्न वायु की शामक औषधें—शखभस्म, कपदेभस्म, शुद्धगन्धक, सज्जीखार, अजवायन, अदरक, चित्रकमूल, कुचला, दालचीनी, सोठ, मरिच, पीपर, लौग, वायविडग, सोवा हींग, शीतलमिर्च, सरसो, लहसुन आदि ।

७. वातशूलचन (Antineuralgics)—वातवाहिनियों की विकृति से उत्पन्न शूलशामक औषधें—शृगभस्म, रौप्यभस्म, शुद्ध गन्धक, शिलाजीत, एरण्ड, करञ्ज, कायफल, गुञ्जा, प्याज, लहसुन, दशमूल, सिन्दुवार, कालीमिर्च, लौग, सोठ, जीरा,

अफोम, कपूर, पीपल, अजवायन, शूठ, पुष्करमूल, पीपलगूल, चाम, चौपचीनी तथा पोष्टिक द्रव्य ।

८. वातवेदना, चोट-सोनहर लेप—मेही, नज़ीगार, फीगबोन, आर्ना-२०-२० ग्राम, ढीकामाली गोद और भंदा न्यूकी २०-२० ग्राम, हीग १० ग्राम, उशारेष्वन्द १० ग्राम, सफेद नस्तो १० ग्राम, गेह ५० ग्राम, आमालली ८० ग्राम, गुदू गोद २०० ग्राम, मुसव्वर ५० ग्राम—इन नदवयों चूर्ण कर, जल में मछीन पीसकर गरम करके वेदना के स्थान पर वाय्ध दें ।

९. वातहर प्रदेह—जगारी बैर, गुलबी, रान्ना, उड्ड, तीमी, मग्गो, निल, शूठ, वच, सोवादीज और जौ का आटा, नगी को समझाग में लेजर पीतार गुग्गोल्ज नैग लगाने में बातज वेदना शान्त होंगी है ।

१०. अस्पद्धार्थ तंत्र—माप नैन, भहामाप रैन, प्रगारणी रैन, गरना रैन, विषगर्म रैन, महानारायण रैन, पचगुण रैन का प्रयोग अस्पद्धार्थ के लिए करे । चिरणु रैन का पीने तथा मालिश में प्रयोग करे ।

११. घृतयोग—छागलाद्य घृत, दण्डमूल घृत तथा चिरकादि घृत का प्रयोग यथोचित रूप में करना चाहिए ।

१२. व्वाय—महारास्नादि व्वाय, रास्नामध्यक, रास्ना दण्डमूल तथा मापवल्लादि योग के व्वाय का उचित मात्रा में प्रयोग करे ।

१३. चूर्ण—नारीसह चूर्ण ३-४ ग्राम मधु से सवेरे-शाम दे, ऊपर से गोदुग्ध दे । यड्घरण योग—चित्रकमूल की छाल, इन्द्रजी, पाठा, कुट्टी, अतीस, बड़ी हर्टे की फलमज्जा, सभी का समझाग में चूर्ण कर छान ले । मात्रा २ ग्राम गरम जल में सवेरे शाम । इसका सभी प्रकार के बातरोगों में प्रयोग करे, विशेषकर आमाशयगत बात-विकार में ।

१४. अवलेह—रसोनपिण्ड १०-१५ ग्राम सवेरे-शाम, एरण्डमूल व्वाय से दे । कल्याण अवलेह ३ ग्राम घा में सवेरे-शाम देवे । या एरण्डपाक २० ग्राम गोदुग्ध से सवेरे-शाम दे अथवा अमृतभल्लातक १० ग्राम, सवेरे-शाम गोदुग्ध से देवे ।

१५. गुग्गुलु—त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, महायोगराज गुग्गुलु, योगराज गुग्गुलु, गुग्गुलु-वटी, पञ्चामृतलौह गुग्गुलु, इनका इे ग्राम की मात्रा में यथायोग्य अनुपान से सवेरे-शाम प्रयोग करे ।

१६. रस-रसायन—बृहद्वारचिन्तामणि, रसराज, बातकुलान्तक, योगेन्द्र रस, बातगजाकुश, लक्ष्मीविलासरस, मल्लसिन्दूर, चिन्तामणि रस, बातविध्वसन रस, नवग्रह रस तथा नवरत्न राजमृगाङ्क रस का रोगी की परिस्थिति के अनुसार उचित मात्रा और अनुपान में प्रयोग करे ।

पथ्य—अभ्यग-स्वेदन-मर्दन, मधुर-अम्ल-लवण-सिन्धू पदार्थ-सेवन आदि ।

अपथ्य—चिन्ता, प्रजागरण, वेगधारण, श्रम, अनशन, रुक्ष पदार्थ सेवन आदि ।

विशिष्ट वातलक्षण एवं चिकित्सा

(१) कोष्ठगत वात-लक्षण—मल और मूत्र का अवरोध, व्रद्धन (लक्षण-प्रदेश-गत शोथ), हृदरोग, गुल्म, अर्श और पाश्वर्शूल होना ।

चिकित्सा—१ हिंगवादिवटी इँ ग्राम, यवक्षार १ ग्राम नीबू के शर्वर से दे । अथवा—२ शिवाक्षारपाचन चूर्ण २ ग्राम, ३-३ घण्टे पर सुखोष्ण जल से दे । अथवा—३ हिंगपटक चूर्ण २-२ ग्राम नीबू के जल से दे । ४ पचसकार चूर्ण ६ ग्राम गरम पानी से रात में सोते वक्तु देवे । ५ षड्धरण योग ३-३ ग्राम दिन में ३ बार सुखोष्ण जल से दे ।

(२) सर्वाङ्गगत वात-लक्षण—अगो मे फडकन, अगो मे टूटन, सन्धियो मे तोद-भेद आदि वेदना और सन्धियो मे फटने जैसी वेदना होना ।

चिकित्सा—१ वातनाशक महानारायण आदि तैलों का अभ्यग करे । २ बारी-बारी से निरुह और अनुवासनवस्ति का प्रयोग करे । ३ सवेरे, दोपहर, शाम वातगजाकुशरस, शृग भस्म और शुद्ध कुपीलु प्रत्येक १२५ मि० ग्रा०/१ मात्रा मधु से दे ।

(३) गुदगत वात-लक्षण—मल-मूत्र और अपान वायु के निकलने मे रुकावट, उदरशूल, आघ्मान, अश्मरी, शर्करा, जघावेदना, ऊरुवेदना, त्रिकवेदना, पादवेदना, पृष्ठवेदना और शोष होना ।

चिकित्सा—१ दीपन-पाचन चूर्ण, गुटिका तथा आसव-अरिष्ट का प्रयोग करे । २ हिंगवादि चूर्ण, गन्धक वटा या आरोग्यवर्धिनी वटी और अविपत्तिकर चूर्ण दे । नीबू और सेधानमक का प्रयोग करे ।

(४) आमाशयगत वात-लक्षण—पाश्व, उदर, हृदय एवं नाभि मे पीड़ा, प्यास, डकार, विसूचिका, खाँसी, गला और मुख का सूखना और श्वास होना ।

चिकित्सा—वमन तथा विरेचन कराकर शोधन करने के पश्चात् दिन मे ३ बार षड्धरण योग ३-३ ग्राम सुखोष्ण जल से देवे तथा जिस दोप की प्रबलता हो, तदनुसार चिकित्सा करे ।

(५) पचवाशयगत वात-लक्षण—अन्त्र मे गुडगुडाहट, शूल, आटोप (वायु भरना), मल-मूत्र की रुकावट, आनाह और त्रिकप्रदेश मे वेदना होना ।

चिकित्सा—दीपन-पाचन औषध, हिंगुद्विरुत्तरादि योग, रसोन वटी, पचसकार चूर्ण, हींग और लहसुन का प्रयोग करना चाहिए ।

(६) त्वग्गत वात-लक्षण—त्वक्रुक्षता, त्वक्स्फुटन, स्पर्शज्ञिता, कृशता, कष्ण-वर्णता, सूचीवेधनवत् पीड़ा, रनाव, लालिमा, सन्धियो मे वेदना और चक्ते होना ।

चिकित्सा—स्वेदन, अभ्यङ्ग, अवगाहन और हृद्य अन्न का प्रयोग करे । मर्दने, उपनाह स्वेद और रक्तमोक्षण करना चाहिए ।

(७) रक्तगत वात-लक्षण—शरीर मे दीन पीड़ा, सराप, विवर्णता, कृशता, अरुचि, शरीर मे फुन्सियाँ निकलना और भोजन के बाद शरीर मे जकड़न होना ।

चिकित्सा— विरेचन, रक्तमोक्षण एवं शीर्तल प्रदेह करना चाहिए। (१) सबेरे-शाम कामदुधा रस २ ग्राम, प्रवालपिण्ठी २ ग्राम, गुडूची सत्त्व १ ग्राम की २ मात्रा मधु से। (२) भोजन के बाद अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम/२ मात्रा जल से। (३) रात में सोते वक्त—आरोग्यवर्धिनी १ ग्राम/१ मात्रा दूध से दे।

(८) मांस-मेदोगत वात-लक्षण—अगो मे भारीपन, सूचीवेधनवत् पीड़ा, दण्ड-मुष्टिप्रहारवत् वेदना, शरीर मे वेदना और थकावट का अनुभव होना।

चिकित्सा— (१) विरेचन, निरुहवस्ति के पश्चात् समान चिकित्सा करे। (२) प्रात्-साय महायोगराज गुग्गुलु १-१ गोली गोदुर्घ से दे।

(९) अस्थिमज्जागत वात-लक्षण—अस्थि और पर्वों मे भेदनवत् पीड़ा, सन्धि-शूल, मास और बल का क्षय, निद्रानाश और स्थायी रूप से पीड़ा का होना।

चिकित्सा— (१) वाह्य तथा आम्ब्यन्तर स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। (२) सबेरे-शाम देशमूल धृत १०-१० ग्राम सुखोष्ण दूध से देवे तथा दशमूल क्वाथ पिलावे और महानारायण तैल का अम्बज्ज करे।

(१०) शुक्रगत वात-लक्षण—शुक्र का शीघ्र पात होना, कभी गुक्र का रुक जाना, कभी शीघ्र गर्भसाव या गर्भपात या गर्भसग या देर से प्रसव होना।

चिकित्सा— (१) हृष्ट उत्पन्न करना तथा बल एवं शुक्रवर्धक अन्नपान का सेवन कराना चाहिए। (२) प्रात्-साय—पुष्पधन्वा रस १२५ मि० ग्रा०, चन्द्रप्रभा वटी २ ग्राम, पूर्णचन्द्ररस १२५ मिलीग्राम/१ मात्रा मधु से, बाद मे गोदुर्घ पीना। (३) भोजनोत्तर २ वार—अश्वगन्धारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा समान जल से पीना। (४) शतावर चूर्ण ३ ग्राम दूध से रात मे सोते वक्त दे। (५) यदि शुक्र का मार्ग अवरुद्ध हो और शुक्र का क्षरण न हो रहा हो, तो विरेचन दे, फिर ससर्जनक्रम से पथ्य देकर बल-शुक्रवर्धक अष्टवर्ग आदि द्रव्यों का प्रयोग करे। (६) यदि गर्भशयगत वायु-प्रकोप से गर्भ सूख रहा हो, तो मिश्री, मुलहृठी और गम्भार की छाल से क्षीरपाक-विधि से सिद्ध किया हुआ दूध पिलावे।

(११) सिरा-स्नायु-सन्धिगत वातलक्षण—(१) सिरागत वात मे शूल, सिरास्कोच, सिरा की स्थूलता और स्तब्धता होती है। (२) स्नायुगत वात मे वाह्यायाम, आम्ब्यन्तरायाम, खल्ली, बुवडापन तथा अन्य एकाङ्गगत या सर्वाङ्गगत लक्षण होते हैं। (३) सन्धिगत वात मे सन्धियों मे शूल और सूजन होती है।

चिकित्सा— (१) इनमे स्नेहन, स्वेदन, उपनाह आदि करना चाहिए। (२) दिन मे ३ वार महायोगराज गुग्गुलु १२ ग्राम, अग्नितुण्डीवटी २ ग्राम, शृगभस्म १ ग्राम/३ मात्रा, रासनासप्तक क्वाथ से देवे।

(१२) हनुपह—हनुमूल मे स्थित वायु प्रकुपित होकर हनुमन्थ का लसन (Dislocation) करा देता है, जिससे मुख पूरा खुला ही रह जाता है या विलक्षुल वन्द हो जाता है। इसे अनुग्रह कहते हैं। इसमे चर्वण करने और बोलने मे भी कठिनाई होती है।

चिकित्सा—स्नेहन, स्वेदन करके अगूठे और तर्जनी से निचले जबड़े (चिबुक) को नीचे एवं पीछे की ओर दबाकर यथास्थान बैठावे, फिर नारायण तेल का गण्डूष (मुख में धारण) करावे तथा महामाष तैल की मालिश करावे।

(१३) **मन्यास्तम्भ**—दिवाशयन, विषमस्थानशयन और ऊपर की ओर देर तक देखने से कफ से आवृत वायु मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न करता है, जिससे गरदन में जकड़न हो जाती है और गरदन का हिलाना-डुलाना सभव नहीं होता। इसे ग्रीवास्तम्भ भी कहते हैं।

चिकित्सा—(१) रुक्ष स्वेदन करे तथा बालू की पोटली से गरदन पर धत्तूर, एरण्ड या मदार का पत्ता रखकर सुखोण्ण सेक करे। (२) कट्टफल त्वचा चूर्ण का नस्य सुधावे। (३) दशमूल क्वाथ में पुष्करमूल का चूर्ण २ ग्राम या सोठ का चूर्ण २ ग्राम मिलाकर सबेरे-शाम पिलावे। (४) दिन में ३ बार—रससिन्दूर ४०० मि० ग्रा०, महायोगराज गुग्गुलु १ ग्राम, शृगभस्म १ ग्राम, सोठ चूर्ण ३ ग्राम/३ मात्रा मधु से देवे। (५) सैन्धवादि तैल की मालिश करावे।

(१४) **जिह्वास्तम्भ**—वाणी का वहन करने वाली नाड़ी में स्थित कुपित बाहु जिह्वा को स्तम्भित कर देता है, जिससे खाने-पीने तथा बोलने में असमर्थता हो जाती है।

चिकित्सा—(१) सैन्धवलवणमिश्रित महानारायण तैल का मुख में कवल धारण करे। (२) दिन में ३ बार कल्याण अवलेह २-२ ग्राम धी से चटावे। (३) महासिरोपलादि चूर्ण १-१ ग्राम मधु से दिन में ३-४ बार दे।

(१५) **विश्वाची**—यह तीन प्रकार की होती है—

(१) वहि प्रकोष्ठिका नाड़ी विकृतिजन्य विश्वाची (Radial paralysis)।

(२) अन्त प्रकोष्ठिका नाड़ी विकृतिजन्य विश्वाची (Ulnar paralysis)।

(३) उभयनाड़ी विकृतिजन्य विश्वाची (Radio-ulnar paralysis)।

एक बाहु या, दोनों बाहुओं के कर्म का क्षय करने वाली व्याधि को विश्वाची कहते हैं।

चिकित्सा—(१) स्नेहन-स्वेदन-मर्दन और नस्य का प्रयोग करना चाहिए। (२) दिन में ३ बार—रसराज २०० मि० ग्रा०, शृगभस्म ५०० मि० ग्रा०, महायोगराज गुग्गुलु १ ग्राम/३ मात्रा मधु से देवे तथा बातहर उपचार करे।

(१६) **क्रोष्टुशीर्ष**—वार तथा रक्त की, विकृति से जानुगत तीव्र पीड़ा और शोथयुक्त जानुसन्धि, जिसमें सियार के शिर जैसी जानु हो जाती है, उसे क्रोष्टुशीर्ष कहते हैं।

चिकित्सा—(१) रुक्ष स्वेद करे। गुडूची तैल या पिण्ड तैल का अध्यग तथा नाड़ीस्वेदन करे। (२) दिन में ३ बार—कैंसोर गुग्गुलु ३ ग्राम, कुचला शुद्ध ५०० मि० ग्रा०, शृगभस्म १ ग्राम/३ मात्रा मधु से दे, तत्पञ्चात् दशमूल क्वाथ पिलावे।

(१७) खञ्ज-कलायखञ्ज-पड़गुवात—(१) जब कटिप्रदेशगत चिकृत वायु एक पैर की कण्डरा मेरे आक्षेप (कर्महीनता) उत्पन्न कर देता है, तो उसे खञ्ज अर्थात् लगड़ा और (२) जब दोनों पैरों मेरे अकर्मण्यता उत्पन्न करता है, तो पड़गु कहते हैं। (३) जो मनुष्य काँपते हुए, लगड़ाते हुए या पैर घसीटते हुए चलता है और जिसके सन्धि-बन्धन शिथिल हो गये हों, उसे कलायखञ्ज रोग कहते हैं।

चिकित्सा—(१) विरेचन, आस्थापन तथा अनुवासनवस्ति तथा माष तैल का अभ्यग, स्वेदन आदि उपचार लाभदायक है। (२) आहार मेरे धृत-तैल-वसा-मज्जा, दूध, मासरस और उड्ड की दाल दें। (३) त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, महारोगराज गुग्गुलु या गुग्गुलु वटी १ ग्राम की ३ मात्रा रासनासप्तक क्वाथ से देनी चाहिए।

(१८) वातकण्टक अथवा खुड़ुकवात—ऊँची-नीची भूमि पर पैर पड़ने एवं मोच आ जाने से या अत्यधिक परिश्रम से प्रकुपित वायु जब गुल्फसन्धि मेरी पीड़ा उत्पन्न करता है, तो उसे वातकण्टक कहते हैं।

चिकित्सा—(१) रक्तमोक्षण करके अशुद्ध रक्त निकाले। छोटी सुई गरम कर उससे दागना चाहिए। (२) दिन मेरे ३ बार सिंहनाद गुग्गुलु १५ ग्राम, रस-सिन्हूर ३०० मि० ग्रा०, पड़धरण योग ३ ग्राम/३ मात्रा देवें।

(१९) पाददाह—प्रकुपित वायु, पित्त और रक्त के साथ मिलकर पैरों मेरे दाह उत्पन्न करता है। जिसका अनुभव चलते समय अधिक होता है।

चिकित्सा—पैरों पर मक्खन लगाकर दशमूल क्वाथ से सिञ्चन करे या दशमूल तैल का अभ्यङ्ग करे अथवा वहेडे के फल के बीज की मज्जा महीन पीसकर उसका लेप करे।

(२०) पादहर्ष—प्रकुपित वायु कफ के साथ मिलकर पैरों मेरे हर्ष (ज्ञिनज्ञिनी) और कभी सूनापन उत्पन्न करता है। इसे पादहर्ष रोग कहते हैं। *

चिकित्सा—(१) इंट के टुकड़े को आग मेरम कर काञ्जी, नीबू के रस या खट्टे मट्टे मेरे बुज्जाकर उसकी भाप से पैर को सेके। (२) सवेरे-शाम—शुद्ध हीग ५०० मि० ग्रा०, पुष्करमूल चूर्ण ३ ग्राम/२ मात्रा दशमूल क्वाथ ५० मि० ग्रा० के साथ प्रयोग करे। (३) वृद्धसंघवादि तैल का अभ्यग करे।

(२१) असशोष—असप्रदेशगत कुपित वायु असवन्धनकारक कफ को सुखाकर असशोष रोग उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—(१) स्नेहन करके वृद्धग औषध दें। (२) सवेरे-शाम, प्रवाल-भस्म ४०० मि० ग्रा०, शृगमस्म ५०० मि० ग्रा०, अश्वगन्ध चूर्ण ४ ग्राम मधु से दें। (३) भोजनोत्तर २ बार अश्वगन्धारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा मनान जल से दें।

(२२) अववाहुक—असप्रदेश स्थित प्रकुपित वायु वट्ठां की सिराओं (वात-नाडियों) मेरे सकोच उत्पन्न करके अववाहुक उत्पन्न करता है। इसमेरे स्कन्ध से शुरू होकर नीचे अंगुलियों तक पीड़ा होती है, कभी बाहु भी सूखती है।

चिकित्सा—(१) महानारायण तैल या नहामाय तैल या मटाक्षिपश्च तैल की

मालिश करे। (२) सवेरे-शाम सोठ चूर्ण ३ ग्राम और छिलका रहित एरण्ड वीज ३ ग्राम पीसकर २०० मि० ली० दूध में पकाकर चीनी डालकर खिलावे। (३) दिन में ३ बार—रसराज ३०० मि० ग्रा०, रससिन्दूर ५०० मि० ग्रा० या उतना ही भल्लसिन्दूर, अग्नितुण्डी वटी ५०० मि० ग्राम/३ मात्रा मधु से दे। (३) भोजन के बाद दशमूलारिष्ट या अश्वगन्धारिष्ट ४०० मि० ग्रा०/२ मात्रा समान जल से दे।

(२३) मूक-मिन्मिन-गदगद—कफयुकर प्रकृपित वायु, शब्दवाहिनी धमनी (जिह्वा की चेष्टावहनाडी—Hypoglossal nerve, प्रत्यावृत्त स्वरयन्त्रीय नाडी—Recurrent laryngial nerve) तथा मस्तिष्कगत वातकेन्द्र में अवरोध उत्पन्न करके मूक (न बोलना), गदगद (हक्कलाकर बोलना) और मिन्मिन (नाक का सहारा लेकर बोलना) रोग उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—(१) महानारायण तैल का मुख में गण्डूप धारण करावे—दिन में ३ बार। (२) सवेरे-शाम—कल्याण अवलेह ६ ग्राम/२ मात्रा धी से दे। (३) भोजनोन्तर २ बार अश्वगन्धारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा समान जल से दे। (४) प्रात्-साय—दशमूल ५० मि० ली० में भुनी हीग ५०० मि० ग्रा० और पुष्करमूल चूर्ण २ ग्राम प्रति बार मिलाकर पिलावे। (५) कुलिङ्जन का टुकड़ा मुख में चूसना चाहिए।

(२४) तूनी-प्रतितूनी—जो पीड़ा मलागय और मूत्राशय से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर जाकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय का भेदन करती हुई प्रतीत होती है, उसे तूनी कहते हैं।

गुदा और उपस्थ से प्रारम्भ होकर ऊपर पक्वाशय की ओर वेगपूर्वक जानेवाली पीड़ा को प्रतितूनी कहते हैं।

चिकित्सा—(१) प्रात्-साय—पिप्पत्यादिगण (सुश्रुत) चूर्ण २-२ ग्राम गरम गरम जल से देवे अथवा शुद्ध हीग ५०० मि० ग्रा० और यवसार १ ग्राम/२ मात्रा १० ग्राम धी के साथ देवे। (२) एरण्डस्नेह युक्त दशमूल व्याथ में अवगाहन कराना लाभप्रद होता है। (३) तूनी में निशोथ चूर्ण ४ ग्राम खिलाकर या एरण्ड-स्नेह ३० मि० ली० पिलाकर विरेचन करावे तथा प्रतितूनी में वस्ति का प्रयोग लाभकर होता है। (४) गोक्खुरादि गुग्गुलु ३ ग्राम/३ मात्रा वरुणादि व्याथ से देवे। (५) चन्द्रप्रभा वटी १५ ग्राम, श्वेतपर्षटी ५०० मि० ग्रा०/१ मात्रा, सवेरे-शाम देना चाहिए।

(२५) आधमान-प्रत्याधमान—अपानवायु के रुकने के कारण उदर में आटोप, अत्यधिक पीड़ा और रुनाव के साथ पेट का फूलना आधमान कहलाता है।

जब ये लक्षण पाश्व तथा हृदय-प्रदेश को छोड़कर केवल आमाशय में प्रकट होते हैं, तो उसे प्रत्याधमान कहते हैं। इसमें कफ वायु को आवृत कर लेता है।

चिकित्सा—आधमान में—(१) उपवास, वातनाशक द्रव्यों का मुखोण लेप, हाथ का तलवा आग पर गरम करके उससे सेकना, गुदा में फलवर्ती (Supposi-

'tory) लगाना या एनीभा लगाना चाहिए तथा दीपन-पाचन योगो का प्रयोग करे। (२) ३-३ घण्टे पर—शिवाक्षारपाचन चूर्ण ३ ग्राम, सज्जिकाक्षार १ ग्राम/१ मात्रा सुखोण्ण जल से। (३) आधे-आधे घण्टे पर हिंगवादि वटी १-१ गोली चूसना। (४) रात्रि में २५ मि० ली० एरण्ड तैल को २०० मि० ली० गरम दूध में दे। (५) न० २ में कथित शिवाक्षारपाचन के स्थान पर हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण का ३-३ ग्राम प्रयोग किया जा सकता है।

दारुषट्क लेप—देवदारु बुरादा, बच, कूठ, सोवा, हींग और सेधानमक, समभाग लेकर सिरका में पीसकर गरम कर उदर पर सुखोण्ण लेप करना चाहिए।

प्रत्याघ्मान में—(१) वमन, लघन तथा दीपन अौपधो का प्रयोग करे। (२) प्रात्-माय वृहत्पचमूल क्वाथ ५० मि० ली० में निशोथ चूर्ण २-२ ग्राम मिलाकर प्रयोग करे। (३) प्रात्-साय अग्नितुण्डी वटी ५०० मि० ग्राम, चित्रकादि वटी २ ग्राम, शख्समस्म ५०० मि० ग्राम/२ मात्रा सुखोण्ण जल से दे। (४) भोजन के प्रथम ग्रास में हिंगवट्क चूर्ण २-२ ग्राम धी के साथ दे। (५) भोजनोत्तर अविष्टिकर चूर्ण ३-३ ग्राम भन्दोण्ण जल से देवे।

(२६) अष्ठोला-प्रत्यष्ठोला—नाभि के नीचे होने वाली पत्थर के समान कठोर चल या अचल और ऊपरी भाग में चौड़ी ग्रन्थि को अष्ठोला कहते हैं। इसमें मलमूत्र के मार्ग का अवरोध हो जाता है।

यही ग्रन्थि जब पीड़ा के साथ उदर में तिरछी उठकर मल-मूत्र के मार्ग को रोक देती है, तो उसे प्रत्यष्ठोला कहते हैं।

चिकित्सा—(१) इनमें स्वेदन, लेप और उपनाह स्वेदन करे। (२) अनु-लोमन, विरेचन और मूत्रल अौपध दे। (३) दशमूल क्वाथ में एरण्ड तैल मिलाकर विरेचनार्थ पिलावे। (४) प्रति २ घण्टे पर हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण २-२ ग्राम यवक्षार ५०० मि० ग्राम के साथ देवे। (५) प्रतिदिन २ वार गोक्खुरादि गुग्गुलु २ ग्राम श्वेतपूर्पटी २ ग्राम/२ मात्रा जल से दे। (६) रात में सोते वक्त नारायण चूर्ण ४-५ ग्राम सुखोण्ण जल से दे। १-१ घण्टे पर हिंगवादि वटा १-१ गोली चूसने को देवे।

(२७) वस्तिगत प्रतिलोम वात—जब वस्तिगत वायु प्रतिलोम हो जाता है, तो वस्तिगत विविध विकार, यथा—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राधार, अश्मरी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा—(१) इसमें मूत्रल एवं वस्तिशोधक द्रव्यो का प्रयोग उपयुक्त होता है। साथ ही वातानुलोमन द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए। (२) पुनर्नवा, गोखरू, ककड़ी-खीरे के दीज, पापाणभेद और शिलाजीत के योगो का प्रयोग कल्याणकारी है। (३) दिन में ३ वार गोक्खुरादि गुग्गुलु २ ग्राम, चन्द्रप्रभावटी २ ग्राम, श्वेत-पूर्पटी २ ग्राम/३ मात्रा पञ्चतृणमूल क्वाथ में देवे। (४) वरुणादि गण का क्वाथ पिलावे।

(२८) कम्पवात—सर्वाङ्ग कम्प या केवल शिर के कांपने को एवं हाथ आदि के कम्पन को कम्पवात या वैपथु कहते हैं ।

चिकित्सा—(१) इसमे स्नेहन, स्वेदन, अध्यग और वृहण चिकित्सा करनी चाहिए । मलावरोध नहीं होने देना चाहिए । (२) सवेरे-जाम नारंगिह चूर्ण ६ ग्राम/२ मात्रा ५ ग्राम धी और १० ग्राम मधु से । (३) दिन मे २ बार विजय भैरव रुल २ बूँद वरासे मे देवे । (४) विजयभैरव रुल का नम्य भी दे रुदा मालिश भी करावे । (५) पौष्टिक, स्निग्ध, वलवधंक आहार, धी, दूध आदि देना चाहिए ।

(२९) खल्ली—पैर के भूल (Ankle joint), जधामूल (Knee joint), ऊरमूल (Thigh joint) तथा हाथ के भूल (Wrist joint) मे ऐठन (Cramp) उत्पन्न करनेवाले रोग को खल्ली कहते हैं ।

चिकित्सा—(१) स्निग्ध, अम्ल और लवण रस वाले द्रव्यों की पोटली या कवाय या कल्क बनाकर स्वेदन करना, मर्दन करना, मालिश करना और उपनाह स्वेद करना चाहिए । (२) लेप—कुठ, सेधानमक और चूक को पानी मे पीसकर, सरसो का तेल मिलाकर सुखोष्ण करके लेप लगावे । (३) रुल या धी मिलाकर खिचडी या खीर की पुलिंस से सेंकना हितकर है । (४) अग्नितुण्डी वटी ५०० मि० ग्रा०, महायोगराज गुरुगुलु १ ग्राम, शृगभूमि १ ग्राम/३ मात्रा मधु से, दिन मे ३ बार देवे ।

(३०) ऊर्ध्ववात—कफ अथवा आम से आवृत होकर जब वायु विलोम गति से मुख से ढकार के त्वप मे बार-बार निकलने लगती है, तो उसे ऊर्ध्ववात कहते हैं ।

चिकित्सा—(१) इसमे दीपन, पाचन, उदावर्तहर एवं अनुलोमन उपचार करे । (२) सवेरे-जाम शिवाक्षारपाचन चूर्ण ३-३ ग्राम २० ग्राम धी के माथ देना चाहिए । (३) भोजन के प्रथम ग्रास के साथ दोनो वक्त हिंगवटक चूर्ण ३-३ ग्राम, धी मिलाकर दे । (४) भोजनोत्तर २ बार अभयारिष्ट २०-२० मि० ली० समान जल के साथ दे । (५) रात मे सोते वक्त अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम सुखोष्ण जल से दे । (६) दिन मे ५-६ बार हिंगवादि वटी १-१ गोली चूसने को देवे ।

(३ -१८) आक्षेपक-अपतन्त्रक अपतानक-दण्डापतानक-धनुं-स्तम्भ-अस्पन्तरायाम-बाह्यायाम-अभिधातंज आक्षेपक (पाशवर्याम)—

आक्षेपक—जब विकृत वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियो (वातनाडियो) को बार-बार आक्रान्त करता है, तो सारे शरीर मे पुन पुन आक्षेप (झटके) आते हैं । बारम्बार आक्षेप आने के कारण इस रोग को आक्षेपक कहते हैं ।

अपतन्त्रक—स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित वायु अपने स्थान (पक्वाशय) से ऊपर उठकर शिर की ओर जाता है, तो हृदय, शिर और शख प्रदेश को पीडित करता हुआ अङ्गों को धनुष के समान क्षुका देता है और उनमे आक्षेप और मूर्छा छापन करता है । भ्रास-प्रश्वास मे श्वी फिल्नाई होती है, आँखें कभी छुली, कभी

अधुली रहती है, रोगी बेहोशी की हालत में कबूरत के समान घुर-घुर का शब्द करता है। आक्षेपक की इस अवस्था को अपतन्त्रक कहते हैं।

अपतानक—जिस आक्षेपक में दृष्टि स्वब्ध (निश्चल) हो जाती है, सज्जा का नाश हो जाता है, कण्ठ से अव्यक्त शब्द निकलता है, दौरे स मस्तिष्क के मुकर झो जाने पर स्वस्थ और पुन दौरा आ जाने पर मूर्छा हो जाती है, तो वायुकृत इस भयज्जर रोग को अपतानक कहते हैं।

दण्डापतानक-दण्डक—जब शरीर की समस्त धमनियो (वातनाडियो) में कफयुक्त वायु स्थानसंश्रय कर लेता है, तो शरीर दण्ड के समान सीधा और कड़ा हो जाता है, उसे दण्डापतानक कहते हैं।

वक्तव्य—इस अवस्था में शरीर की समस्त सकोचक (Flexors) तथा प्रसारक (Extensors) उभयविधि पेशियो में कड़ापन आ जाने से दोनो प्रकार के कार्य (सकोच तथा प्रसार) नहीं होते, जिससे शरीर दण्ड के समान कड़ा रहता है। चरक ने इसे दण्डक नाम दिया है।

धनु-स्तम्भ—जब प्रकुपित वायु शरीर को धनुष के समान झुका दे, तो उसे धनुःस्तम्भ कहते हैं।

आम्यन्तरायाम (धनु स्तम्भ)—कुपित तथा वेगयुक्त वायु जब अगुली, गुल्फ, उदर, हृदय तथा गले में स्थित होकर वहाँ के स्नायुप्रतान (कण्डराओं और पेशियो) में आक्षेप उत्पन्न करता है, तब रोगी की आँखे स्थिर हो जाती है तथा जबडे जकड़ जाते हैं, पसलियो में टूटने की-सी पीड़ा होती है एवं रोगी कफ का वमन करता है। इस प्रकार रोगी भीतर उदर की ओर धनुष के समान झुक जाता है, उसे आम्यन्तरायाम कहते हैं।

बाह्यायाम (धनु-स्तम्भ)—बाह्य (पृष्ठ) भाग की स्नायुओं (कण्डराओं एवं पेशियो) में स्थित वायु कुपित होकर शरीर को जब वाढ़ (पीठ) की ओर झुका देता है, तो उसे बाह्यायाम कहते हैं।

अभिधातज आक्षेपक—कफयुक्त या पित्तयुक्त वायु अथवा अकेले केवल वायु ही प्रकुपित होकर आक्षेपक को उत्पन्न करता है तथा चोट लगने पर प्रकुपित वायु चौथे अभिधातज आक्षेपक को उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—(१) इन आक्षेपकों में नस्य, मस्तिष्क पर तेल की मालिश, सरपंक आहार, उपनाह, नाडीस्वेद, निवातस्थान में निवास, मासरस, भधुर-अम्ल-लवण रस युक्त औपध तथा आहार का प्रयोग करना चाहिए। (२) स्नेहनार्थ नारायण तैल की मालिश तथा पान करावे। (३) अभ्यज्जु में विमाशु तैल य हिमसागर तैल या विष्णु तैल अथवा जरधौत घृत का प्रयोग करे। इन तैलों की शिर पर मालिश करावे और शरीर में महाराज प्रमारणी या महाभाप आदि वातव्य तैलों की मालिश करावे। (४) रोगी की चारपाई के नीचे अगीठी में मादेश्वर धूप के हारा धूपन की व्यवस्था करे, जिरासे धूपन भारे शरीर में लगे

और इसे नाक से भी सूधे । (५) सर्वाङ्ग में सैन्धवादि तेल एवं महालक्ष्मीनारायण तेल (यो० २०) का अभ्यग कर नाडीस्वेद करे या शालबज स्वेद का प्रयोग करे । (६) वस्ति-प्रयोग—दशमूल, बला, रासना, असगन्ध आदि वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ में वातघ्न नारायण आदि तेल, सेंधानमक और मधु का योग कर उचित मात्रा में वस्ति के प्रयोग से लाभ होता है ।

छ्यवस्थापन

आक्षेपक-अपतन्त्रक में—

१. प्रात-मध्याह्न-साय—

अपतन्त्रकारि वटी	१ ग्राम
झाही वटी	६०० मि० ग्रा०
वृहद्वारचिन्तामणि	५०० मि० ग्रा०
मृगशृङ्ख भस्म	१ ग्राम
रसराज रस	५०० मि० ग्रा०

मधु से ।

३ मात्रा

बाद में—मास्यादि क्वाथ १०० मि० ली० पीना ।

मास्यादि क्वाथ—जटामसी १५ ग्राम, नागोरी असगन्ध १५ ग्राम, खुरामानी अजवायन १० ग्राम, भीठा बच ५ ग्राम, भीठा कूठ ५ ग्राम तथा शख्पुष्पी १० ग्राम लेकर कूटकर १ लीटर पानी में पकावे । चौथाई बचने पर छान ले । इसे मधु डालकर पीये ।

२ भोजनोत्तर २ बार—

सारस्वतारिष्ट ४० मि० ली०/२ मात्रा समान जल के साथ पीना ।

३ शिर मे—हिमसागर या विष्णु तेल की मालिश ।

४ शरीर मे—प्रसारिणी या महामाष तेल का अभ्यङ्ग ।

५ रात मे सोते समय —नारायण चूर्ण ५ ग्राम सुखोष्ण जल से ।

६. दिन मे २-३ बार और वेग के समय कट्टफल नस्य दे ।

अपतानक—

१. दिन मे ३ बार—

वृहद्योगराजगुरुगुल	१ ग्राम
सिद्धमकरछ्वज	३०० मि० ग्रा०
रसराज रस	३०० मि० ग्रा०
मृगभस्म	१ ग्राम

३ मात्रा

असगन्ध चूर्ण १ ग्राम और मधु से ।

२. भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट

४० मि० ली०

२ मात्रा

समान जल से पीना ।

३. अभ्यग—कुञ्जप्रसारिणी तैल ।

४. रात में छागलाद्य धृत
या

दण्डमूलादि धृत १० ग्राम, दूध में पीना ।

५. १ बजे व २ बजे दिन में—

हरीतकी चूर्ण	मिलित	४ ग्राम
वालवच चूर्ण		
रासना चूर्ण		
सैन्धव चूर्ण		

अम्लवेत चूर्ण }
गोधृत में खाना

दण्डापतानक—

इसमें अपतानक की तरह औषधें दे । विशेषकर तीक्ष्ण नस्य के लिए श्वासकुठार रस या कट्टफल नस्य का प्रयोग करे ।

घनुःस्तम्भ—

१ दिन में ३ बार—

वृद्धद्वातरगजाइकुश	३०० मि० ग्रा०
रसराज	२०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	ई ग्राम
प्रतापलङ्घेश्वर	ई ग्राम
सिन्दुवार स्वरस और मधु से ।	<u>३ मात्रा</u>
२-३ बार ४-४ घण्टे पर ।	

२ अथवा—

मल्लसिन्दूर	३०० मि० ग्रा०
समीरपञ्चग	३०० मि० ग्रा०
वृद्धद्वातरचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	५०० मि० ग्रा०
अदरक के रस और मधु से ।	<u>३ मात्रा</u>
३ १ बजे दिन में—छागलाद्य धृत १५ ग्राम गोदुरध में ।	

४. अस्थंग—

महाराजप्रसारिणी

या

महानारायण तैल की मालिश करावे ।

५. स्वेदन—वारहर द्रव्यों की पोटली से स्वेदन कराना चाहिए ।

आस्थन्तरायाम-बाह्यायाम—

१. प्रात्-साय—

महायोगराज गुणुलु	५०० मि० ग्रा०
मर्हलसिन्दूर	२०० मि० ग्रा०
सतराज	२०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	४०० मि० ग्रा०

सिन्दुवार पत्र स्वरस और मधु से । २ मात्रा

२. ९ बजे व २ बजे दिन—

नवग्रह रस	३०० मि० ग्रा०
सुवर्ण समीरपञ्चग	३०० मि० ग्रा०
वारकुलान्तक	३०० मि० ग्रा०

आद्रेकस्वरस व मधु से । २ मात्रा

३. भोजनोत्तर दोनों समय—

दशमूलारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल से ।	२ मात्रा

४. अस्थंग—

महामाष तैल, महाराजप्रसारिणी तैल या

महाविषगर्भ तैल की मालिश करे ।

५. स्वेदन—

महाशाल्बग स्वेद (शा० स०) का प्रयोग करे ।

६. रात में सोते समय—

एरण्ड तैल २५ मि० ली०

२५० मि० ली० सुखोष्ण गोदुग्ध में दे ।

(३९) पक्षवध-एकाङ्गरोग-सर्वाङ्गरोग—पक्षाघात या पक्षवध—अपने कारणों से कुपित वायु जब शरीर के आधे भाग में अधिष्ठित होकर सिराओं (वारादि वाहिनियो) तथा स्नायुओं को सुखाकर शरीर-बन्धनों को शिथिल करता हुआ मनुष्य के आधे शरीर की क्रिया एवं चेतना को नष्ट कर देता है, तो उस स्थिति को कुछ लोग एकाङ्गरोग और कुछ लोग पक्षवध कहते हैं । इसे ही पक्षाघात कहा जाता है ।

इसी प्रकार जब प्रकुपित वायु शर्वंगनीयत होता तथा समस्त शरीर की क्रियाशीलता को नष्ट कर देता है, तो उने नवांच्छ्रुतोग भलते हैं। पक्षवध को एकाङ्गवात् या ब्रह्माङ्गवात् और नवांच्छ्रुतोग को नवांच्छ्रुत्यात् कहते हैं।

पक्षवध में पित्त-फकानुबन्ध—पक्षवध में वायु के गाथ गित्त का अनुबन्ध होने पर दाह, गर्भी और मूच्छी, ये लक्षण होते हैं। उमा कफ का अनुबन्ध होने पर शारदा, शोष और भारीपन होता है।

पक्षवध-प्रकार—यह चार प्रकार ता ही नहीं है—चेष्टावह नस्थान के विकास न्यूल के बनुमार अगपात (Paralysias) या विश्रिति को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१ एकाङ्गवात् (Monoplegia)—इसमें जिन्हीं एक अग वा घात होता है।

२ पक्षवध या अघांगवात् (Hemiplegia)—उसमें शरीर के दक्षिण या वाम भाग के प्रत्येक अग का घान होता है। शिर में लेकर पैर तक शरीर का आधा भाग लम्बाई में निपिक्ष्य हो जाता है।

३ सर्वांगवात् (Diplegia) इसके प्रभाव में नमूर्ण शरीर में क्रियाहीनता हो जाती है।

४ अधरांगवात् (Paraplegia)—उसमें नमर के ऊपर का भाग या कमर के नीचे का भाग निपिक्ष्य हो जाता है। प्रायः नमर में लेकर नीचे पैर तक का भाग ही निपिक्ष्य होता है। इसमें यज्ञत्व और पगुत्व हो जाता है।

पक्षवध-सम्प्राप्ति—प्रकुपित वायु मिरा तथा अन्युओं से स्थानसंश्रय करके उनका शोषण कर देता है, जिसमें एक तरफ का आधा शरीर कार्य नहीं कर पाता। इसमें दूष्य—रम, रक्त और मास होते हैं। मिरा-मवोच में पोषणाभाव के कारण मास का क्षय होने लगता है।

लक्षण—१. शरीर के आधे भाग में क्रियाहानि, २. सिरा-स्नायु शोष, ३. आक्रान्त भाग स्थिर, मकुचित और कृश हो जाता है।

चिकित्सा—

१. अभ्यङ्ग—वलारैल का शरीर में अभ्यङ्ग करना चाहिए और वलारैल को १५-२० ग्राम की मात्रा में नासिका द्वारा पान कराना चाहिए और जो बचे, उसे मुख से पान करावे।

२. महामाप तैल, महाराजप्रसारिणी तैल, महानारायण तैल अथवा विष्णु तैल या सैन्धवादि तैल या महाविष्णु तैल का मर्वांग्ग में अभ्यङ्ग करना चाहिए।

३. स्वेदन—

४. महाशाल्वण स्वेद (शा० स०)—इसकी ओषधों को पोटली में बाँधकर, वारहर तैल से अभ्यङ्ग के बाद सेंक करना चाहिए।

४. रुक्षता में—महानारायण तैल का अभ्यग करे और नस्य भी देवे । उगलादृष्ट या अश्वगन्धाद्य घृत या शतावरी तैल १५-२० ग्राम सुखोष्ण गोदुध में मिलाकर प्रात या रात्रि में सोते समय पिलावे ।

५. विबन्ध में—रास्नादि क्वाथ ५० मि० ली० में २०-२५ मि० ली० एवं तैल मिलाकर प्रात काल पिलावे अथवा तीक्ष्ण विरेचन तथा वस्त्र का प्रयोग कर चाहिए ।

६. अवगाहन एवं परिषेचन—वारहर द्रव्यो (धूतूर, मेडडी, मदार, रास्ना, वस्त्रियार, असगन्ध आदि) के क्वाथ को सुखोष्ण कर किञ्चि टव में भर कर उसमें अभ्यग कराकर, रोगी को वृछ समय बैठावे ।

७. पौष्टिक आहार—दण्डमूल के क्वाथ में आनूप जीवो का माम या मासमधार जीवो का मास पकाकर उसको छानकर इस निकालकर उस मासरम की धी में ठींककर उसमें दही, काञ्जी, त्रिकटु चूर्ण और नमक मिलाकर हुचिकर बनाकर खाने को देवे ।

८. रसोन-प्रयोग—मसाले में पीसकर और चटनी बनाकर भोजन के साथ लहसुन खिलावे । 'रसोनपिण्ड' बनाकर खिलावे या दाल को लहसुन से छोड़कर दे । एवं गाँठबाला लहसुन अधिक गुणकारी है । प्याज का प्रयोग भी लाभकर है ।

९. क्वाथ और नस्य—माषदलादि पाचन—उडद, वस्त्रियार की जड़, केंवाच के बीज, रोहिष धास, रास्ना, असगन्ध, एण्डमूल की छाल—मधी को ममभाग में कुल २५ ग्राम लेकर इलीटर जल में पकावे, १२५ मि० ली० बचने पर छान ले । उसमें धी में भूनी हीग १२५ मि० ग्रा० और पिसा हुआ सेघानमक १ ग्राम डालकर सुखोष्ण कर नासिका से पान करावे । नाक से न हो, तो मुख से पिलावे और नाक में इसका नस्य देवे ।

१०. मूर्च्छा में—ब्राह्मीवटी १२५ मि० ग्रा०, चिन्तामणि चतुर्मुख १२५ मि० ग्रा० और योगेन्द्र रस १२५ मि० ग्रा०/१ मात्रा । ब्राह्मी-स्वरस, मधु या मास्यादि क्वाथ से दे । शिर में पुराने धी में कपूर मिलाकर मालिश करावे ।

११. अनिद्रा में—रात में सोते वक्त सर्पगन्धा घनवटी ५०० मि० ग्रा० दूध से दे ।

ध्यवस्थापत्र

१. प्रात , माय , मध्याह्न—

रसराज रस	५०० मि० ग्रा०
मल्लसिन्दूर	२५० मि० ग्रा०
महायोगराजगुग्गुलु	१ ग्राम
शृगभस्म	१ ग्राम
	३ मात्रा

२. सिन्दुवार पत्र स्वरस और मधु से ।

३. आधा घण्टे बाद—महारास्नादि क्वाथ ५० मि० ली० पीना ।

२. ९ बजे व २ बजे—

वातकुलान्तक रस	२५० मि० ग्रा०
वृहद्वात्चिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
मसीरपन्नग रस	१०० मि० ग्रा०
आद्रंक स्वरस और मधु में।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट	४० मि० ली०
वरावर जल से पीना।	२ मात्रा

४. रात में सोते वक्त—

एरण्डपाक २० ग्राम अथवा—

रमोन पिण्ड ७ ग्राम मुखोष्ण जल से।

५. अभ्यङ्गार्थ—

बलरैल या महामापरैल या महानारायण रैल का प्रयोग करे।

वक्तव्य—प्रलाप में—द्राह्योवटी एव कस्तूरीभैरव रस दे। हृदयदीर्घत्य में—वृहत्कम्तूरीमैरव २०० मि० ग्रा० आदि के रस व मधु से। नाडीशैयित्य में—रसराज २०० मि० ग्रा० मधु से दे। तथा आवश्यकतानुसार अर्जुनाद्यरिष्ट, मृगमदासव, महालक्ष्मीविलास, वृहद्वात्चिन्तामणि, चिन्तामणिचतुर्सुख, स्मृतिसागर, त्रैलोक्यचिन्तामणिरस, महावातविध्वमन रस आदि का प्रयोग करे।

(४०) अदित—परिचय—जिस रोग के होने से मुखार्द्ध में टेढ़ापन और पीड़ा हो, उसे अदित कहते हैं—‘अर्दयति पीड़यति इति अदित’।

निदान—१ उच्च स्वर में भाषण करना, २ अत्यधिक कठिन पदार्थों का भक्षण, ३ अधिक हँसना या अधिक जभाई लेना, ४ अधिक भार उठाना, ५ नीची-ऊँची भूमि में शयन, ६. अति कठिन धनुष खीचना और ७ वातवर्धक आहार-विहार करना।

सम्प्राप्ति—उक्त निदानों से तथा अन्य वातप्रकोप निदानों के सेवन से प्रकुपित बायु शिर, नासिका, ओठ, हनु, ललाट और नेत्र की सन्धियों में व्याप्त होकर मुख को पीड़ित करता है और अदित रोग को उत्पन्न करता है।

लक्षण—१ मुख का आधा भाग टेढ़ा हो जाता है, २. गर्दन मुड जाती है, ३ शिर काँपने लगता है, ४ वाणी अवरुद्ध हो जाती है, ५ नेत्र, नासिका, ग्रीवा, हनु और दाँतों में भी विकृति हो जाती है, ६. विकृत पाश्वं की ग्रावा आदि में पीड़ा होती है, ७ आक्रान्त नेत्र ठीक से नहीं धूमता, ८ खाना खाते समय या पानी पीते समय खाना या जल आक्रान्त भाग की ओर से बाहर गिर जाते हैं तथा ९. दृष्टिवक्ता, वाक्-संग श्रुतिहानि, गन्धज्ञान-हानि, दन्तवेदना और शिर कम्प—ये लक्षण होते हैं।

असाध्य लक्षण—जो रोगी अत्यन्त क्षीण हो, जो आर्यों की पलकें न झपका सके, जो एकदम न बोल सके या अस्पष्ट बोले, जो रोग तीन वर्ष का पुराना हो अथवा जिसके नाक, आँख और मुख से निरन्तर स्राव निकले तथा जो कमावात में धीड़ित हो, वह अदित असाध्य होता है।

चिकित्सा-सूत्र—१. नासिका में नस्य देने के पश्चात् नाशयण रुक्ष आळना चाहिए।

२. सतर्पक मिनग्ध आहार तथा बलारुल का अभ्यग करना चाहिए।

३. कर्ण तथा नेत्रों का उर्पण करे, शिरोवरित का प्रयोग करे।

४. नाड़ीस्वेद का प्रयोग करे और जलेचर जीवों के माम की पुलिट्टम वांधे।

५. दाह और रागयुक्त अदित में सिरावेघ करे।

चिकित्सा—१. ६ ग्राम पिसे लहसुन को १० ग्राम मक्खन मिलाकर गिलावे।

२. उड्द का बड़ा मक्खन के साथ गिलाकर दूध या मासरम के नाय भोजन कराना चाहिए।

३. रसोनकल्क मिलाकर मालिश कराना लाभ करता है।

४. अभ्यग, स्वेदन, शिरोवस्त्रि, स्नेहपान, नस्य तथा भोजन के बाद घृतपान का प्रयोग करते रहना चाहिए।

५. एकपोथिया लहसुन को छीलकर रात भर मट्ठे में भिगोकर नवेरे धोकर साफ कर १ अदद चदाकर खाये और प्रतिदिन १-१ दाना बढ़ाते हुए २१ दाने तक ले जाये और क्रमशः १-१ घटाकर पुन १ दाना तक लाये।

व्यवस्थापन

१. प्रात्-मध्याह्न-साय

महायोगराज गुरगुलु	६०० मि० ग्रा०
महावातविष्वसन	३०० मि० ग्रा०
रसराज	३०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	१ ग्राम
अग्नितुण्डीवटी	५०० मि० ग्रा०

आर्द्रक स्वरस और मधु से। ३ मात्रा

तत्पश्चात् महारास्नादि क्वाथ ५० मि० ली० पीये।

२. ९ बजे व २ बजे दिन—

रसोनपिण्ड १० ग्राम

सुखोष्ण जल से।

३. भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट ५०० मि० ली०

समान जल मिलाकर पीना। २ मात्रा

४. नदेरे-गाम भोजन ने पहुँचे —

कट्टफल नम्बू

और

महानारायण ऐंज का अध्ययन नहर-वेदन रखना चाहिए।

५. चतुर्थ में शोते नम्बू —

एरुच्छुर्चु

३० मिठू की०

सुखोल्ल गोदुराष में दे ।

६. बह्याय व्यवनेह

२ ग्राम

महागिरापलादि चूप्तं

१ ग्राम

दोनों को मिलाकर भी ना य ३-५ बाट चाढ़ना चाहिए ।

(४१) गृध्रसी (Sciaucca)—परिचय—श्रोणिमण्डल (स्फ़िक्स्प्रदेश) से आरम्भ होकर अमृता, कट्टि रेत, पिछड़े भाग, ऊर, जानु, जघा तथा पैर तक जाने वाली विशिष्ट पीठा को 'गृध्रसी रोग' कहते हैं ।

निदान—मामान्य बाठप्रकोपक निदान ही इनमा भी निदान है एवं मृदु शब्द्या या आसन पर मोये या बैठे रहना और नामगान अधिन चलना भी उनका निदान है ।

स्प्राप्ति—स्वप्रकोपक गान्धी में प्रकृतिप्रिय वात अथवा बातकफ कटिपृष्ठ, ऊरु, जानु, जघा और पैर में शूल उत्पन्न करना है । तब गृध्रसी रोग नी उत्पत्ति होती है । गृध्रसी नाड़ी में क्षोभ या शोथ होने में गृध्रसी रोग होता है ।

गृध्रसी नामक नाड़ी स्फ़िक्स्प्रदेश में नियन्त्रित है और उसकी शाखाएँ पैरों तक जाती हैं, अरु एवं वेदना भी स्फ़िक्स्प्रदेश में प्रारम्भ होकर अमृता तक जाती है ।

परीक्षा—रोगी को पीठ के बल उत्तान मुलाकार पैरों को फेंका दे, फिर रोगी को अपने पैरों को आमान की ओर उठाने को कहे । यदि रोगी पैर नहीं उठा पाता या कम उठा पाता है, तो उसे वेदना का अनुभव होगा और जब चिकित्सक रोगी के पैरों को ऊपर उठाकर शिर की ओर मोड़े, तो गृध्रसी नाड़ी पर दबाव पड़ने से जोर से दर्द होगा । तब गृध्रसी रोग होने का निश्चय करे ।

लक्षण—इसके होने से पैरों में जकड़न, पीड़ा, सूई चुभने जैसा दर्द और फड़कन होती है । पीड़ा का प्रसार कमर के पीछे से शुरू होकर ऊरु, जानु, जघा और पैरों तक होता है । इन स्थानों में स्तुव्यता और स्पन्दन भी होता है ।

बातज गृध्रसी—इसमें सूई चुभने जैसी पीड़ा होती है, शरीर टेढ़ा हो जाता है, घुटने, कमर तथा ऊरु की सन्धियों में फड़कन और जकड़न होती है ।

बातकफज गृध्रसी का कारण अग्निमान्द्य है और उसमें तन्त्रा, मुख से लाला-जाव तथा भक्तद्वेष हो जाता है ।

यह रोग प्राय एक तरफ होता है, किन्तु कभी-कभी दोनों तरफ भी हो जाता है ।

चिकित्सासूत्र—

१. गृधसी रोग मे कण्डरा और गुल्फ के बीच मे सिरावेघ तथा अग्निकर्म करना चाहिए ।

२. बालुकास्वेद करना चाहिए और अभ्यग मुलायम हाथो से करे ।

३. उष्ण उपनाह (पुल्टिस) वाधना चाहिए ।

४. रोगी को चौकी पर सुलाना चाहिए, चारपाई पर नहीं ।

५. अनुवासन और निरुह वस्ति का वारी-वारी से प्रयोग करना चाहिए ।

चिकित्सा—

१. अभ्यंग—सैन्धवादि तैल या महाविषगर्भ तैल की मालिश करे ।

२. स्वेदन—एरण्डबीज की पोटली से वारज मे और वारकफज मे सेधानमक की पोटली से विशेष स्वेदन करे ।

३. उपनाह—मेउडी-मदार-धतूर-बकायन-सहिजन-एरण्ड आदि की पत्तियो के कल्क को सुखोज्ञ कर आवश्यकतानुसार पुल्टिस वाधना चाहिए ।

४. कोलादि लेप—झर्वेर, कुलथी, देवदारु बुरादा, रासना, उड्ड, तीसी, रिल, रेडी के बीज, कूठ, घोडबच, सोवा और जौ—इनका चूर्ण बनाकर सिरका मे पीसकर पोटली बनाकर सेक करे तथा पुल्टिश वाधे ।

५. लशुनक्षीर—छीले हुए लहसुन ३० ग्राम लेकर पीसकर २५० मि० ली० दूध और १ लीटर जल ढालकर पकावे, जब मात्र दूध वचे तो छान ले । आधा सवेरे तथा आधा शाम को पीना चाहिए ।

व्यवस्था-पत्र

१. प्रात भूष्याह्न-साय—

महायोगराज गुग्गुलु	१ ग्राम
समीरपन्नग रस	३०० मि० ग्रा०
रसराज	३०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	१ ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	५०० मि० ग्रा०

सिन्दुवार स्वरस मधु से ।

३ मात्रा

२ वाद मे—मद्वारास्नादि व्याय ५० मि० ली० पीरी ।

३ ९ बजे व २ बजे दिन --

रमोनपिण्ड	२० ग्राम
	२ मात्रा

सुखोज्ञ जल से ।

४ भोजनोत्तर—

अश्वगन्धारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

१. गुरु में दोहरे मार्ग

द्रव्यमय रसी

१ प्रति

पुरुषोंमध्ये ।

१ मात्रा

२. स्त्रीयामें काँच स्ट्रीर इन्डियन रसी को ।

प्राचीनतम्यमें तुः—स्ट्रीर जार्मनी को ।

वायुस यात्-चिकित्सा

वायुस यात्-चिकित्सा विद्याएः—प्रथम दोहरे में अग्नि ही या जिन दोनों तरफ सूक्ष्म रसी, तीसरी तरफ वायु का वायुर प्राचीन विद्याएः या यात्-चिकित्सा के यावन्ताम यामान्य वायुस यात्-चिकित्सा की खोजी थी ।

विद्यारूप यात्-चिकित्सा

विद्यारूप यात्-चिकित्सा में दोहरे दोहरे रसी द्वारा उत्पादन का प्रयोग करे तथा वायरवायी जीवसीय घृत का व्युत्पत्ति रसी का उत्पन्न उत्पादन है । पश्य में जात्युल पृथुनीर्वाही तथा लाल रसी, लाल अम्बर, धारामार्फिन, शीशरिण (निकिंवालो) विद्यारूप योग वायु एवं इन्डियन वायु वायरवायी वायरवायी में पायाया दूध विकल्प यात्-चिकित्सा ।

परिवेषक तथा स्नान—प्रायुदार्थित रुद्र, रसी तथा, दूध प्रयोग स्नान अथवा नीनन जैसे दोहरीकार दोहरी तथा नीनन हयना चाहिए ।

कासायुत यात्-चिकित्सा

इसमें गुणा रुद्र, रिस्तामिन, रमन, विरेचन रगना तथा जी गे बने बायर, जागर द्रीवी का गांग, पुरगना घन, गरगों का तेल और चिल का प्रयोग हित्तर है ।

पित्तकफायूत यात्-चिकित्सा

वायुरोग गे पित्त-कफ थोनी ता गगर्ग होने पर गर्वप्रथम पित्त का उपचार करना चाहिए ।

पञ्चकम-चिकित्सा—आमाजय में कफ हो तो वमन और पववाण्य में हो तो विरेचन एवं पित्त यपूर्ण गरीर में कुपित हो तो विरेचन कराये ।

वस्ति-प्रयोग—स्वर्दन ने द्रवीभूत कफ पववाण्यगत हो अथवा पित्त के लक्षण शरीर में प्रकट हो तो कफ और पित्त को वस्ति द्वारा निकालना चाहिए ।

कफानुगत वात हो तो उप्पन गोमूत्रयुक्त निरूहवस्ति और पित्तानुगत वात हो तो दूध के माथ निरूहवस्ति तथा मधुर औपधो से सिद्ध तेल में अनुवासन वस्ति देनी चाहिए ।

नस्य—यदि कफ के माथ वात शिर में चला गया हो, तो धूम और नस्य का प्रयोग करना चाहिए ।

रक्तावृत वात-चिकित्सा

यदि वात, रक्त से आवृत हो तो उसकी चिकित्सा वातरक्तवत् करे ।

आमावृत वात-चिकित्सा

यदि वात आम से आवृत हो तो प्रमेह-वात एव मेदनाशक चिकित्सा करे ।

मांसावृत वात-चिकित्सा

इसमें अभ्यग, स्वेदन एव मासरस, दूध, धूत, तेल आदि स्नेहों का प्रयोग हितकर है ।

अस्थि-मज्जावृत वात-चिकित्सा

इसमें महास्नेह—धूत-तैल-वसा-मज्जा का प्रयोग करना चाहिए ।

शुक्रावृत वात-चिकित्सा

इसमें हर्षण तथा बल-वीर्यवर्धक आहार का सेवन करना चाहिए ।

अज्ञावृत वात-चिकित्सा

इसमें वसन द्वारा अज्ञ को निकाल दे और दीपन-पाचन औषध एव लघु अज्ञ दे ।

मूत्रावृत वात-चिकित्सा

इसमें मूत्रल औषध दे, उत्तरवस्ति दे और स्वेदन करे ।

मलावृत वात-चिकित्सा

एरण्ड तैल का विरेचन दे, स्निग्ध अज्ञ लिखावे तथा उदावर्त रोग की उर्ख उपचार करे ।

ऊरुस्तम्भ

परिचय—इस रोग में रोगी अपने पैरों को अपनी इच्छानुसार नहीं हिला-डुला पाता है । मेद के साथ कफ जब वात-पित्त को दबाकर ऊरुप्रदेश में आकर ऊरु को स्त्रब्ध, भारी, निश्चल और थकान से भर देता है, तो रानों में भारी बोझ तथा अकर्मण्यता हो जाती है । बोलचाल की भाषा में ऊरु को जघा कहते हैं और उस जघा में आम, मेद और कफ की स्थिति सुदृढ़ होने से जघा अविघेय परिस्पन्द (गतिशीलता रहित) हो जाती है । जघा जकड़ जाती है और उसके सचालन पर अपना वश नहीं होता ।

सन्तवम्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता, चिकित्सा-स्थान अ० २७ ।

२ सुश्रुतसहिता, चिकित्सा-स्थान अ० ५ ।

३ अष्टाङ्गहृदय, निदान-स्थान अ० १५ ।

४ माधवनिदान, ऊरुस्तम्भ ।

१० पश्चकर्म-नियोग—इनके लगत, विरेन्द्र और उन्हिं के प्रयोग में समोद्देश निषिद्ध है, क्योंकि इसका लाभगत ग्रान्थित का लगत द्वारा, जामाचागगत कफ-पित्त वा विरेन्द्र द्वारा और एक्सामिनेट ग्रान्थित का लगत द्वारा नुम्फूर्क निहंरण द्विग्राम का लकड़ा है, जिन्हें खाम और बैंड द्वारा अकड़े गये लकड़े तथा जमा वें नियु दोष लगत, विरेन्द्र या उन्हिं के द्वारा नहीं लिया जा गलते हैं। इन इमार अस्त्रवृत्त गतिहार्द में नियु ३-४ भागानी ग नहीं लिया जा सकता, उभी प्रसार लग्नामध्य योग में इन सबका लंगामध्य दोषों का लगत, विरेन्द्र या वन्निकर्म के द्वारा निर्देश नहीं लिया जा सकता।

११ शार का प्रयोग, उत्तिर्दो या प्रयोग, नमु और छार के शर्वत का प्रयोग और 'श्वेयात्मस्तिष्ठनी' का प्रयोग इन ग्रान्थ-वाक्यान् हैं।

चिकित्सा

१. चन्द्रोदात्रीदि योग, कृत्तियोग, व्यवरीर्यादि योग, मुम्त्तादि योग, देवगार्यादि योग, तिष्ण्यादि अथवा भन्नात्तादि योग का नीमी के वन्ननुसार साक्ष और उन्हिं अनुपान में ज्ञाने से लिए प्रयोग होते हैं।

२. घड्यरण योग—विराम, इन्ड्रजी, पाता, पुटपति, अन्तीम और हरे—इनके समझाग का जूर्ण ३-३ ग्राम यी जाना में दिन में ३ शार नुग्योग जल ने प्रयोग करे।

३. शुद्ध नित्यादीप या शुद्ध नुग्युनु या पिण्डागी जूर्ण १-१ ग्राम दिन में ३ वार दग्धान् व्याथ या गोमूत्र में देना चाहिए।

४. शिक्काचूर्ण ३ ग्राम और पुटकी जूर्ण १ ग्राम/१ मादा, नवेरे-साम मधु में देना चाहिए।

५. पीनुपण्यादि नुंद, गुद्धादि नुंद, गंध्यादि नुंद या अप्टक्ट्यर रूल का १५-२० ग्राम यी जाना में पान करना चाहिए।

६. बाहु प्रयोग-उत्सादन—दीमक यी मिट्टी, करञ्ज के मूल की छाल, करञ्ज के फल और इंट का चूर्ण पूर्वोगत के समान भाग गिराकर, इसमें मालिश करावे।

७. अमगन्ध या मदार यी छाल या नीम यी छाल के चूर्ण से मालिश करावे।

८. लेप—दहमुन, जीरा, नहिजन यी छाल, काली मिर्च, सरसो, जयन्तीपत्र, काले धनूरे की जड़ की छाल, अफीम के फल का चवकल, करञ्ज के फल, असगन्ध मूल, नीम की छाल, मदार के मूल यी छाल—इन्हें समझाग में लेकर गोमूत्र में पीमकर सुखोप्त लेप करे।

९. सरसो को पीमकर कल्प बना गत भर गोमूत्र में भिगो दे और प्रात काल लेप लगावे।

१० वत्सकादि लेप—कोरथा की छाल, तुलसी की पत्ती, कूठ, अगर, धनिया, सहिजन की छाल, हुड्म की जड़, मदार का मूल, दीमक की मिट्टी और वनतुलसी, इन्हें समझाग में लेकर नमक मिले दही से पीमकर गरम कर लेप लगावे।

व्यवस्था-पत्र

१. स्वेरे-शाम —

योगराज गुरगुलु	५०० मि० ग्रा०
आरोग्यवधिनी	५०० मि० ग्रा०
शृङ्गभस्म	५०० मि० ग्रा०
अग्नितुण्डी वटी	२५० मि० ग्रा०
गोमूत्र से ।	२ मात्रा

२. ९ बजे व २ बजे दिन —

गुज्जामद्र रग	५०० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

शुद्ध हीग २५० मि० ग्रा० और रैन्धव लवण २५० मि० ग्रा० के साथ मुखोण्ण जल से ।

३. भोजन के बाद २ बार —

पिप्पल्यासव	४० मि० ली०
समान जल से पाना ।	२ मात्रा

४. रात में सोते समय —

पद्धरण चूर्ण	३ ग्राम
मुखोण्ण जल से ।	१ मात्रा

५. रुक्षतावृद्धिजन्य वातप्रकोप में

अष्टकट्टवर तंत्र १० ग्राम पाना ।

पथ्य

स्वेदन, रात्रिजागरण, शविर के अनुसार व्यायाम या टहलना, नदी या तालाब में तैरना, ककरीली जमीन या रेत में चलना हितकर है ।

भोजन में जौ, कोदो, सावा, कुलथी, सहिजन की कली, करेला, परवर, लहसुन, चौपतिया, वथुआ, वैगन, नीम के कोमल पत्ते, छाठ, आसव, अरिष्ट, मधु, कटुरिकत एवं क्यायरस प्रधान द्रव्य, यवक्षार, गोमूत्र, उष्ण जलपान, उष्ण जल का स्नान और कफनाशक द्रव्य पथ्य हैं ।

अपथ्य

गुरु-शीत-द्रव एवं स्निग्ध पदार्थ, विरुद्ध आहार, असात्म्य आहार, स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और रक्तमोक्षण —ये सब अपथ्य हैं ।

द्वितीय अध्याय

स्थौल्य, कार्य एवं कुपोषणजन्य विकार

स्थौल्य^१

परिचय—मेद और मांस की अस्वाभाविक वृद्धि के कारण जिस व्यक्ति के निम्नमें, स्तन और उदर मोटे होने से हिलने लगते हैं तथा जिसके शरीर का मोटापा गणित नहीं होता है एवं जिसमें कार्य के प्रति उत्साह नहीं होता, उसे अतिस्थूल भूले हैं और उसकी स्थूलता को स्थैत्य कहते हैं।

यह वह स्थिति है जिसमें शरीर में वसा का नचय होता है। रक्तगत वसा के अतिरिक्त अनेक ऊतकों में भी मेद-मचय होकर लोतोड्वरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्थौल्य कई प्रकार से उत्पन्न हो सकता है। जैमे—(१) सहज स्थौल्य या अपभाव से जन्मना उत्पन्न होता है। (२) अपव्य आहार-विहारजनित स्थौल्य, जैमे—चिकने मासवर्धक पदार्थ अधिकतर खाना और शारीरिक श्रम या गिरी प्रकार का व्यायाम न करना। (३) अन्त स्नानी ग्रन्थियों की क्रियासंबंध अधात् वार्षयड, पिटघुटी और एड्रोनल आदि का समुचित कार्य न पूर्ण, जिसके फलस्वरूप शरीर की चयापचयात्मक क्रिया ठीक से न होने से मेद एवं मचय होने लगता है।

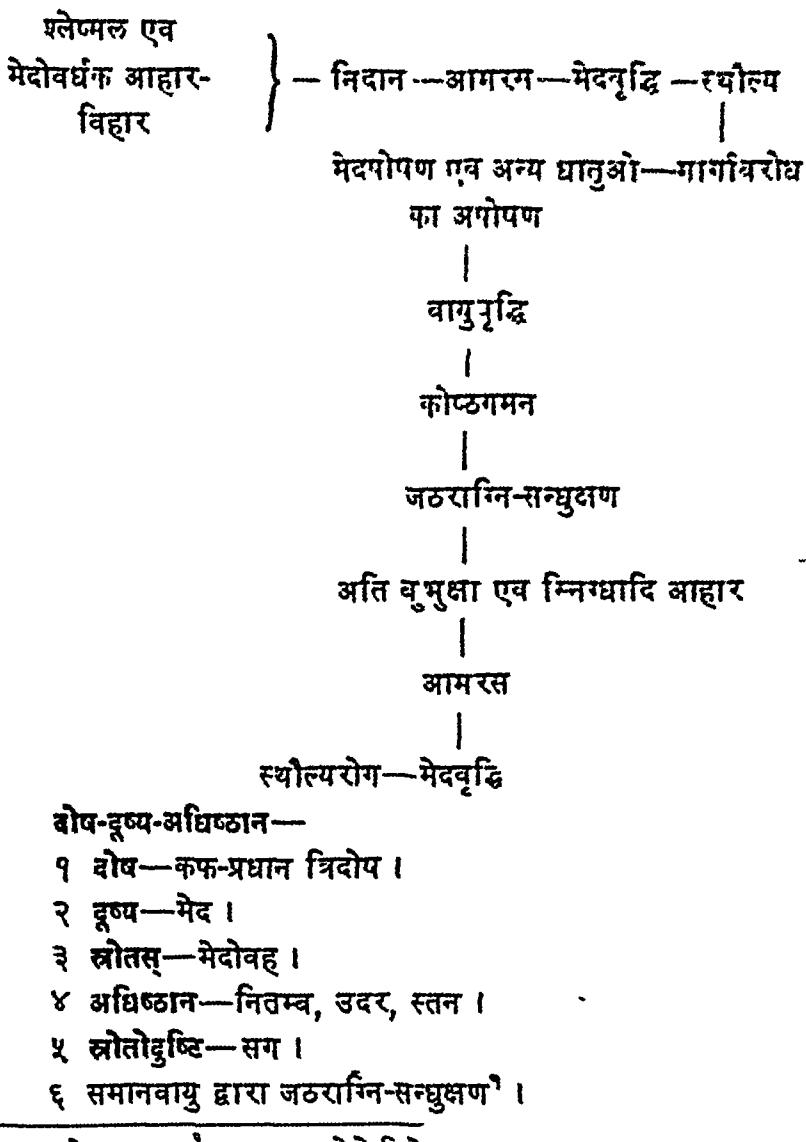
निदान

१ द्यायाम या अभाव, २ दिवाघयन, ३ निश्चिन्त रहने या स्वभाव, ४ मधुर रसार्पण या अग्नेयन, ५ अस्त पदार्थों का नेवन, ६ कफवर्धक आहार, ७ म्निग्ध रसार्पण अधिक याना, ८ मन्त्रपंच आहार का नेवन, ९ मेदस्त्री जीवों का माम १० पारुणी नामक मष या अनिनेदन आदि।

सम्प्राप्ति

लग जाती है। आहार से केवल मद की वृद्धि होती है और अन्य धातुओं का दाय होता है, तो धातुधय से वायुप्रकोण होता है (ग्रायो धातुक्षयात् कोण) और कुपित वायु (समानवायु) द्वारा जठराग्नि ता उद्दीपन होता है, पूर्व भूद्व लगती है, पूर्व खाता और पचाता है तथा उसमें मेद धातु की ही अधिक उत्तरति होती है, तथा यह क्रम चलता ही रहता है।

सम्प्राप्ति-चक्र



१. मेदसावृतमागत्वाद् वायु कोष्ठे विशेषत ।

चरन् सन्धुक्षयत्यर्दिनमाहार शोषयत्यपि ॥

तस्मात् स शीघ्र जरयत्याहारमभिकाङ्क्षाने ।

विकाराशास्त्र्युते धोरान् काश्यत्कालव्यतिक्रमात् ॥

एताहुपद्रवकरी विशेषादग्निमालतौ ।

दत्ती हि दद्वतः स्थूलं वनदावो वन यथा ॥ मा० लि०

लक्षण

१. शरीर में भेद का संशय होने से "स्थूलता होना" ।
२. भेद के अतिरिक्त अन्य धानुभी का जरीर में अप्रोपण होने से कार्य करने में असमर्थता ।
३. घृदधान, प्यास लगना, मोह और निद्राप्रवृत्ति ।
४. गति, पावर, सुधा की अधिकता, गोर, पर्यावरणीय ।
५. बैपुन-गविन का तार, जीवी-गविन की रुग्नी ।
६. मधुमेह, अन्तर्माय और हृदगोग होने की सम्भावना ।
७. जड़ा, अन्दागु, अलावल, धन के प्रति अर्णार्गजुता आदि ।
८. त्वचा के नीरे, चपा (Greater omentum), आन्त्रनिवधनी (Mesentery) तथा हृदय के नारे और दना का संशय ।
९. नक्किलता का हाल और जरीर का अव्याहनित लगन्दर गगठन ।
१०. थोड़ा ही परिश्रम करने से दम पूलने लगना ।
११. हृदयानिपान—हृदय का यान्त्रिक अपग्रनन (Fatty degeneration of the heart) होने से ।
१२. युजनी या विचनिका (Ecyma) की प्रवृत्ति ।
१३. मेदोदुषित में प्रमेह-पिट्ठा होने की सम्भावना ।

असाध्यता

भेद के अत्यधिक बढ़ जाने पर वात आदि दोष महना मयक्खर उपद्रवों को उत्पन्न करके रोगी के जीवन का नाश कर देने हैं ।

विशेष वक्तव्य—स्थूलता या ओवेसिटी (Obesity) का अस्तित्व प्राय धनाढ़ी समाज के शिष्यों, बच्चों या युवाओं में पाया जाता है । यह कुपोषणजन्य विकारों में भर्वाधिक घानक होता है । मरीं नग्न के विटामिन्स के अभाव का होना उतना खतरनाक नहीं होता, जितना कि शरीर का स्थूल या मोटा होना होता है ।

मोटे व्यक्ति को बोल्ने में जोर लगाना पड़ना है, वह अतपायु होता है और अनेक प्रकार की विकृतियों का पात्र होता है, उसमें शरीर की अपेक्षा शक्ति का हास होता है । वह टायविटीज जैसे गम्भीर रोगों की निवासभूमि होता है । उसमें पौरुष-शक्ति कम होती है । वह मायान्त्र्य अत्यधिक साध्य क्रियाकलापों के मम्पादन में भी हिचकता है । वह भावनात्मक और मानसिक तनानों से ग्रस्त होने के कारण स्वयं अपने और परिवार तथा समाज के कल्याण कार्य में वाधक होता है ।

निदान—इसका मूल कारण वशानुग्रह और वातावरण होता है । प्राय स्थूल-काय माता-पिता की सन्ताने स्थूल होती है (किन्तु यह आवश्यक नहीं ।) वाता-वरण—पारिवारिक परम्परागत समृद्ध आहार का प्रयोग करना, शारीरिक श्रम न

^१ अतिस्थूलस्थ तावदाशुपो हास, जबोपरोध, कुचल्क्यवायता, दीर्घ्य, दीर्घन्ध, स्वेद, श्वदतिमार्त्र पिपासातिथोगश्चेति अष्टौ दौपाः । च० यु० ३१४

करना, कथा-वार्ता-गपशप में समय गुजारना और धनाढ़य तथा सुखमय जीवन व्यतीत करना मोटापा (Obesity) का कारण होता है।

लिङ्ग—(Sex) आयु की वृद्धि के साथ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ मोटापे की ओर अधिक उन्मुख होती हैं। स्त्रियों में सर्वावस्था के कारण भी स्थूलता होती है, जो प्रसव के बाद घट जानी है।

भूख और पोषकतत्त्व—हाडपोथैलमस (उपाज्ञाकन्द) की निष्क्रियता से मोटापा होता है। जब उपाज्ञाकन्द के परितृप्ति केन्द्र और वभुक्षा में सन्तुलन नहीं होता, तब व्यक्ति अधिक मात्रा में आहार करने लग जाता है। कोई-कोई व्यक्ति दीर्घ आहार के आदी हो जाते हैं और अज्ञानी पुरुष अति मात्रा में पशुवत् आहार करते हैं। ऐसे लोग शरीर और वृद्धि दोनों से स्थूल होते हैं।

यदि प्रतिदिन एक-दो बार में अधिक मात्रा में भोजन करने के बजाय, चार बार में थोड़ा-थोड़ा करके भोजन किया जाय, तो वह आहार शरीर को अतन्तुलित नहीं बनाता है।

शारीरिक क्रियाशीलता—यद्यपि मोटे आदमी की ताकत अधिक हो सकती है, परन्तु वह दुबले आदमी की अपेक्षा कम क्रियाशील और आलसी स्वभाव का होता है।

मनोवैज्ञानिक कारण—मोटे व्यक्ति प्राय मन क्षोभ से परेशान रहते हैं और अपनी मन स्थिति पर कावू पाने के लिए खाने-पीने की ओर झुक जाते हैं और खा-पीकर अपने मन को तसल्ली दे लेते हैं। इस प्रकार उनकी अधिक खाने की आदत मोटापा ला देती है।

स्थूलता के उपद्रव—मोटापा शरीर के यन्त्रों के कार्यों को अस्त-व्यस्त कर देता है। यह मेटाबोलिज्म प्रणाली को और हृदय-रक्तवाहिनी के कार्य को अव्यवस्थित बना देता है तथा जीवन की अवधि को क्षीण कर देता है।

मोटे मनुष्य के पैर मोटे हो जाते हैं, घुटनों में अस्थिसन्धियोथ एवं नितम्ब तथा कटिप्रदेश में स्थूलता दो जाती है। मोटे व्यक्ति में गतिशीलता कम होती है और वे दुर्घटना में फँस सकते हैं। मोटे व्यक्ति के रक्त में कोलेस्ट्रोल (Cholesterol) और ट्रिग्लीकेरायड (Triglyceride) की मात्रा अधिक होती है। उनके पित्ताशय में पथरी होने की अधिक सभावना रहती है। स्थूलता से मधुमेह और आमवात भी होते हैं। स्थूल व्यक्ति प्राय तनावयुक्त होता है एवं उसके हृदय को अधिक कार्य करना पड़ता है। मोटे आदमी के जीवन की दोषहरी में (मध्यायु में) एञ्जाइना पेक्टोरिन और कार्डियक-फ्लेयोर के आक्रमण सभावित होते हैं।

चिकित्सा-संदेश—रोगी को रोग के उपद्रवों और सभावनाओं तथा रोग के दूरीकरण के विषय में प्रशिक्षण देना चाहिए। उसे रोग के स्वभाव और उसके दुष्परिणाम से बचने की शिक्षा देनी चाहिए। रोगी को प्रशिक्षित करने के लिए चिकित्सक में क्षमता, चतुरता, प्रगत्यभता, दक्षता और प्रोत्पादन होना चाहिए।

रोगी के परिचारक, नेवक और भोजन-दाता को भी उचित पथ्य और विहार आदि की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए।

बुछ रोगी ऐसे भी मिलते हैं, जो अपनी जिम्मेदारी स्वयं समझते हैं और अपना शरीर-भार घटाने का उपक्रम भावधानी ने बरतते हैं, फिर भी चिकित्सक का उत्तरदायित्व है, कि वह रोगी को उचित परामर्श देता रहे और अपना बरद हस्त तब तक स्थापित रहे, जब तक कि रोगी का शरीर और स्वास्थ्य सामान्य न हो जाये।

रोगी के शरीर में जब स्टैण्डर्ड साउज के पहनावे बेंटने लगे, वह तैरने या अन्य शारीरिक श्रम के कार्य आनन्दी से करने लगे, तो स्थिति सामान्य समझनी चाहिए।

रोगी के दैनिक आहार को नन्तु लित रखना चाहिए। आहार में अलाभकर पदार्थों को अनिवार्य रूप से बर्जित करना चाहिए। जैमे मधुरेह आदि गमीर रोगों में पथ्य का भावधानी ने पालन करना अत्यावश्यक होता है, उसी प्रकार इसमें कडाई के साथ आहार पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

व्यायाम—नियमित रूप से शारीरिक श्रमजनक कार्य करना चाहिए। यदि अधिक श्रम न हो पावे, तो ठहरना, बागवानी, तैरना और हठयोग के स्थूलता कम करनेवाले आनन्द करने चाहिए। थोड़ा-बहुत श्रमजनक कार्य अवश्यमेव करना चाहिए।

प्रतिषेध—आयुर्वेद में बतलाये गये अपथ्य आहार-विहार का अनिवार्यत परिवर्जन करना चाहिए। रोगजनक कारणों का कडाई से त्याग करना चाहिए। चिकित्सक को शिशु, वालक या वयस्क स्थूल व्यक्ति के बजन का रिकार्ड रखना चाहिए, जो थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तराल पर लिया गया हो। रोगी को मोटापे से होनेवाले खतरे से सचेत करते रहना चाहिए, जिससे वह समुचित आहार-विहार के प्रयोग से अपने को सामान्य बनाने में सहायता ले सके।

मोटापा हटाने के उपलब्ध उपकरणों के प्रयोग से अपने शरीर-भार को सन्तुलित रखने में लापरवाही कभी भी नहीं बरतनी चाहिए।

आयुर्वेद में बतलाये हुए औषधयोग और प्रयोग निश्चयपूर्वक लाभकारी हैं। उनका प्रयोग तब तक करना चाहिए, जब तक कि शरीर सामान्य स्थिति में न आ जाये।

चिकित्सासूत्र

- १ निदान का परिवर्जन करना चाहिए।
- २ देर से पचनेवाला भारी पदार्थ और कर्षणकारक पदार्थ का सेवन कराये।
- ३ वार, कफ तथा चर्वी को नष्ट करनेवाले अन्न (जौ, साँवा-कोदो आदि) दे।
- ४ मधु का शर्वर फिलाना चाहिए।
- ५ रुक्ष, उष्ण एवं तीक्ष्ण द्रव्यों से नियमित वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

६. रुक्ष, उज्ज्ञ, तीक्ष्ण द्रव्यों से वना उबटन लगाना चाहिए।
७. मक्खन निकाला हुआ मट्टा पीने के लिए देना चाहिए।
८. अधिक जागना, अधिक मैथुन, अधिक व्यायाम, पैदल चलना, काम में लगे रहना और अपने कर्तव्य के प्रति सजग, सावधान तथा चिन्तनशील रहना स्थूलता को नष्ट करता है।
९. तीक्ष्णाम्बिन के शमनार्थ गुरु आहार आदि का प्रयोग करे।
१०. मूत्रल औषधियों और गुग्गुलु का प्रयोग करना चाहिए।
११. उपवास, कर्षण और सशोधन उपचार करना चाहिए।

चिकित्सा

१. शुद्ध शिलाजीर १ ग्राम/२ मात्रा सबेरे-शाम अग्निमन्त्र के क्वाथ से देवे।
२. अमृतागुग्गुलु १ ग्राम/२ मात्रा सबेरे-शाम त्रिफला के क्वाथ से देवे।
३. अूषणाद्य लौह १ ग्राम/२ मात्रा सबेरे-शाम मधु से देना चाहिए।
४. सबेरे-शाम आरोग्यवर्धिनी वटी १ ग्राम/२ मात्रा भ्रह्मचिंजष्ठादि क्वाथ से देवे।

५. विडङ्गादि लौह २५० मि० ग्रा०, की १ मात्रा, दिन में २ बार गोमूत्र के साथ देवे।

६. तीक्ष्णलौह भस्म २५० मि० ग्रा०, त्रिकटु चूर्ण २ ग्राम, विडङ्गचूर्ण १ ग्राम/१ मात्रा सबेरे-शाम मधु से देवे।

७. वडवाम्बिन लौह २५० मि० ग्रा०/२ मात्रा, सबेरे-शाम मधु से देवे।

८. चब्बाद्य सत्तुक—चब्ब्य, जीरा, सोठ, परिच, पीपर, धी में भुनी हींग, सोचर नमक, चित्रक की छाल, इन्हे समभाग लेकर भहीन चूर्ण करे। यह चूर्ण ३ ग्राम तथा जौ का सत्तू ५० ग्राम लेकर दही के पानी में घोलकर सबेरे-शाम सेवन करावे। अथवा—

९. व्योषाद्य सत्तुक—जौ का सत्तू २०० ग्राम तथा व्योषाद्य चूर्ण, तिल-चैल, धूत और मधु ३-३ ग्राम लेकर एक मे मिलाकर पानी में घोलकर दिन में एक बार पिलाना चाहिए।

१०. स्वेदहर एवं दुर्गन्धनाशक लेप—हरीतकी फल का वक्कल, लोध, नीम की पत्ती, आम की गीली छाल और अनार का छिलका, इन्हे समभाग लेकर भहीन कूटकर रख ले। इसमे से २०-२५ ग्राम लेकर पानी के साथ पीसकर शरीर मे लेप करना चाहिए।

११. इमली की पत्ती या बेल की पत्ती पीसकर उबटन लगाना चाहिए।

व्यवस्थापन

१. सबेरे-शाम—

आरोग्यवर्धिनी वटी

महामचिंजष्ठादि क्वाथ से।

१ ग्राम

१ मात्रा

२ ९ बजे व २ बजे—

नवक गुरगुलु	<u>२ ग्राम</u>
जल से ।	<u>२ मात्रा</u>

३ भोजनोत्तर २ बार—

लोहासव	<u>५०० मि० ली०</u>
समान जल मिलाकर पीना ।	<u>२ मात्रा</u>

४ रात में सोते समय—

त्रिफला चूर्ण	<u>६ ग्राम</u>
सुखोष्ण जल से ।	<u>१ मात्रा</u>

पथ्य

पुराना रुक्ष अन्न—जौ, चना, सावों, कोदो, टागुन, तीना, कुलथो, मूग, मसूर, अखर, मधु, मट्ठा, आसव, अरिष्ट, सुरा, सरमो का तेल, बैंगन, पत्रशाक, परवर तथा कटु-तिक्तकपाय रस वाले द्रव्य और रुक्ष पदार्थों का सेवन पथ्य है ।

विहार—अधिक जागरण, उपवास, चिन्तन-भनन, सायकिल चलाना, घोड़े की सवारी, धूप में चलना या काम करना, टहलना-धूमना, उबटन लगाना, शरीर की मालिश करना, स्नान करना और वमन-विरेचन आदि शोधन-कर्म पथ्य है । गरम जल पीना और गरम जल से स्नान पथ्य है ।

अपथ्य

शीतल जल से स्नान, नया चावल-गोहँ, सर्वदा गढ़ी-तकिये से सहारे बैठना-सोना, दूध, मलाई, रवड़ी और मिठाई अधिक खाना, अधिक स्निग्ध और पौष्टिक आहार, मछली-भास का सेवन और आरामतलब होना अपथ्य है ।

काश्य

परिचय—जिस व्यक्ति के नितम्ब, उदर और ग्रीवा सूखे हो, जिसके शरीर में धमनियों का जाल दिखलाई देता हो, जिसे देखने से ऐसा प्रतीत हो कि उसके शरीर में मात्र त्वचा और अस्थियाँ ही शेष है और जिसकी सन्धियाँ मोटी हो, उसे काश्यरोग जानना-चाहिए ।

निदान

रुक्ष अन्नपान का सेवन, उपवास, अल्पमात्रा में नपा-तुला भोजन करना, अपनी शक्ति से अधिक शारीरिक परिश्रम करना और मानसिक कार्य करना, शोक से ग्रस्त रहना, मल-मूत्र के तथा निद्रा आदि के वेगों को रोकना, रुक्ष, उष्ण तथा गीक्षण द्रव्यों का उबटन लगाना, रुक्ष द्रव्यों से कल्पित स्नान करना, अधिक बार या बहुत देर तक स्नान करना, वारिक प्रकृति का होना, वृद्धावस्था होना, बहुत दिनों

तक रुग्ण रहना, क्रोध करना, वमन-विरेचन आदि पञ्चकर्मों का अतियोग होना, अधिक मैयुन करना, अधिक अध्ययन, अधिक भय और अधिक चिन्ता करना, शूख और प्यास को अधिक सहना, कपाय रस के पदार्थों का अधिक प्रयोग करना, वातवर्धक आहार करना, अधिक दौड़ना या अधिक पैदल चलना आदि कारणों से मनुष्य का शरीर काश्यरोग से पीड़ित हो जाता है।

लक्षण

व्यायाम, परिश्रम, अधिक आहार, पिपासा, रोगाकरण, बीषधवल, अतिशैत्य, अतिउष्णता और अतिमैयुन कर्म के प्रति असहिष्णुता होना, मासल स्थानों (नितम्ब-उदर-वक्ष-ग्रीवा आदि) का शुष्क दीखना, शरीर की अस्थियों और धमनियों का दीखना और सन्धियों का स्थूल दीखना, ये सब अतिकृश व्यक्ति के लक्षण हैं। कृश व्यक्ति को प्राय वातरोग होता है। वह अत्यप्राण होता है।

उपद्रव और असाध्यता

श्वास, कास, शोष, प्लीहोदर, अग्निमान्ध, गुल्म और रक्तपित्त के होने की सभावना रहती है और कदाचित् इनमें किसी रोग के गम्भीर रूप धारण करने से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा-सूत्र

आहार—नया अच, नवनिर्मित मध्य, ग्राम्य-आनूप तथा जलेचर जीवों का कटु आदि द्रव्यों से सस्कारित मास, धी-दूध-दही, इंख का रस अगहनी चावल, गेहूं, गुड-चीनी से बने पदार्थ, स्निग्ध एवं मधुर द्रव्यों के प्रयोग से शरीर तुष्ट और स्थूल होता है।

विहार—सुखप्रद निद्रा, सुखद शय्या और विस्तर, प्रसन्न रहना, मानसिक विश्राम, चिन्ता-मैयुन और व्यायाम का त्याग, प्रिय वस्तु और प्रिय दृश्य देखना, सदा तैल-भालिश का अभ्यास, स्निग्ध उबटन, स्नान, सुगन्ध धारण (इन लगाना) सुगन्धित पुष्पमाला धारण, श्वेत वस्त्र धारण, यथासमय दोष का शमन और उनका निर्हरण करना, रसायन एवं वाजीकरण योगों का सेवन करना—ये सभी उपचार कृश व्यक्ति को भी स्थूल तथा बलशाली बना देते हैं।

चिकित्सा

१. बृंहणीय महाकषाय—१ क्षीरविदारी, २ दुग्धिका, ३ असगन्ध, ४. काकोली, ५ क्षीरकाकोली, ६ श्वेतबला-ककहिया, ७ पीतबला, ८ वनकपास, ९ विदारीकन्द और १० विधारा। चरकाचार्य ने इन दस द्रव्यों को बृहणीय कहा है। ये बृहण द्रव्य शरीर में रसादि धातुओं को बढ़ाकर स्थूलता उत्पन्न करते हैं।

२. बृहणीय द्रव्यों में मास को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। मास पार्थिव द्रव्य

है और उसमे जलतत्त्व का आधिक्य होता है, अतः वह वृहण होता है—‘वृहण पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्’ (सु० सू० ४१) ।

३ वृहण द्रव्य—गुरु, मृदु, स्निग्ध, सान्द्र, स्थूल, पिच्छिल, मन्द, स्थिर और शलक्षण गुण तथा शीतकीर्य द्रव्य प्रायः वृहण होते हैं ।

४ प्रमुख वृहण द्रव्य—क्षीरकाकोली, असगन्ध, विदारीकन्द, शतावर, बरियार-बीज, अतिवला, नागवला, अष्टवर्ग की औषधे, यष्टीमधु, जीवन्ती और मुदगपर्णी, इनका चूर्ण या पाक के रूप में प्रयोग करना वृहण होता है ।

५ नित्य मासरस का सेवन, नित्य दूध-घी का सेवन, स्निग्ध फल—वादाम, पिस्ता, चिरोंजी, काजू, मुनक्का, किसमिश आदि का सेवन वृहण होता है ।

६ नित्य तैलाभ्यग अर्थात् लक्षादि तैल या महानारायण तैल या महामाष तैल आदि से नियमित रूप से शरीर की मालिश करने से शरीर का सवर्धन होता है ।

७ वृहण वस्तिर्या—

‘वृहणद्रव्यनिष्कवाया कल कैर्मधुरकै कृता ।

सपिर्मासिरसोपेता वस्तयो वृहणा स्मृता’ ॥ सु० चि० ३८।८३

विदारिगन्धा आदि पूर्वोक्त वृहण द्रव्यो का कवाय ४०० मि० ली०, काकोली आदि मधुर द्रव्यो का कल्क १०० ग्राम, मधु २०० ग्राम, धृत ३०० मि० ग्रा०, सैन्धवलवण ५० ग्राम एवं मासरस १०० ग्राम इस प्रकार की वस्ति वृहण होती है ।

८ अश्वगन्धा क्षीरपाक—असगन्ध के ६ ग्राम चूर्ण का क्षीरपाक-विधि से पाक कर प्रयोग कराना वृहण है ।

९. अश्वगन्धा के कवाय एवं कल्क के सिद्ध तैल का अभ्यग वृहण है ।

१० वृहणकारक विहार—दिवाशयन, ब्रह्मचर्यपालन, अव्यायाम, स्निग्ध उबटन, गन्धमाल्यधारण, चिन्ता का सर्वथा त्याग एवं निश्चित रूप से सतर्पण करने से शरीर पुष्ट और स्थूल होता है ।

अवस्थापत्र

१ सबेरे-शाम—

अश्वगन्धादि चूर्ण	६ ग्राम
च्यवनप्राशावलेह	२० ग्राम
प्रवालभस्म	५०० मि० ग्रा०
सुखोष्ण दुरध से ।	२ मात्रा

२ भोजन के पूर्व—

यवानीषाढव चूर्ण	५ ग्राम
विना अनुपान ।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर—

द्राक्षासव

समान जल मिलाकर पीना ।

५० मि० ली०

२ मात्रा

४ अभ्यङ्ग २ बार—

चन्दनादि तैल की सर्वाङ्गी में मालिश करना ।

५ रात में सोते समय—

चन्द्रप्रभा-वटी

गोदुध से ।

१ ग्राम

१ मात्रा

पथ्य

चावल, गेहूँ, उड्डद, दूध, मलाई, मछली-मास, मधुर रस वाले पदार्थ, स्तनरधि पदार्थ—मक्खन, धी, पूडी-हलवा आदि पौष्टिक एवं वलवर्धक आहार पथ्य हैं ।

विहार—आराम से सोना-बैठना, श्रमजनक कार्य न करना, भोजन के बाद जल पीना, ज्यादा न बोलना, इत्र, माला और सुगन्ध धारण करना, इच्छानुसार खाना-पीना, नित्य तैलाभ्यङ्ग और शीतजल का स्नान करना पथ्य है ।

अपथ्य

जौ, चना, मूग, मसूर, कटु-तिक्त-कषायरसवाले द्रव्य, सहिजन आदि तथा लघन, धूप में रहना, सशोधन कर्म और परिश्रम करना अपथ्य है ।

कुपोषणजन्य विकार और उनके कारण

१ आहार-मात्रा की कमी^१—किसी व्यक्ति के लिए अपेक्षित मात्रा से न्यून मात्रा में आहार का ग्रहण करना उस व्यक्ति का उचित पोषण नहीं कर पाता है, जिससे कुपोषणजन्य रोग होते हैं । यदि आहार की मात्रा अत्यधिक होती है, तो वह व्यक्ति भुखमरी का शिकार हो जाता है ।

२ आहार से गुणात्मक न्यूनता^२—शरीर में पाये जाने वाले पदार्थ—प्रोटीन, वसा, कार्बोज, खनिज पदार्थ, जल और विटामिन्स—ये सभी जब खाद्य वस्तुओं में न्यून होते हैं तो उस पोषणत्वहीन आहार के ग्रहण से कुपोषणजन्य रिकेट्स, स्कर्वों, बेरीबेरी और पेलाग्रा आदि रोग होते हैं ।

३ आहार की अधिकता^३—जब कोई व्यक्ति अधिक मात्रा में भोजन करने लग जाता है, तो उसे स्थौल्य रोग हो जाता है ।

पोषकतत्व की अधिकता^४—किसी एक प्रकार के पोषक आहार-द्रव्य के

1 Quantitative dietary deficiency

2 Qualitative dietary deficiency

3 Quantitative over nutrition

4 Qualitative over nutrition

निरन्तर सेवन करने से परमजीवत्युत्पाद्य (Hyper vitaminosis) और अयस् उत्पाद्य (Siderosis) होता है।

५ आहार की प्राकृतिक विपाक्तता^१—कुछ आहार द्रव्य अल्पाश में विषेले होते हैं। जब कोई व्यक्ति या समाज लगातार ऐसे आहार द्रव्यों का प्रयोग करता है, तो वह व्यक्ति या समाज तज्जन्य दुष्प्रभाव से आक्रान्त होता है, जैसे—कोदो का चावल, तेसारी की दाल आदि।

६ सामाजिक और आर्थिक कारण^२—जिन देशों में अधिक मात्रा में अन्न खरीदे जाते हैं, वहाँ पर गरीबी, डिव्या, अज्ञानता और रहने के घरों की अव्यवस्था के कारण वृद्ध पुरुष एकाकी व्यक्ति और बच्चे अल्पपोषण-जन्य विकार से ग्रस्त होते हैं।

७ वैज्ञानिक कारण—पर्याप्त आय का स्रोत, सुमज्जित आवास और आहार विधि-विधान की अभिज्ञता होने के बावजूद कृतिपथ व्यक्ति कुपोषणजनित रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं, जिसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(क) दोष युक्त आहार ग्रहण^३—

१ अग्निमान्द्य, आमाशयिक कैन्सर, अरुचि (Anorexia nervosa)।

२ किसी कारणवश लगातार बमन होते रहना।

३ एक ही प्रकार का भोजन करना अनिवार्य रूप से शाकाहारी होना।

४ शराब पीना (जो कैलोरी का उत्पादन तो करता है, किन्तु वास्तविक पोषण नहीं करता)। पुरानी शराब अधिक अल्पपोषण है।

५ अमन्तुलित भोजन पाचनतन्त्र के रोग उत्पन्न करता है एवं स्कार्विक एसिड का अभाव हो जाता है।

६ सजिकल ऑपरेशन के पश्चात लगातार ग्लूकोज का इन्ट्रावीनस इञ्जेक्शन देने से विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स की भारी कमी हो जाती है।

(ख) पाचन-प्रक्रिया की गड़वडी और आहाररस का आत्मसात न होना^४—

१ अल्पास्त्रिता (Achlorhydria) होना, जिससे लौहाश की कमी के कारण रक्ताल्पता (Anaemia) होती है।

२ वसास्त्रावाधिक्य (Steatorrhoea) के कारण आहार रस का आत्मसात न होना।

३ भूखमरी के शिकार होने के कारण अखाद्य पदार्थ का खाना, जिसे आंत बदीश्त नहीं करती और उसका ठीक से पाचन नहीं होता।

1 Effects of natural toxins in foods

2 Social and economic causes of nutritional disorders

3 Defective intake of food.

4 Defective digestion and absorption

४ एण्टीबायटिक्स के दीर्घकालिक प्रयोग से विटामिन्स का सन्तुलन या समन्वयन वाधित हो जाता है।

(ग) दोषपूर्ण उपयोगिता—

१ यकृत की अपक्रान्ति (Cirrhosis of the liver) की स्थिति में खाये हुए पोषकतत्त्व की उपयोगिता नहीं हो पाती। जैसे—प्रोटीन और विटामिन 'के'।

२ ईर्ष्या, भय, क्रोध, कपट, लोभ, द्वेष आदि मनोविकारों के होने पर खाया हुआ आहार शरीर-पोषक नहीं होता।

३ वृक्क की निष्क्रियता—इस स्थिति में विटामिन-डी का शरीरोपयोगी सर्वर्तन नहीं हो पाता।

४ औषध प्रतिक्रिया—जैसे आक्षेपनिवारक औषधे फालेट (Folat) और विटामिन-डी की प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी होती है।

५ जन्मजात दोष—मेटावोलिज्म (सर्वर्तन) का जन्मजात दोष पोषण में बाधा डालता है। जैसे—हार्टनप (Hartnup) रोग अल्प या सामान्य आहार मिलने की स्थिति में पेलाग्रा रोग उत्पन्न करते हैं।

(घ) शरीर से पोषकतत्त्व का ह्रास—

१ वृक्क विकार की जटिलता में मूत्र में प्रोटीन का अपसरण होता है।

२ मधुमेह (Diabetes mellitus) में अनियन्त्रित शर्करा क्षरण की स्थिति में अल्पपोषण होता है।

३ रक्तप्रदर में अधिक रक्तस्राव होने से रक्ताल्पता होती है।

४ जीर्ण अतिसार में पोटेशियम (Potassium) का ह्रास होता है।

(ङ) स्वल्पाहार और भुखमरी—

भुखमरी एक अल्पाहारजनित स्थिति है। अधिक भयकर अल्पाहारज भुखमरी का रोगी अपना ७५% वजन-घटा देता है।

स्वल्पाहार और भुखमरी के कारण—

१. अकाल पड़ने पर खाद्याल्प का पर्याप्त न मिलना।

२. पाचन-स्थान का गम्भीर रोग, जिसके कारण चयापचय का कार्य वाधित हो जाता है।

३ शरीर में विपाक्तता का प्रभाव होने से मेटावोलिज्म का अस्त-व्यस्त होना, अहंचि होना, पित्ताशय या मूत्राशय की रुग्णता, गम्भीर दीर्घकालिक रोग की उपस्थिति जिससे भासपेशी एवं वसा की क्षीणता होती है। मल-मूत्र का उत्सर्ग ठोक से न होना आदि कारण ऐसे होते हैं, जिससे शरीर के पोषण की प्रक्रिया यथावत् नहीं हो पाती है और व्यक्ति या समाज पोषणहीनता में आक्रान्त हो जाता है।

कतिपय कुपोषणजन्य रोग

रिकेट्स

(Rickets)

निदान

यह कैलसियम और फॉस्फोरस के चयापचय से सम्बद्ध रोग है, जिसमें कैल्सियम और फॉस्फोरस का आत्मीकरण ठीक से नहीं होता। ऐसे शिशु जो जीवन के प्रथम वर्ष में होते हैं और जिन्हे विटामिन-डी की समुचित मात्रा नहीं उपलब्ध होती, वे इससे आक्रान्त होते हैं। मानवीय अथवा पशु के दूध (जो शिशु को दिये जाते हैं) में विटामिन-डी कम मात्रा में ड्रोने से तथा किसी पूरक आहार के साथ विटामिन डी आपूर्ति न होने से यह रोग मुख्यतः शिशुओं को हो जाता है।

सामाजिक, सास्कृतिक या परम्परागत रूढियों से ग्रस्त होने के कारण माताये शिशु को वस्त्र में लपेटकर आच्छादित रखती है और उन्हें सूर्य की किरण नहीं लगने देती, जिससे शिशु, सूर्य के 'अल्ट्रायायोलेट रेज' (Ultraviolet rays) के त्वचा पर असर पड़ने से बनने वाले विटामिन-डी से वर्चित हो जाता है। अतः शिशु को प्रथमवर्ष में इस रोग के होने की अधिक सभावना होती है।

जब शिशु दो वर्ष की आयु का होता है, तो वह जमीन पर रेणने लगता है और उसे यथेच्छ सूर्य-किरण उपलब्ध होने से स्वाभाविक रूप से विटामिन-डी जनित पोषण उपलब्ध होने लगता है।

शरीर की वर्धनवेला में अस्थियों और दाँतों को मजबूत बनाने के लिए कैलसियम और फॉस्फोरस का शरीर में यथोचित रूप में होना आवश्यक है। इसके कम होने से शिशुओं को रिकेट्स (Rickets) और बड़ों को (विशेषकर स्त्रियों को) अस्टियोमलेसिया (Osteomalacia) रोग हो जाते हैं। दोनों रोगों में अस्थियाँ कोमल हो जाती हैं।

लक्षण

रिकेट्स-ग्रस्त बालक पर्याप्त कैलोरी मिलने से देखने में अच्छे-खासे पोषित प्रतीत होते हैं, किन्तु वे बेचैन, चिडचिडे, जिह्वा और पीने होते हैं। उनकी अस्थियाँ कोमल और मासपेशियाँ ढीली-ढाली होती हैं। बालक ठीक समय से चलना-फिरना नहीं सीख पाता है। आमतौर से शिर पर पसीना अधिक आता है। नीद कम आती है। दाँत देर से निकलते हैं और पैरों की अस्थियाँ शरीर का बोझ न संभाल सकने के कारण टेढ़ी हो जाती हैं। बालक का पेट बड़ा होता है। उसे प्राय श्वासरोग का सक्रमण होता है। उसका पाचन-मस्थान गटवड रहता है। वह यथा समय बेठने, उठने, खड़ा होने और चलने में समर्थ नहीं हो पाता है। अस्थियों में परिवर्तन होना रिकेट्स की मुख्य पहचान है। उसकी अस्थियाँ देर से चुड़ती हैं। भारतवर्ष में सूर्य के प्रकाश की कमी न होने से यह रोग कम होता है।

चिकित्सा

रिकेट्स की चिकित्सा में दो महत्वपूर्ण वातों पर ध्यान देना चाहिए—

१ विटामिन-डी^१ की आपूर्ति करना और २ पर्याप्त कैलसियम देना।

विटामिन-डी की आपूर्ति के साधनों में पर्याप्त दूध, कार्ड लिवर आयल, हैलिवट लिवर आयल, सूर्य की अल्ट्रावायोलेट किरणों (Ultraviolet rays) का सपर्क, अन्य विटामिन-डी युक्त पदार्थ, सूखे दूध में विटामिन-डी की आपूर्ति, अन्य खाद्य पदार्थों में विटामिन का मिश्रण आदि सभावित है।

शिथिल सन्धिवाले रिकेट्स ग्रस्त शिशुओं और बच्चों को विटामिन-डी देने के साथ-साथ पर्याप्त मात्रा में कैलसियम देने की भी आवश्यकता होती है : कैलसियम का सर्वोत्तम स्रोत दूध है। रिकेट्स के रोगी बच्चे को प्रतिदिन अल्पतम आधा लीटर दूध मिलना चाहिए। गभीर रोगी को कैलसियम की आपूर्ति के लिए कैलसियम की टेवलेट्स देनी चाहिए। जैसे—कैलसियम ग्लूकोनेट या कैलसियम ग्लूकोनेट इफरवेसेण्ट का प्रयोग। इसे १ या २ गोली की मात्रा में एक गिलाम जल में घोलकर दिन में ३ बार देना चाहिए।

विटामिन-डी का तथा कैलसियम का प्रयोग करना ही रिकेट्स की संपूर्ण चिकित्सा नहीं है, अपितु बच्चा जिस वातावरण में पल रहा है, उस वातावरण का स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से सजोधन और स्वच्छता रखनी चाहिए। गन्दी वस्तियों की सफाई, जल के जमाव को रोकना, कूड़े-कतवार का दूरीकरण, पुआँ कम करना आदि का ध्यान रखकर मौलिक रूप से वातावरण के प्रदूषण को दूर करने की भरपूर चेष्टा करनी चाहिए।

माताओं को इस बात की तहजीब देनी चाहिए कि बालक के शरीर को अनावश्यक कपड़ों में न कप्ता जाय, अपितु बालक, जितना सभव हो, खुले बदन सूर्य के प्रकाश में खेले। जहाँ बच्चों को अन्य साधनों से विटामिन की आपूर्ति न की जाती हो, वहाँ सूर्य की किरणों का खुला प्रयोग अवश्यमेव करना चाहिए।

1 A therapeutic dose of vitamin-D varies from 25 to 125 mg (1,000-5,000 I U) daily, depending on the severity of the disease and age of the child. In contrast, the prophylactic dose is 10 mg or less daily depending on the sunlight. The B P preparation of cod-liver oil contains approximately 10 gm per 5 ml plastic spoonful. Children can be given halibut liver oil in a very small dose (1 ml) since it contains 30 times the vitamin-D concentration of cod-liver oil. Many proprietary preparations are available which contain standard amounts of vitamin A and D, dispensed as capsules or palatable syrups.

आँस्टियोमैलेसिया (Osteomalacia)

निदान

यह विटामिन-डी की कमी और अशत कैलसियम की कमी से होने वाला रोग है, जिसमें अस्थियो में कोमलता होती है। विटामिन-डी और कैलसियम की कमी होने से अस्थियो का आधार दृढ़ नहीं हो पाता है तथा कैलसियम फॉस्फेट का अनुपात सही न होने से अस्थियो का स्वरूप समुचित नहीं बनता है।

यह रोग रिकेट्स का परिवर्धित रूप है। प्राच्य देशों में पर्दा के भीतर रहने वाली स्त्रियों को यह विशेष रूप में होता है। यह अस्थि के विकृत रूप और कष्ट का जनक रोग है। जो औरतें गर्भधारण की आयुवाली होती हैं, गरीब होती हैं, जिन्हें दूध नहीं मिलता, जो बन्द घरों में रहती हैं तथा मूर्य की रोगनी नहीं देख पाती और जिनमें बार-बार गर्भधारण करने के कारण कैलसियम की कमी होती है, उनमें प्राय यह रोग प्रथम गर्भावस्था से ही सक्रान्त हो जाता है। प्रसवोत्तर रोग का हास्त होता है, परन्तु पुनः गर्भधारणावस्था में रोग के लक्षण लौट आते हैं।

अपस्मार का रोगी जब अधिक दिनों तक आक्षेप-निवारक औषध का सेवन करता है, तो वह आस्टियोमैलेसिया-ग्रस्त हो जाता है।

लक्षण

शण व्यक्ति के अस्थिकद्वाल में वेदना होती है, जो कभी बढ़ जाती है। छाती की पर्शुकाएँ, त्रिकास्थि, पृष्ठवश का निचला भाग, पेल्विस (वस्तिगुहा की अस्थि) और पैर बार-बार रोग से प्रभावित होते हैं। दबाव पड़ने पर हृदी में कोमलता होती है, मासपेशियाँ में कमजोरी होती है। रोगी सीढ़ी चढ़ने में या कुछ उठाने में कठिनाई का अनुभव करता है।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा रिकेट्स के समान करनी चाहिए।

स्कर्वी

(Scurvy)

निदान

जो व्यक्ति अधिक दिनों तक हरी सब्जी, टमाटर, नीबू और नारङ्गी आदि ताजे फल नहीं खाते और ऐना आहार करते हैं, जिसमें एस्कार्बिक एसिड (Ascorbic acid) की कमी होती है, उन्हें स्कर्वी रोग होता है। विटामिन-ए, लौह, फोलिक एसिड (Folic acid) और प्रोटीन की कमी से स्कर्वी रोग होता है।

भारतवर्ष में जब सूखा पड़ता है और मानसूनी वर्षा नहीं होती, तो इस रोग के होने की सभावना होती है। एस्कार्बिक एसिड रोग के लक्षणों को कम कर देता है, किन्तु रोग को निर्मूल नहीं कर पाता।

लक्षण

मसूडे सूज जाते हैं और उनसे खून निकलने लगता है। मसूडे पिलपिले हो जाते हैं तथा दाँतों के बीच में पपड़ी पड़ जाती है। दाँत ढीले हो जाते हैं और गभीर रोग में गिर जाते हैं। शरीर में अनेक स्थानों में रक्त के चक्के पड़ जाते हैं।

बच्चों की स्कर्वी में रक्ताल्पता, अगो में वेदना और जोड़ो में शोथ होता है। जब तक दाँत नहीं निकल जाते, तब तक वे विकसित नहीं होते।

चिकित्सा

इस रोग में तात्कालिक मृत्यु होने की आशङ्का होती है, अत रोगी की प्राणरक्षा के लिए कृत्रिम एस्कार्बिक एसिड का तुरन्त ही पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। अतिशीघ्र ही शरीर को एस्कार्बिक एसिड से भरपूर कर दे।

रोगी को सब्जी पकाकर खिलावे और ताजे फल देवे। यदि रोगी को रक्ताल्पता हो, तो उसे लौहभस्म मिश्रित औषध देवे। समुचित चिकित्सा से खतरा टल जाता है और रोगी स्वस्थ हो जाता है।

बेरीबेरी

(Beriberi)

निदान

यह एक कुपोषणजन्य रोग है, जो पहले दक्षिण और पूर्वी एशिया में बड़े पैमाने में फैल गया था। यह शब्द (बेरीबेरी) बिघली भाषा का है, जिसका अर्थ है—अनमर्थता (I can not)। तात्पर्य यह कि रोगी इतना अशक्त होता है कि वह वह कुछ भी करने में असमर्थ होता है। पूर्वकाल में यह ऐसे चावल के प्रयोग से होता रहा है, जिस चावल को कूटकर उमका छिलका तथा चावल के लाल कण को भी हटा दिया जाता है और चावल एकदम श्वेत चमकदार बना दिया जाता है। ऐसे आढ़ार में कैलोरी का अभाव होता है।

अनभ्यम्त अधिक शारीरिक श्रम, गर्भावस्था और बच्चे को दूध पिलाने से भी यह रोग होता है।

लक्षण

यह आर्द्ध और गुण्डे भेद से दो प्रकार का होता है। इसके निम्नांकित लक्षण दोनों में एक जैसे होते हैं। इनका आक्रमण कपटपूर्ण होता है। कभी-कभी यह शीघ्रतापूर्वक शरीर को अमृत थकावट के साथ आक्रान्त करता है अथवा ज्वर के साथ हो जाता है। इसमें अरुचि, शरीर में पीड़ा, पैरों में भारीगत और कम-जोरी होती है। पैरों में अथवा चेहरे पर हल्का शोथ होता है। रोगी के हृदयां-

भाग मे वेदना होती है और हृदय की गति अधिक होती है। नाड़ी भारी होती है और उसकी गति तीव्र होती है। पैरो मे शून्यता होती है। आक्रान्त भाग मे रोग के लक्षण 'कुछ सुधार के साथ महीनो या वर्षों तक बने रह सकते हैं। वह रोगी उसी हालत मे अपनी जीविका चलाता रहता है, किन्तु उसकी शारीरिक क्षमता अल्प होती है। यह बीमारी कभी भी गभीर रूप से पुनराक्रमण कर सकती है।

आर्द्ध बेरीबेरी मे शोथ होना विशेष लक्षण है, जो पैरो के अतिरिक्त चेहरे पर, जांघ पर और जलीय स्थानो मे उभर आता है। हृदय की गति अधिक होती है और श्वास लेने मे कठिनाई होती है। चलने मे पैरो मे दर्द होता है, जिसका कारण पैरो मे लैक्टिक एसिड का जमा होना है। ग्रीवा की शिराये फैली होती है, जिनमे धड़कन स्पष्ट होती है। हृदय बड़ा हो जाता है और गति की गणना के समय नाड़ी मे भारीपन महसूस होता है। त्वचा शीत होती है।

शुष्क बेरीबेरी मे विशेष प्रकार का शोथ—पालीन्यूराइटिस (Polyneuritis) होता है। मासपेशियाँ ढीली हो जाती हैं। चलना-फिरना मुश्किल पड़ता है। पुराने रोगी छड़ी के सहारे चल पाते हैं या गभीर स्थिति मे चारपाई पकड़ लेते हैं। आहार मे अपेक्षित सुधार करने पर रोगी की हालत सुधर सकती है। इसके रोगी अचानक ही शोथग्रस्त हो जाते हैं, जिसका कारण अनुपयुक्त आहार होता है, जबकि रोगी के आहार मे थियामीन, प्रोटीन और कैलोरी की आपूर्ति नहीं हो पाती है।

चिकित्सा

१ मशीन द्वारा कूटने के बाद साफकर चमकाये हुए चावल के खाने का सर्वथा नियन्त्र करे।

२ रोग का निदान होने के तुरन्त बाद औषध-प्रयोग शुरू करे, क्योंकि इसमे तात्कालिक हृदयगत्यवरोध होने का भय रहता है।

३ रोगी को पूर्णतया विश्राम की मुद्रा मे रखना चाहिए।

४ मासपेशी मे ५० मिग्रा० थियामीन का इञ्जेक्शन देना चाहिए और यह प्रक्रिया लगातार तीन दिन तक चलाये।

५ तत्पश्चात् प्रतिदिन ३ बार १० मिग्रा० की मात्रा मे मुख से देते रहे जब तक कि आरोग्य-लाभ न हो जावे।

६ थियामीन का बेरीबेरी पर अतिशीघ्र प्रभाव होता है, जिससे कुछ ही घण्टो मे इस रोग के कष्टकर लक्षण शान्त हो जाते हैं।

पेलाग्रा (Pellagra) निदान

यह एक कुपोषणजन्य रोग है। यह उन गरीब किसानो को होता है, जो मक्का जैसे किसी एक ही आहार द्रव्य का प्रयोग करते हैं। सासार के उन देशो मे यह रोग होता है, जहाँ मक्का ही मुख्य भोजन है। यह राजस्थान, महाराष्ट्र और दक्षिण अफ्रीका मे होता है। यह दक्षिण यूरोप, लैटिन अमेरिका, एशिया और भारतवर्ष के कुछ प्रान्तो मे होता है।

यह रोग दीधंकालीन मद्यसेवन से भी होता है, जिसमें वृक्कविकार हो जाता है। जिस आहार से विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स की मात्रा अल्प होती है, वह भी पेलाग्राजनक होता है। ऐसे पुराने रोग, जिसमें पाचन-स्थान की गडबडी से आहाररस का सातमीकरण ठीक से नहीं हो पाता है, उनमें भी पेलाग्रा होता है।

लक्षण

इसमें रोगी का वजन घट जाता है और अल्पपोषणजनित लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है। पेलाग्रा को तीन D's का रोग कहा जाता है। इन्हे—१ डर्मेटाइटिस, २ डायरिया और ३ डर्मेन्सिया कहते हैं।

१ डर्मेटाइटिस (Dermetitis)—त्वचाशोथ, त्वचाप्रदाह—सूर्य की रोशनी में त्वचा पर चक्कते प्रकट होते हैं एवं त्वचा पर दाह होता है। आक्रान्त त्वचा सामान्य त्वचा से भिन्न दीखती है, जिसमें पहले कुछ लाली और हल्की सूजन होती है एवं खुजली तथा जलन होती है। रोग बढ़ने पर त्वचा में फटन, विदीर्णता, खांब और पपड़ी पड़ना आदि लक्षण होते हैं। पुराने रोग में त्वचा में खुरदुरापन, मोटापन, शुष्कता, परत बनना और भूरा रग होना ये लक्षण होते हैं।

२ डायरिया (Diarrohoea)—अतिसार—कोई आवश्यक नहीं, कि यह हो ही। किन्तु इसके होने पर भोजन में अरुचि, वमनेच्छा, निगिरणकष्ट और अजीर्ण होता है। मुख का स्नाद खट्टा होता है।

अंतों में शोथ होने से पाचनतन्त्र की अव्यवस्था होती है, जिससे शौच पतला होता है और उसमें रक्त और म्यूक्स मिला होता है।

३ डर्मेन्सिया (Dermentation)—उन्माद, मनोभ्रश, बुद्धिविभ्रम—मृदु रोग में—शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता चिन्ता, उत्साहहीनता, शिथिलता और मन क्षुब्ध एवं असन्तुलित होता है। गम्भीर रोग में—प्रलाप के साथ उन्माद के लक्षण होते हैं। चित्त अव्यवस्थित रहता है।

चिकित्सा

१ खाने के लिए ४ से ६ घण्टे के अन्तराल पर निकोटिनामाइड (Nicotinamide) की १०० मिग्रा० की मात्रा देनी चाहिए। इस औषध का नाटकीय प्रभाव होता है, जो २४ घण्टे में दीखता है। त्वचा के चक्कते गायब हो जाते हैं, जिह्वा पाण्डुरवर्ण और अल्प वैद्वनायुक्त होती है तथा अतिसार बन्द हो जाता है। प्राय रोगी की मानसिक स्थिति और व्यवहार में भी अन्तर हो जाता है।

२ जातव्य है, कि प्रोटीन का कम प्रयोग और एमीनोएसिड ट्रिप्टोफैन का अभाव रोग को बढ़ाता है। इसी प्रकार लौह तथा फालेट की कमी से रक्ताल्पता होती है। तीसरा कारण थियामीन या पाइरिडोक्सिन (Pyridoxine) की कमी है, जिससे रोगी का वजन घट जाता है अत रोगी को निकोटिनामाइड देने के साथ ही उसके समुचित भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। विशेषकर पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन, विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स और लौह के योग देना चाहिए। फोलिक एसिड और विटामिन बी का प्रयोग आवश्यक है।

३ किसी भी प्रकार के मध्य का प्रयोग वर्जित है।

४ गम्भीर रोगों को बेड-रेस्ट दे और शान्त बातावरण में रखे। खासकर जो मानसिक असन्तुलन से ग्रस्त हो, उनकी परिचर्या सावधानी से करे और पूर्ण विश्राम दे।

५ त्वचा के रोग और अतिसार की चिकित्सा रोग और रोगी की परिस्थिति के अनुसार करनी चाहिए।

कुपोषण की रोकथाम

(Prevention of Nutritional Deficiency)

(१) प्रति व्यक्ति अन्न की खपत में वृद्धि—अन्न का भरपूर उत्पादन किया जाना चाहिए और अन्नाभाव होने पर पर्याप्त मात्रा में आयात किया जाय। इसके साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है, कि बहुसंख्यक जनता काम में लगी रहे, जिससे उनकी आय के विविध स्रोत उपलब्ध हो और उनमें अन्न खरीद कर खाने की क्षमता बनी रहे।

(२) सन्तति-नियमन—दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जनसंख्या-वृद्धि को रोका जाय। चिकित्सक-समुदाय अन्नोत्पादन और आर्थिक विकास की अपेक्षा सन्तति-नियमन के कार्य में अधिक उपयोगी भूमिका अदा कर सकता है।

(३) पोषण सम्बन्धी प्रशिक्षण और आहार-समृद्धि—यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है—(१) यह कि पोषण सम्बन्धी शिक्षा देना और (२) लोगों को स्वास्थ्यवर्धक समृद्ध आहार ग्रहण करने के लिए प्रेरित करना। इसके लिए यह आवश्यक है, कि अन्नोत्पादन बढ़ाने पर अधिक ध्यान देकर कृषि को समुन्नत बनाया जाय और माताओं, शिशुओं, वच्चों तथा वयस्कों में समुचित रूप से आहार पदार्थों के वितरण किये जाने का प्रशिक्षण दिया जाय।

जहाँ विटामिन्स और खनिज पदार्थों की कमी हो, वहाँ समृद्ध आहार अवश्य देना चाहिए। आहार को समृद्ध (Enriched) बनाने के लिए विटामिन ए और डी का योग देना चाहिए—'Addition of A and D to margarine and iodization of salt are good examples of useful food enrichment'

(४) स्वयंसेवी दलों द्वारा स्वास्थ्य और चिकित्सा-कार्य—वहुत से देश स्कूली वच्चों को पुष्टाहार देते हैं, जो मानवीय संवेदना का उत्तम उदाहरण है। सरगभी स्ट्रियों को लौह के योग और फालेट (Folate) देना चाहिए। युवावस्था की दहलीज पर पदविन्यास कर रहे वच्चों को विटामिन-डी की अपेक्षित रोगनाशक मात्रा देनी चाहिए। छोटे शिशुओं को धूप में रखने का परामर्श देना चाहिए।

(५) चिकित्सक का उत्तरदायित्व—चिकित्सक भूतल का जीवनदाता है। उसे स्वास्थ्य-विज्ञानी और चिकित्सक इन दोनों की भूमिका उत्कृष्ट ढंग से निभानी चाहिए, जिससे रोगों का प्रतिषेध और उपचार समुचित रूप में हो सके। उसे बातावरण तथा खाद्यान्न एवं पेयजल के प्रदूषण के निवारणार्थ सचेष्ट होकर जन-सेवकों और प्रशासन को सावधान करते रहना चाहिए।

तृतीय अध्याय

प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रोग

प्रावेशिक—आधुनिक शारीर-शास्त्रियों ने एक समान कार्य का सम्पादन करने-वाले अनेक अवयवों को एक-एक वर्ग में रखा है और इन वर्गों को संस्थान या सिस्टम (System) कहते हैं। ये संस्थान सूच्या में १ हैं, जैसे—१ अस्थि-संस्थान, २. मास-संस्थान, ३ पचन-संस्थान, ४ रक्तानुधावन-संस्थान, ५ श्वसन-संस्थान, ६ विसर्ग-संस्थान, ७ अन्तर्ग्रन्थि संस्थान, ८ प्रजनन-संस्थान और ९ नाड़ी-संस्थान।

यहाँ अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान का विवेचन प्रासङ्गिक है।

अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान^१

परिचय—इस संस्थान के अन्तर्गत चुल्लिका ग्रन्थि, उपचुल्लिका ग्रन्थि, थाइमस, पिट्युटरी बाढ़ी, पाइनियल बाढ़ी, अधिवृक्क, अग्न्याशय, बीजग्रन्थियाँ और प्लीहा आदि अवयवों का समावेश किया जाता है। इन ग्रन्थियों में लालाग्रन्थि एवं यकृत आदि के समान उत्पादित रस का वदुन करने के लिए स्रोत नहीं होते, अतः उन्हें न स्रोत या प्रणाली विहीन ग्रन्थि^२ भी कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ अपने स्रावों को सीधे रस या रक्त में छोड़ती हैं। परिणामस्वरूप इनके स्राव (Hormones) रस-रक्त के साथ सच्चरण करते हुए दूरवर्ती अवयवों और क्रियाओं को भी नियन्त्रित कर सकते हैं। कई ग्रन्थियों के एक से अधिक अन्त स्राव होते हैं।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के कार्य

शरीर, मन, बुद्धि, पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व के लक्षण आदि का विकास और पोषण, अनेक प्रकार की जीवनोपयोगी स्थिर किंवा तत्कालोचित क्रियाओं का उद्दीपन या अवसादन आदि हैं। इनका समयोग स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। इन ग्रन्थियों के स्रावों का हीनयोग या अतियोग गभीर परिणाम लाता है।

अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान और नाड़ी-संस्थान का सम्बन्ध

ये दोनों ही संस्थान देश-काल-परिस्थिति के अनुसार शरीरावयवों को तत्-तत् कार्य प्रारम्भ करने या छोड़ने, अधिक तीव्र गति से अथवा मन्दगति से करने के आदेश देते हैं, जिसकी प्रक्रिया के मूरूप में भिन्नता है। अन्तर्ग्रन्थियाँ अपने रसों द्वारा उत्तिखित कार्य करती हैं, अतः उन्हें रासायनिक सन्देशवाहक कहते हैं। और नाड़ीसंस्थान अपने टेलीफोन के सूत्रों सदृश सूत्रों द्वारा यह कार्य करता है, अतः उसे टेलीफोनिक सन्देशवाहक कहा जाता है।

1. Endocrine organs 2 Ductless glands

अपने-अपने अन्त स्नावों को क्रिया में अनुप्रंश्नियों न्याय्य को स्थिर रखती है, शरीर जी पौष्टिकता रा निगन्दण करती है और नाड़ीमन्धान को अपना कर्म करने में नहायना देती है। उनकी क्रिया कभी नहीं होती है (जैसे—रक्तदाहिनियों के अमुक समुदाय का महना गकोच) और कभी दीपंकालिक होती है (जैसे—खन्दियों की मन्द किन्तु स्थिर पुष्टि) जो अनेक यथं पर्यंत चलती रहती है। एवं अन्त स्नावों के प्रमाण की अल्पता या अधिकता के अनुमार क्रिया में मन्दता अथवा तीव्रता होती है।

चुल्लिकाग्रन्थि

(Thyroid Glands)

परिचय—यह महत्वपूर्ण ग्रन्थि ग्रीवा में आपस (Trachea) के ऊर्ध्वभाग पर स्थित होती है। उनके दो शकुनदृश घण्ड (Lobe) होते हैं। ये घण्ड एक सेतु से परस्पर मिले होते हैं। आपस (Trachea) के दोनों ओर एक-एक घण्ड होता है। इसका भार लगभग ३० ग्राम होता है। यह ग्रन्थि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कुछ बड़ी होती है। जब स्त्री रजस्वला होती है या जब वह गर्भवती होती है, तब उसका परिमाण कुछ बढ़ जाया करता है। चुल्लिकाग्रन्थि हमारे स्वास्थ्य लिए एक परमावश्यक अवयव है। इसी के बढ़ जाने को धौंधा रोग (Goitre) कहते हैं। इसका आकार कुछ देशी चूल्हे की तरह होता है। इसी कारण इसका नाम चुल्लिकाग्रन्थि रखा गया है।

चुल्लिकाग्रन्थि के कर्म

१ चुल्लिकाग्रन्थि का अन्त स्नाव थायरॉक्साइन (Thyroxine) कहलाता है। यह अन्त स्नाव रक्त में सीधा ही प्रविष्ट होता है और समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है। इसमें आयोडीन अधिक मात्रा में मिलता है। यह स्नाव हृदय-फुफ्फुस आदि की क्रियाओं में सहायता करता है। यह शरीर में ऊष्मा की मात्रा का नियन्त्रण करता है।

२ यह ग्रन्थि शरीर के प्रत्येक कोष के धातुपाक (Metabolism) की नियमिति है। शरीर के प्रत्येक कोष तथा कोषों के समवाय-समूह से बने प्रत्येक अङ्ग की क्रिया के मूल दहन (अर्थात् उसके अन्तर्गत शक्तियुत्पादक द्रव्य का ओषजन के साथ सयोग) के परिणामस्वरूप कोषों में झोनेवाली तापोत्पत्ति का नाम ही धातुपाक है।

३ धातुपाक के दर की नियामिका होने से यह ग्रन्थि शरीर की सर्वक्रियाओं को प्रभावित करती है।

४ चुल्लिकाग्रन्थि के अन्त स्नाव की समता से शरीर और मन दोनों का ही विकास होता है और मन्दता या वृद्धि से अनेक तरह के शारीरिक, तथा मानसिक विकार होने की सभावना होती है।

५ चुल्लिकाग्रन्थि वसा के सर्वर्तन के लिए आवश्यक है। वसा के ओषजनी-

करण का इस ग्रन्थ से विशेष सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ की मन्दक्रियता से व्यक्ति मोटा होता है।

६. चुल्लिकाग्रन्थ खटिक के सर्वर्णन के लिए भी आवश्यक है।

७. चुल्लिकाग्रन्थ यकृत को शर्कराजन से शर्करा बनाने में सहायता देती है।

८. चुल्लिकाग्रन्थ शरीर में निर्मित होते रहने वाले विषेले पदार्थों को नष्ट करती है।

९. चुल्लिकाग्रन्थ का शरीर की वृद्धि, मन और बुद्धि के विकास तथा जनने-निर्दयों की समुचित वृद्धि से भी सम्बन्ध है।

चुल्लिकाग्रन्थ के स्राव का हीनयोग

इस ग्रन्थ के हीनस्राव के लक्षणों को दो भागों में वर्णित सकते हैं—१. वच्चों में होने वाले लक्षण और २. पूर्ण वय के मनुष्य में दर्शनीय लक्षण।

१. वच्चों की चुल्लिकाग्रन्थ जब अविकसित या रोगाक्रान्त होती है, तो वच्चे की अस्थियाँ पुष्ट नहीं होती, हाथ-पैर छोटे होते हैं, दाँत देर से निकलते हैं, वच्चा समयानुसार खड़ा नहीं हो पाता, शरीर का वर्धन नहीं होता, वच्चा बीना रह जाता है, लिङ्ग (वीज-ग्रन्थ) का विकास मन्द होता है, त्वचा रुक्ष, शुष्क रथा बाल पतनशील और अल्प होते हैं। मासपेशियाँ निर्वल होती हैं। चेहरा पीला रहता है। आयु के साथ शरीर नहीं बढ़ता है। उनकी बुद्धि का विकास नहीं होता तथा मानसिक विकास कुण्ठित हो जाता है, जिससे ऐसे वच्चे जड़-मन्द बुद्धि या मूढ़ (Idiot, stupid) होते हैं। आंखें सूजी रहती हैं, नासावश चपटा हो जाता है, कन्धों पर मेद की मोटी रह बैठ जाती है, पेट कूल जाता है और नाभि उभर आती है।

वच्चों में इस रोग की सभावना होते ही उन्हे आयोडीन आदि तथा अन्य समृद्ध आहार देकर स्वस्थ, पुष्ट शरीर वाला और बुद्धिसप्न बनाने का प्रयास कर उनके जीवन को सार्थक बनाये। ऐसे वच्चों को यदि दूसरे प्राणियों की चुल्लिकाग्रन्थ का स्राव दिया जाये, तो उनमें चमत्कारपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उनके शरीर और मन का पुन विकास शुरू हो जाता है, और वे बुद्धिशाली बन जाते हैं।

२. पूर्ण वय के मनुष्यों में भी चुल्लिकाग्रन्थ की क्रिया मन्द पड़ जाने पर मूढ़ता आ जाती है, हाथ-पैर और गले में बेड़ील तरीके की सूजन हो जाती है। त्वचा रुक्ष हो जाती है, बाल झड़ जाते हैं और उसका स्वभाव आलसी हो जाता है। मानसिक अवसाद के कारण वे न किसी प्रसङ्ग में निर्णय ले पाते हैं, न किन्हीं प्रश्नों का यथासमय उत्तर दे पाते हैं, इस प्रकार वे मानसिक दृष्टि से पिछड़ जाते हैं।

ऐसे वयस्क जनों को चुल्लिकाग्रन्थ-सत्त्व का प्रयोग कराया जाय, तो वे पुन यथास्थिति में हो जाते हैं। उनके बाल जम जाते हैं और शनैं शनैं उनका शारीरिक एवं मानसिक धरातल सन्तुलित हो जाता है।

चुल्लिकाग्रन्थि के स्नाव का अतियोग

जब चुल्लिकाग्रन्थि अधिक महिम होती है, तो जरीर और गत फो चेप्टाएँ बढ़ जाती हैं। हृदय की गति, जो भायान्यत, प्रति मिनट ७०-७५ रहती है, यह ९०, १००, १४० या १६० तक होने लगती है। अगुलियों की धमनियों में भी फउकन आनानी से प्रतीत होने लगती है। आंखें आगे की ओर निकल आती हैं और पलकें बाँधों को, ठीक नहीं ढंक पाती। ग्रन्थि का परिभाषण बढ़ जाता है, हाथ की पाँपने लग जाते हैं, कभजोरी बढ़ जाती है और मन्द-भन्द ज्वर रहने लगता है। रोगी अधीर होता है, चिडचित्र हो जाता है। उसे पनीता अधिक होता है, त्वचा आँद्र रहती है और रक्त में शक्ति वा प्रभाषण नम ने कुछ अधिक हो गया है।

वहिनेवगलगण्ड—किसी-किसी मनुष्य को चुल्लिका के कार्याधिगत के परिणाम-स्वरूप गलगण्ड के अतिरिक्त नेत्र-नुस्खुद के बाहर उभर जाने का रोग अर्थात् वहिनेवगलगण्ड हो जाता है। इस ग्रन्थि के प्रकोप से तापाधिगत होने पर रोगी उष्ण ऋतु के कष्ट को नहीं नहन कर पाता और इसके विपरीत चुल्लिका की मन्दकर्मता की स्थिति में रोगी को शीत के प्रति अनहिल्पता हो जाती है।

ज्ञातव्य है, कि चुल्लिकाग्रन्थि के अन्त.स्नाव (थायराक्सिन—Thyroxin) का प्रधान द्रव्य आयोडीन है, जो टायरासीन नामक एसाइनो एसिड के साथ मिलकर इस अन्त स्नाव को बनाता है। खाद्य पदार्थों में जब आयोडीन की मात्रा कम होती है अथवा उचित मात्रा में होने पर भी जब ग्रहणी में उसका शोषण या धातुओं में उपयोग सही ढंग से नहीं हो पाता तब थायराक्सीन की मन्दता होकर शारीर-भानस विकार या गलगण्ड होता है।

पीने के पानी में थोड़ा आयोडीन मिला देने से आहार में आयोडीन का समयोग होकर, उसकी कमी से होनेवाले विकार ठीक हो जाते हैं। दूध में, व्याज में और गाजर में आयोडीन की पर्याप्त मात्रा होती है, अतः इनका प्रयोग भी लाभप्रद है।

चुल्लिकाग्रन्थि के स्नाव का अतियोग (प्रकोप) होने पर ग्रन्थि का कुछ भाग शस्त्रकर्म से निकाल देने पर तज्जन्य विकार शान्त हो जाते हैं।

उपचुल्लिका-ग्रन्थि

(Parathyroid Gland)

परिचय—ये छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ ३-५ इच्छ लम्बी होती हैं और चुल्लिका-ग्रन्थि के पार्श्विक खण्डों के पिछले किनारों से लगी रहती हैं। ये ग्रन्थियाँ दो दाँड़ और दो बाँई ओर लगी रहती हैं।

उपचुल्लिका के कर्म

इन ग्रन्थियों का कार्य रक्त तथा अन्य धातुओं के द्रवभाग में कैलसियम के सर्वरेन को ठीक रखना है। परिचुल्लिका का अन्त स्नाव, कैलसियम या सुधा के सच्चयस्थानों (अस्थि एवं रक्त आदि द्रव धातु) में सुधा के कणों की समता रखता

हुआ नाड़ी तथा मास धातु के कर्म के साम्य का नियमन करता है। जब उपचुलिलका का कार्य ठीक नहीं होता, तो व्यक्ति का आकार छोटा होता है। अस्थियाँ पतली और कमजोर होती हैं और शीघ्र दूट जाती है और दूटने पर शीघ्र जुटती नहीं है। ये ग्रन्थियाँ वसा के व्यय को कम करती हैं, जिससे शरीर में वसा अधिक इकट्ठी होती है।

उपचुलिलका के अन्तःस्नाव का हीनयोग

उपचुलिलका की मन्दता के कारण शरीर में कैलसियम या सुधा के सवर्तन की कमी से नाड़ी तथा मास-स्थान क्षुभित हो जाते हैं। इन ग्रन्थियों के विकार के कारण शरीर में खटिक की कमी हो जाती है और शरीर में उद्वेटन के वेग होते हैं। क्रमशः ये वेग तीव्र होकर आक्षेप (कन्वल्सन्स—Convulsions) का रूप धारण कर लेते हैं। पेशियों में स्तब्धता होने लगती है और सकोच होने लगता है। उपचुलिलका-ग्रन्थि के अभाव अथवा अकर्मण्यता से हाथ और पैरों की मासपेशियों के सकोच तथा नाडियों और मासपेशियों की क्षुब्धावस्था को टिटेनस (Tetanus) के सदृश होने के कारण टिटेनी (Tetany) रोग कहते हैं। जिसमें ऐच्छिक पेशियों का दौरे के रूप में सकोच होने लगता है। ये दौरे मासपेशियों से सम्बद्ध नाडियों पर जरा सा दबाव पड़ने पर उत्पन्न हो जाते हैं।

टिटेनी के लक्षण

यह रोग अकस्मात् पहले हाथों और पैरों में होता है, फिर जघाओं में चला जाता है। बाहु की समस्त मासपेशियाँ केवल पोरों को छोड़कर मुड़ जाती हैं। बँगूठा हथेली की ओर प्रथम जोड़ पर मुड़ा रहता है और दूसरे जोड़ पर फैला रहता है। अगुलियाँ पहले जोड़ पर अन्दर को मुड़ती हैं और दूसरे एवं तीसरे जोड़ पर सीधी रहती हैं। बाहु कलाई और कोहनी पर मुड़ी रहती है तथा छाती पर आती है। इसी प्रकार पैरों की सन्धियाँ भी मुड़ी रहती हैं। जब रोग का वेग अधिक होता है, तो सारा शरीर ही अन्दर की ओर मुड़ जाता है।

यह रोग वेग के रूप में होता है। कभी यह वेग कुछ मिनट तक रहता है और कभी-कभी कुछ घण्टे अथवा कुछ दिन रह जाता है। वेग धीरे-धीरे शान्त होता है और पुन अनिश्चित समय के बाद होता है।

चिकित्सा

कैलसियम के योग—कैलसियम लैंकेट कैलसियम ग्लूकोनेट आदि तथा प्रवाल भस्म, कपर्दिका भस्म आदि का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही एक्स्ट्रैक्ट पैराथाय-राइड का आवश्यक रूप से प्रयोग करना चाहिए। इन प्रयोगों को पर्याप्त समय तक चालू रखना चाहिए।

उपचुलिलका के अन्तःस्नाव का अतियोग

उपचुलिलका के अन्त स्नाव के अतिमात्रा में निकलने के कारण रक्त में सुधा के अणुओं (आयनों) की सख्ता बढ़ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप नाड़ीस्थान

का सामुदायिक अवभाद (Depression), नन्दा (Drowsiness), मासपेशियों की मृदुता, मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं।

इसके उपचारार्थं शरीर में सुधा की मात्रा की समता प्र्याप्ति करना चाहिए।

उपवृक्त

(Adrenal, Suprarenal)

परिचय—शरीर में दो उपवृक्त ग्रन्थियाँ होती हैं। एक-एक ग्रन्थि प्रत्येक वृक्त पर टोपी की भाँति चढ़ी रहती है। प्रत्येक उपवृक्त ग्रन्थि दो-दो अन्तःस्नावी ग्रन्थियों का समुदाय है। इनके दो भाग हैं—१ अन्तःस्थ भाग और २ बाह्य भाग। ग्रन्थि को मध्य में काटने में दोनों ग्रन्थियों की पृथक् विद्वति देखी जा सकती है। मध्य के भाग को उपवृक्त-मध्य और चारों ओर के आवरण को उपवृक्त-वल्क कहते हैं। एवं अन्तःस्थ भाग को मध्य और बाह्य भाग को वल्क कहते हैं। मध्य और वल्क दोनों ग्रन्थियों के अन्तःस्नाव तथा कर्म भिन्न-भिन्न हैं।

कर्म—बाह्य भाग का कार्य वस्ता को जमा करना है, जिसके कारण बाह्य जननेन्द्रियाँ बढ़ जाती हैं। चार वर्ष के बालक की जननेन्द्रियाँ १४ वर्ष के बालक के समान हो जाती हैं और विटम पर बाल उग आते हैं।

अन्तःस्थ भाग का कार्य रक्तभार को अधिक करना और अनैच्छिक मासपेशियों को उत्तेजित करना है। इससे यकृत में शर्कराजन से शर्करा बनाने की शक्ति भी बढ़ जाती है। इस भाग से एक सार निकलता है, जिसे एड्रीनलीन (Adrenalin) कहते हैं। यह पिङ्गल नाड़ीभण्डल का उत्तेजक है। एवं इसके इञ्जेक्शन से रक्तभार बढ़ जाता है और धमनियाँ सकुचित हो जाती हैं।

उपवृक्त के अन्तःस्नाव का हीनयोग

ग्रन्थि की विकृति ऐथवा अन्य किसी कारण से जब इस ग्रन्थि का स्नाव कम होता है, तब मनुष्य का शरीर श्याववर्ण का हो जाता है, उसकी मासपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं और हृदय की गति मन्द हो जाने से रक्त का प्रवाह ठीक नहीं रहता। उत्साह मन्द हो जाता है और प्रजनन-अवयव पर भी विचित्र प्रभाव होता है।

विकृति—इस ग्रन्थि की विकृति के कारण ठोटे लड़कों की जननेन्द्रिय बहुत बड़ी हो जाती है। तरुण स्त्रियों में पुरुषत्व के चिह्न, जैसे—मूँछों की रेखा फूट जाना, स्तनों का छोटा हो जाना, भग्नशिशिका का बड़ा हो जाना, इत्यादि लक्षण होते हैं।

उपवृक्त के अन्तःस्नाव का अतियोग

भय खाने या क्रोध करने से इस स्नाव की बड़ी मात्रा रक्त में मिल जाती है, परिणामस्वरूप हृदय की गति तीव्र हो जाती है, श्वासोच्छ्वास तेज हो जाता है, रक्त का दबाव (Blood pressure) बढ़ जाता है, रोगटे खड़े हो जाते हैं, नेत्र की

पुतली फैल जाती है, रक्त में ल्लूकोज की मात्रा बढ़ जाती है, जिसका उद्देश्य मासपेशियों को विशेष पोषण पहुँचाना होता है।

थाइमस

(Thymus)

परिचय—इस ग्रन्थि का कुछ भाग वक्ष में उरोस्थि के पीछे और कुछ ग्रीवा के नीचे के भाग में रहता है। बच्चों में यह ग्रन्थि बड़ी होती है। यह बालकों की १४-१५ वर्ष की आयु होने तक बढ़ती रहती है और फिर धीरे-धीरे छोटी होने लगती है। नवजात शिशु में इसका भार १३ से २७ ग्राम तक और ११ से १५ वर्ष के बीच ३७ से ५२ ग्राम तक होता है। इसके पश्चात् भार कम होने लगता है। यहाँ तक कि ६५ वर्ष की आयु में केवल ६ ग्राम तक रह जाता है। ग्रन्थि का रग गुलाबी भायल धूसर होता है। ग्रन्थि की लम्बाई २५ इंच और चौड़ाई १ इंच के लगभग होती है। इस ग्रन्थि के दो खण्ड होते हैं—१ दाहिना और २ बायाँ।

कर्म—थाइमस का अन्त स्राव शरीर के पोषण और परिपूर्णता में उपयोगी है। स्त्री और पुरुष दोनों में वीजग्रन्थियों के विकास को रोकती है। इन ग्रन्थियों पर इसके दमन का परिणाम यह होता है, कि उतने काल में शरीर सपूर्ण रूप में पुष्ट हो जाता है।

यह ग्रन्थि खटिक (कैलसियम) सम्मेलनों के आत्मीकरण में और वसा के कम व्यय होने में सहायता देती है।

विकृति—इसके निकाल डालने या विकृत होने से व्यक्ति का कद छोटा हो जाता है और वह दुबला हो जाता है।

पोषणिका-ग्रन्थि

(Pituitary Gland)

परिचय—इसे हाइपोफिसिस (Hypophysis) भी कहते हैं। यह ग्रन्थि मस्तिष्क के तल भाग में स्थित होती है। यह आज्ञाकन्द (Thalamas) के नीचे जटूकास्थि के पोषणिका खात में एक वृन्त द्वारा लटकी होती है। यह ग्रन्थि दो अन्त स्रावी ग्रन्थियों का समुदाय है। दोनों ग्रन्थियों की सूक्ष्म रचना, अन्त स्राव तथा उनके कर्मों के भेद के अतिरिक्त गर्भ में इनका मूल भी भिन्न होता है। इसके चार भाग हैं, जिसमें दो मुख्य हैं—१ अग्रिम खण्ड तथा २ पश्चिम खण्ड। दोनों ग्रन्थियाँ मिलकर केवल मटर जितनी होती है, परन्तु इनके अन्त स्रावों की सख्त अधिक होती है। इनके स्राव अन्य अन्तग्रन्थियों के स्रावों के उद्दीपक होने से इसे सर्वाध्यक्ष (Master gland) कहा जाता है।

अग्रिमखण्ड के अन्तःस्राव और उनके कार्य

१ वृद्धिकारक अन्तःस्राव—यह अस्थियों की वृद्धि और पुष्टि करता है।

२ बीजप्रनिय-प्रवर्तक अन्तःस्राव (Gonado-tropic hormone)—ये दो हैं—
एक से पुरुषों में पुरीजों की क्रमपुष्टि होती है, दूसरे से अन्त शुक्र का उद्दीपन होता है। स्त्रियों में एक बीजपुट की पुष्टि का तथा दूसरा बीजपुटकिण की पुष्टि का उद्दीपक है।

३ दुधप्रवर्तक अन्तःस्राव (Lactogenic hormone)—इससे स्तनप्रनियों में दुध की उत्पत्ति होती है और क्षरण होता है।

४ चुल्लिकाप्रवर्तक अन्तःस्राव—इससे चुल्लिकाग्रन्थि की पुष्टि होती है।

५ परिचुल्लिकाप्रवर्तक अन्तःस्राव—इससे परिचुल्लिका की पुष्टि होती है।

६ उपवृक्कवल्कप्रवर्तक अन्तःस्राव—इससे उपवृक्कवल्क का पोषण होता है।

७ धारुपाकप्रवर्तक अन्तःस्राव—इसका योगदान वसा एवं कार्बोहाइड्रेट्स के धातुपाक में है।

८ मूत्रल अन्तःस्राव—यह मूत्रमार्ग के उदकक्षय को नियन्त्रण में रखता है।

पश्चिम खण्ड के अन्तःस्राव और उनके कार्य

इस खण्ड में जो अन्त स्राव होता है, उसमें गर्भाशय, मूत्राशय, वृहदन्त्र आदि अगों के अनैच्छिक मास को सिकोड़ने की शक्ति होती है। अतएव इस प्रसिद्ध सत्त्व पिट्युट्रीन का प्रयोग, प्रसवकाल में गर्भाशय के सकोच को बढ़ाने के लिए बहुत पहले से होता आया है।

१ रक्तभारवर्धक अन्तःस्राव—इसे पिट्रोसिन (Pitrossin) कहते हैं।

२ मूत्र-सग्रहणीय अन्तःस्राव—पिट्युट्रीन की सूचीवस्ति से मूत्र का प्रमाण कम होता है।

३ गर्भप्रवर्तक अन्तःस्राव—इससे गर्भाशय के माससूत्रों पर सकोचक क्रिया होती है।

४ अन्य रेखाशून्य माससूत्रों पर क्रिया—पोषणिका ग्रन्थि के सत्त्व का अन्त्र आदि रेखाशून्य माससूत्रों पर भी सकोचक प्रभाव होता है।

पोषणिकाग्रन्थि के अन्तःस्राव का हीनयोग

१ इसके अन्त स्रावों की न्यूनता होने पर गर्भधारण, प्रजनन और पोषण की क्रियाओं में विकृति होती है।

२ गर्भावस्था में पोषणिका के अग्रिम खण्ड के कम काम करने से भ्रूण की अस्थियाँ ठीक-ठीक नहीं बनती। शाखाओं की अस्थियाँ विकसित नहीं होती और छोटी हो जाती हैं, जिससे पुरुष वामन (Dwarf) हो जाता है।

३ जन्मोत्तर और यौवनारम्भ के पहले अग्रिम खण्ड के काम न करने पर निम्नलिखित विकृतियाँ होती हैं—

(क) वौनापन के साथ-साथ शरीर स्थूल हो जाता है और जननेन्द्रियाँ नहीं बढ़ती हैं। ऊँचाई कम होती है तथा मोटापन अधिक होता है, विशेषकर वसा श्रोणिप्रदेश एवं ग्रीवा में एकत्र होती है। बच्चों का शारीरिक और मानसिक

विकास स्थगित हो जाता है। उसकी अस्थिर्याँ कमजोर होती हैं। यीवन के आगमनकाल में पुरुष में शुक्रकीट नहीं बनते और स्त्री में रजोदर्शन नहीं होता। कभी-कभी अण्डकोष तक नहीं उतरते हैं।

(ख) वीनापन होने पर जननेन्द्रियों का विकास अल्प होता है, किन्तु मोटापा नहीं होता।

(ग) वामन तीन-चार फुट के होते हैं, जो दो प्रकार के देखे जाते हैं—

(१) इनमें विरूपता नहीं होती, परन्तु प्रजनन की दृष्टि से बाल रह जाते हैं, इनमें रूप, शील-स्वभाव और बुद्धि में विकास परिलक्षित होता है। बृहण चिकित्सा करने से कुछ सफलता मिलने की आशा होती है।

(११) दूसरे प्रकार के वामन मेदस्वी, निद्रालु, और मेद का सचय स्त्रीतुल्य स्थानों पर होने से एकदम बुद्धिहीन कन्या जैसे लगते हैं।

४ यीवनावस्था आने के पश्चात् पोषणिका ग्रन्थि के अग्रिम खण्ड के काम न करने से एक प्रकार की स्थूलता आ जाती है और व्यक्ति आलसी, सुस्त, निद्रालु तथा अल्पश्रम से थक जानेवाला होता है। उसके प्रजनन अवश्यक उचित रूप से विकसित नहीं होते। दाढ़ी, मूँछ, स्तन आदि पर्याप्त रूप में प्रकट नहीं होते।

५ पोषणिका के अग्रिम खण्ड के नाश का परिणाम—किसी भी कारण से पोषणिका के नाश या उसकी निष्क्रियता से शरीर का सारा ही ढाँचा चरमरा जाता है, क्योंकि इस स्थिति में अन्य ग्रन्थियों के प्रवर्तक अन्त स्राव की क्षीणता हो जाती है। असमय में ही बाल सफेद हो जाते हैं या झड़ जाते हैं, त्वचा में झुरियाँ पड़ जाती हैं, त्वचा मिकुड़ जाती है शरीर के बाह्य तथा आध्यन्तर अवश्यकों का ह्रास हो जाता है, वीजग्रन्थियाँ क्षीण होती हैं, पुस्तव-नाश, बन्ध्यता, मानस-मन्दता, अस्थि-भगुरता, शिरा-शैथिल्य एवं मूर्छा आदि उपद्रव होते हैं।

पोषणिका-ग्रन्थि के अन्तःस्राव का अतियोग

१ गर्भविस्था में इस ग्रन्थि के अग्रखण्ड के अधिक कार्य करने से अस्थियों के लम्बे होने से शरीर बड़ा हो जाता है। विवर्धमान बच्चों के हाथ-पैर और जबड़े की अस्थियाँ अधिक बढ़ जाती हैं, जिससे देखने से वे 'दानवकाय' (Gigantic) प्रतीत होते हैं। उनके हृदय तेजी से धड़कते हैं, रक्त का दबाव बढ़ जाता है और शरीर के ऊर्ध्व भाग में मेद के स्तर जमने लगते हैं।

२ अधिक विचित्र बात यह होती है, कि इस ग्रन्थि की विकृति के परिणाम-स्वरूप स्त्रियों में पुरुषों के और पुरुषों में स्त्रियों के गौण जातिसूचक चिह्न प्रकट होते हैं, जैसे—स्त्रियों को मूँछे आने लगती है, रजोधर्म बन्द हो जाता है, कण्ठ कर्कश होने लगता है और स्तन सकुचित होकर छोटे हो जाते हैं। इसके विपरीत पुरुष की आवाज कोमल हो जाती है, दाढ़ी-मूँछ बहुत कम रह जाती है, स्तन बड़े हो जाते हैं और जननेन्द्रियाँ शिथिल होकर मेद से ढँक जाती हैं।

३. शरीर की पूर्ण वृद्धि होने के बाद अग्रधण्ड के अधिक कार्य करने से जो रोग होता है, उसे प्रान्तवृद्धि या एक्रोमेगाली (Acromegaly) कहते हैं। इसमें मुख के नीचे के भाग तथा हाथ-पैर पर विशेष प्रभाव होता है। हाथ-पैर, नीचे का जबड़ा और चेहरे की अस्थियाँ बड़ी हो जाती हैं। नासिका स्थूल हो जाती है, गण्डास्थियाँ उभर आती हैं, जबउ बहुत बड़े हो जाते हैं। हाथ-पैर विशाल हो जाते हैं। इन अवयवों के मृदु भाग भी रथूल होकर मुख तथा शाखाओं की परिधि को बड़ा देते हैं। ये दानवशाय व्यक्ति ७-८ फुट ऊचे होते हैं।

अग्न्याशय या फ्लोम

(Pancreas)

परिचय—अग्न्याशय एक उभयतंत्री ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि उदर की पिछली दीवार ने लगी होती है। उसकी आँकड़ियाँ पिस्तौल जैसी होती हैं। फ्लोम का दाहिना भाग मोटा होता है और शिर कहलाता है, वाँया भाग पतला होता है और उसको पुच्छ कहते हैं। शिर और पुच्छ के बीच भा भाग ग्रन्थिका गात्र है। शिर पक्वाशय के घेरे में रहता है एवं पुच्छ का निरा प्लीहा से मिला होता है। फ्लोम के सामने अनुग्रन्थि वृहदन्त्र और आमाशय रहते हैं, उसके पीछे अधोगा महाशिरा, महाधमनी, वायें उपवृक्क का कुछ भाग, वायाँ वृक्क और प्लीहा रहते हैं। ग्रन्थि का मार ६० से १०० ग्राम तक होता है। उसकी लम्बाई ५ से ६ इंच तक होती है। इसमें प्रणालियाँ होती हैं, परन्तु ये ग्रन्थियाँ ऐसे रस भी बनाती हैं जो प्रणालियों द्वारा नहीं निकलते, प्रत्युत मीधे रक्त में पहुँच जाते हैं।

कर्म—अग्न्याशय के 'लेङ्गरहैन्स के द्वीप' नामक कोप-पुञ्ज एक पदार्थ बनाते हैं, जिसका नाम इन्स्युलीन (Insulin) रखा गया है।

भोजन के अनन्तर कार्बोहाइड्रेट जठराग्नि से परिपक्व होकर विभिन्न शर्कराओं के रूप में परिणत हो रक्त में मिश्रित हो जाते हैं। मुख्यतया इन्स्युलीन की क्रिया से इनका दहन या सञ्चय होता है, किंवा ये दो उपयोग होने पर भी वे शेष रहे, तो मूत्रमार्ग से बाहर निकाल दिये जाते हैं। इसी से कमी-कमी अति प्रमाण में मधुर द्रव्यों के सेवन से कुछ शर्करा की मात्रा प्राप्त होती है।

दहन के कार्य में प्रयुक्त या सञ्चित शर्करा की अपेक्षा क्षुद्रान्त्र द्वारा शोषित शर्करा का प्रमाण अधिक हो, तो रक्त में शर्करा की वृद्धि होती है। यह स्थिति अग्न्याशय के विकृत होने से इन्स्युलीन की क्षीणता (सावकी अल्पता) होने पर होती है। इन्स्युलीन का क्षय होने से शोषित शर्करा का यथावत् उपयोग नहीं हो पाता, जिससे रक्त में शर्करा का प्रमाण बढ़ जाता है। मधुर द्रव्यों का अतियोग होने पर किंवा यकृत में ग्लायकोजन का भराव होने पर भी यह स्थिति होती है। रक्त में शर्करा के आधिक्य को मधुररक्त (Hyperglycaemia) कहते हैं।

मधुररक्त के परिणामस्वरूप क्षौद्रमेह या मधुमेह होता है, जिसमें मूत्र में शर्करा की मौजूदगी रहती है। इन्स्युलीन की क्षीणता होने पर रक्त में शर्करा का प्रमाण

बढ़ जाता है, जिससे वृक्कीय देहलौके (रक्त में शर्करा का प्रमाण ० १ से ० २० प्रतिशत होना) का अतिक्रमण होने से मूत्र में शर्करा निकलती है।

मूत्र में शर्करा निकलने के परिणामस्वरूप उदकमेह या बहुमूत्र होता है। शर्करा घन रूप में बाहर नहीं निकल सकती, वह जल में विलीन होकर ही बाहर जा सकती है। ऐसी स्थिति होने पर शर्करा स्वभावत पर्याप्त मात्रा में जल को साथ ले लेती है, जिससे क्षीद्रमेह के साथ उदकमेह भी हो जाता है।

जल के अधिक निर्गमन से धातुओं को विशेष प्रमाण में जल की आवश्यकता का अनुभव होता है, जिसकी आपूर्ति के लिए जल की आकांक्षा होती है। पिपासा क्षीद्रमेह का प्रमुख लक्षण है।

पिपासा के साथ क्षीद्रमेह का एक लक्षण क्षुधाधिक्य भी है। इन्स्युलीन की क्षीणतावश अवयवों में शर्करा के उपयोग की शक्ति भले न हो, उसकी आवश्यकता तो उन्हे रहती ही है और यह वात अतिक्षुधा के रूप में प्रकट होती है।

क्षीद्रमेह का एक अन्य उपद्रव है—दुर्बलता। होता यह है कि रक्त में शर्करा का प्रमाण न्यून होने से यकृत स्वभावत पूर्वसञ्चित ग्लायकोजन को द्राक्षाशर्करा के रूप में परिवर्तित कर रक्त में भेजता है। उसके भी मूत्रमार्ग द्वारा निकल जाने से अन्तत यकृत धातुओं के प्रोटीन को ही द्राक्षाशर्करा के रूप में परिणत कर अवयवों को पहुँचाता है। परिणाम यह निकलता है, कि शरीर के अवयव प्रोटीन के हीनयोग से होनेवाले दौर्बल्य के पात्र बन जाते हैं।

विकृति—अरन्याशय की विकृति जीर्ण शोथ होने से अथवा यक्षमा के कारण होती है। कुछ मेर जन्मजात विकृति भी होती है।

उपचार

इन्स्युलीन की सूचीवस्ति से क्षीद्रमेह का कारण नष्ट होने से उक्त लक्षणों का ह्रास हो जाता है। लक्षणों के अपुनरावर्तन के लिए प्रतिदिन एक बार इसकी सूची दी जाती है। मिरा में सूचीवस्ति का परिणाम कुछ ही मिनटों में होता है, परन्तु आधे से एक घण्टे में नष्ट भी हो जाता है और पुन रक्त में शर्करा की वृद्धि हो जाती है। त्वचा में देने से शोषण मन्द होने के कारण परिणाम देर से किन्तु कुछ म्थायी होता है। अत एव यह सूचीवस्ति त्वचा में ही दी जाती है।

इन्स्युलीन अरन्याशय के सत्त्व के रूप में प्राप्त होता है, यह एक प्रोटीन है। सिनगध आहार से अरन्याशय में इन्स्युलीन का प्रमाण बढ़ जाता है। यह आमाशय रस की वृद्धि करता है।

बीज-ग्रन्थियाँ: वृषण और अन्तःफल

वृषण ग्रन्थियाँ

वृषण और अन्त फल अरन्याशय के समान उभयत सावी ग्रन्थियाँ हैं। इनके बहिस्त्राव क्रमश पुवीज और स्त्रीबीज है। वृषण-ग्रन्थियों के अन्त साव को अन्त-शुक्र (पेरीएण्ड्रीन Periandrine) कहते हैं।

अन्तःशुक्र का कार्य—इसका कार्य अन्य जननावयवों की पुष्टि तथा उनके प्राकृत कर्मों का परिस्थान और पुरुषों में श्मशु आदि लिङ्गधोतक वाह्य चिह्नों का उत्पादन और रक्षण है। वृद्धन-ग्रन्थियों की अत्यन्त वारीक तह (सेक्सन—Section) काटकर बण्वीक्षण के नीचे देखें, तो यत्र न्तर कोपों के अनेक स्तरों से वनी नलिकाएं तथा नलिकाओं के अन्तर्वर्ती स्थानों में अन्य प्रकार के कोप विखरे हुए दिखलाई देंगे। ये नलिकाएं पुवीजोत्पादक स्रोत (सेमीनीफेरस ट्यूब्यूल्स—Seminiferous tubules) हैं तथा अन्तर्वर्ती कोप अन्त शुक्र की उत्पत्ति करते हैं।

बाह्य लिङ्गधोतक चिह्न (Secondary sex characters)—सामान्यत तारुण्य की वय मन्दिर वेना में—लगभग चौदह वर्ष में सोलह वर्ष की वय में एक और वृषणों में पुवीजों का प्रादुर्भाव एव परिपक्वता तथा लिङ्ग की दृष्टि से परिपूर्णता होती है, दूसरी ओर कई चिह्न प्रकट होते हैं, जिन्हें वाह्य लिङ्गधोतक चिह्न कहते हैं, जैसे—पुरुषों में इस काल में शिशनप्रदेश और मुख पर रोमोत्पत्ति होती है, स्वर गम्भीर हो जाता है और पुरुषोंचित दर्शनीयता स्पष्ट हो जाती है। पशुओं में सींग निकलना, कलंगी फूटना आदि लक्षण होते हैं।

तारुण्य के पूर्व लड़के को यदि पण्ड बना दिया जाये, तो उसमें पुश्पत्व के चिह्नों का प्रादुर्भाव नहीं होता। स्वर नहीं बदलता, श्मशु तथा शरीर में अन्यत्र तारुण्य के कारण उगनेवाले बाल बहुत थोड़े उगते हैं, शरीर का सहनन (बनावट) पुरुषोंचित नहीं होती, अण्ड, शुक्राशय तथा पौरुष-ग्रन्थि क्षीण हो जाते हैं, शिशन का यथावत् विकास नहीं होता, पुरुष जैसी घृष्टता और प्रगल्भता नहीं होती; क्रियाशीलता अल्प होती है और व्यक्ति प्राय भेदस्वी हो जाता है। कभी-कभी अस्थियों की पुष्टि भी अधिक होती है, जैसे—हिंजड़ों के पैर प्राय लम्बे होते हैं।

अन्त शुक्र मूलत वृषणों में ही बनता है, तत्पश्चात् उसका धातुपाक होकर विभिन्न द्रव्य बनते हैं, जो मूत्रमार्ग से क्षरित होते हैं। इन धातुपक्व (मेटाबोलाइट—Metabolite) द्रव्यों को एण्ड्रोजेन (Androgens) कहते हैं।

अन्तःशुक्र और एण्ड्रोजेन की सूचीबस्ति के परिणाम

१. जननावयव—अण्डकोप, शुक्राशय, शुक्रवद्ध स्रोतों के विभिन्न भाग, पौरुष-ग्रन्थि, शिशनमूल-ग्रन्थि एव शिशन की पुष्टि तथा कर्म-सामर्थ्य।

२. केश या रोम—दाढ़ी, मूँछ आदि का पुरुषोंचित प्रादुर्भाव।

३. मेदोग्रन्थि—त्वचा की मेदोग्रन्थियों का अन्त शुक्र से सम्बन्ध है। इन ग्रन्थियों का तारुण्योदय काल में शोथ होता है, जिससे मुँहासे निकलते हैं।

४. त्वचा का वर्ण—यौवन आने पर त्वचा में दृढ़ता, अधिक गुलाबी रंग और रंग या वर्ण गहरा होता है।

५. स्वर—अन्त शुक्र के प्रयोग से स्वर गम्भीर और भारी हो जाता है।

६. अस्थि—अन्त शुक्र के सेवन से अस्थियों की वृद्धि होती है, कदाचित् नहीं भी होती है।

७ मांसपेशियाँ—अन्त शुक्र के प्रभाव के कारण ही पुरुषों की मांसपेशियाँ स्त्रियों की अपेक्षा पुष्ट और सशक्त होती हैं।

८ धातुपाक—अन्त शुक्र के कारण नाइट्रोजन, सोडियम, पोटैशियम, निर्द्विध प्रस्फुरक तथा क्लोराइड मल रूप में शरीर से बाहर नहीं जा पाते। अन्त-शुक्र के प्रयोग से धातुपाक की क्रिया ५ में १५ प्रतिशत बढ़ जाती है, भार में वृद्धि होती है। रक्तकण और रक्तरञ्जक भी बढ़ते हैं।

वृषणग्रन्थियों के अन्त स्राव को अन्त शुक्र नाम दिया गया है।

अन्तःफल और अपरा

वृषणों के समान अन्त फल भी उभयत स्रावी ग्रन्थि है। पोषणिका ग्रन्थि के दो पृथक् अन्त स्रावों की प्रेरणा से अन्त फल के भी अन्त और वहीं स्रावों का प्रादुर्भाव होता है। वहाँ स्राव स्त्रीबीज है।

अन्तःफल के अन्तःस्रावों का कार्य

अन्त फल के अन्त स्रावों का महत्वपूर्ण प्रयोजन है—गर्भधारण के लिए गर्भाशय को तैयार करना तथा गर्भस्थिति न होने पर आर्तवप्रवृत्ति। वय उपस्थित होने पर स्त्री में स्त्री-सुलभ चिह्नों, यथा—तारुण्य का उदय अन्त स्रावों के अधीन है और ये अन्त स्राव स्त्रीबीजों के विकास या परिपाक के आश्रित हैं।

तरुणाई आने पर स्त्री में पाया जाने वाला विशेष लक्षण—आर्तव या रजोदर्म की प्रवृत्ति है। इस काल में रजोदर्शन के अतिरिक्त जननावयवों की पुष्टि होती है तथा तारुण्य के अभिव्यञ्जक चिह्न प्रकट होते हैं, जैसे—गर्भाशय योनि तथा स्तनों की पुष्टि होने लगती है, भग्नप्रदेश तथा कक्षा (कॉख) में रोमोदगम, कन्या के शारीरिक स्वरूप में प्रौढ़ता एवं शरीर के उपचय की दर में वृद्धि होती है।

तारुण्य विकसित होने की आयु १३ से १५ वर्ष की है। सामान्यतः १० से १८ वर्ष के मध्य यह कभी भी प्रारम्भ हो सकती है। रजोदर्शन के पश्चात् आर्तव-प्रवृत्ति अनियमित रहती है, कुछ महीने नहीं भी होती, फिर नियमित हो जाती है।

स्त्री-बीज (अन्त फल का वहीं स्राव) आमावस्था में छोटे-छोटे अन्य कोषों से अभिव्याप्त रहता है। इन कोषों के इस आवरण या कवच को बीजपुट या फॉलिकल (Follicle) कहते हैं।

रजोदर्शन के पूर्व एवं इसके पश्चात् जीवन में होनेवाली प्रत्येक आर्तवप्रवृत्ति के पूर्व कुछ बीजपुट पुष्ट एवं परिपक्व होने लगते हैं, किन्तु इनमें पूर्ण परिपक्व एक ही होता है और शेष क्षीण हो जाते हैं, परिपक्व बीजपुट के मध्य में अवकाश हो जाता है। इस अवकाश में कुछ द्रव रहता है, इस अवस्था में यह अन्त फल के बाहर उभर आता है। विकास प्रारम्भ होने के दस दिन पीछे बीजपुट या कवच फटता है और स्त्रीबीज इसमें से बाहर छटक जाता है। इस प्रक्रिया को बीजोत्सर्ग (ओव्यूलेशन—Ovulation) कहते हैं। बीजोत्सर्ग के पश्चात् शेष कवच (बीज-

पुट) में कुछ परिवर्तन होकर एक घन एवं पीतवर्ण का कोपपुञ्ज बनता है। इसे बीजपुटवृद्धि क्रिया कहते हैं।

स्त्री-बीज बीजवाहिनी में पहुँचता है। इस समय यदि इसका पुबीज से समांगम और एकीभाव न हो, तो बीजपुट-किण और १२-१४ दिन और पुष्ट होता है, तत्पश्चात् क्षीण हो जाता है। किन्तु यदि एकीभाव होकर गर्भस्थिति हुई तो बीजपुट-किण यथास्थित रहता है तथा प्राय सम्पूर्ण गर्भाविस्थापर्यन्त रहता है।

बीजपुट और बीजपुट-किण के अन्त स्नाव

बीजपुट के अन्त स्नाव को ईस्ट्रीन (Oestrin) कहते हैं। इस द्रव्य के समान रासायनिक रचना और कर्मवाले द्रव्यों को ईरट्रोजेन (Oestrogen) कहा जाता है। ईस्ट्रीन और ईस्ट्रोजेन की क्रिया गर्भाशय, योनि और स्त्रुतग्रन्थियों पर होती है। इनसे गर्भाशय की अन्त कला की पुष्टि, रक्तवाहिनियों की वृद्धि तथा भराव, कफ-ग्रन्थियों की वृद्धि एवं गर्भाशय की चेष्टाओं में वृद्धि होती है। गर्भस्थिति होकर प्रसवपर्यन्त अन्त कला इस स्थिति में रहती है, अन्यथा क्षीण होकर मृत हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप इसमें सञ्चित रक्त बाहर आता है। इसे ही आर्तव कहते हैं। रजोदर्शन के समय ईस्ट्रीन के प्रभाव से स्त्रन पुष्ट होते हैं। प्रत्येक आर्तव के समय ये अधिकतर पुष्ट होते जाते हैं।

बीजपुट-किण से होनेवाले अन्त स्नाव को प्रोजेस्टेरोन (Progesterone) कहते हैं। इसका पर्याय ल्यूटीयल हामोन (Luteal hormone) है। इसके कारण गर्भाशय की पुष्टि होती है तथा कफ-ग्रन्थियों का स्नाव अविकल होता रहता है, जिससे गर्भ का यथावत् धारण-पोषण होता है।

प्राय चालीन की आयु के लगभग आर्तवप्रवृत्ति रुक जाती है। इसे रजोनिवृत्ति (Menopause) कहते हैं। इतका कारण वार्धक्यवश अन्त फलों के क्षीण होने से उसके अन्त स्नावों का क्षरण मन्द होना है। इस मन्दना के कारण अवसादक प्रभाव न रह जाने से पोषणिका के अग्रिम खण्ड के बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्त स्नावों का प्रमाण बढ़ जाता है। रजोनिवृत्ति के समय यह स्थिति अधिक रहने पर स्त्री में कई तरह के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका उपचार अन्त फल के स्नाव का प्रयोग कर क्रिया जाता है। इनमें स्टिलबेस्ट्रॉल (Stilbestrol) प्रधान है।

अपरा (Placenta)

माता के रस-रक्त से पोषक तथा अन्य द्रव्य गर्भ को पहुँचाना और मलद्रव उससे ग्रहण करना अपरा का प्रमुख कार्य है। यह एक अन्त स्नावी ग्रन्थि भी है। ईस्ट्रीन, प्रोजेस्टेरोन तथा बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्त स्नाव अपरा से उत्पन्न होते हैं। कदाचित् दुधप्रवर्तक (Lactogenic) तथा पोषक अन्त स्नाव भी इसमें क्षरित होते हैं। यह गर्भाविस्था के पश्चिमार्व में, गर्भस्थिति के लिए पर्याप्त प्रोजेस्टेरोन उत्पन्न करती है।

चतुर्थ अध्याय

आनुवंशिक व्याधियाँ एवं पर्यावरण

आनुवंशिक व्याधियाँ

(Hereditary Diseases)

परिचय—अधुनातन चिकित्सा विज्ञान की प्रवृत्तियों में, मनुष्यों में पाये जानेवाले अनेक कृच्छ्रसाध्य विकारों के विषय में, उनकी कुलज्ञता या आनुवंशिकी के निदान की खोज की ओर लोगों का विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ है और उनके रोकथाम की चिन्ता की जाने लगी है।

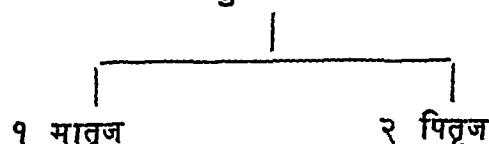
इस शताब्दी में वच्चों की अस्वस्थता और उनकी शैशवावस्था में मृत्यु का कारण सक्रमण और वातावरण एवं अल्पपोषण को समझा गया और औपधों तथा पोषणाहार के उत्पादन और वितरण से उनमें कमी आयी। यह भी ज्ञात किया गया कि आनुवंशिकी व्याधियों से शिशुओं की अस्वस्थता या विमारी की दर लगभग ४२ प्रतिशत है। युवा में यह आकलन कठिन है, किन्तु उनकी मृत्यु के कारण आनुवंशिक रोग भी होते हैं।

आयुर्वेद में आनुवंशिक रोगों को आदिकलप्रवृत्त (सुश्रुत), संचारी (याज्ञवल्क्य) कुलज (चरक), सहज (वागभट) एवं प्रकृतिभव (भेल) नाम दिया गया है।

मनुष्यों की उत्पत्ति का आदिकारण जो पुरुष के वीर्य का शुक्रकीटाणु (Spermatazoa) और स्त्री का वीज (Ovum) है, उनके दोषों के बल से उत्पन्न व्याधियाँ आदिकलप्रवृत्त कहलाती हैं। इस प्रकार—‘माता-पिता के शुक्र-शोणितगत दोषों के कारण संतति में प्रवैश करनेवाले रोगों को आनुवंशिक या हेरिडिटरी (Hereditary) रोग कहते हैं।’

ये रोग दो प्रकार के होते हैं—१ माता के रजोदोष से उत्पन्न और २ पिता के वीर्यदोष से उत्पन्न। जैसे—कुछ, अर्श^१ आदि।

आनुवंशिक रोग



स्त्री-वीज एवं पुरुष-वीज में शरीर के प्रत्येक अङ्ग का निर्माण करनेवाले सूक्ष्म बीजावयव होते हैं, बीजावयव का ही दूसरा नाम क्रोमोसोम (Chromosome) है।

^१ तत्र वीज गुदवलिवीजोपनस्पमायतनमर्शमा सहजानाम्। तत्र डिविभो वीजोपत्तस्मै हेतु—मातापेत्रोरपचारः पूर्वकृत च कर्म तथान्येपामपि सहजाना विकाराणाम्। च० च० १४।

उनमें से जिन अङ्ग के मूल वीजावयव की विकास होती है, उनी अङ्ग में विकार मी दृष्टिगोचर होता है, अन्य मे नहीं। इस प्रकार माता-पिता के अन्धत्व आदि विकारों का सन्तान मे मक्कल होना कदाचित् ही देखा जाता है।^१

माता-पिता तथा पूर्वजों के शारीरिक, मानसिक एव नैतिक गुणों, कृतिपय विशिष्ट रोगों तथा अन्य विशेषताओं का उनके वशजों मे जो सञ्चरण होता है, उने आनुवंशिकी कहते हैं।

आयुर्वेद मे कुछ तथा अर्ज के अतिरिक्त राजयष्मा, भृुमेह, श्वित्र एव अपम्मार—ये आदिवल्प्रवृत्त माने गये हैं। निम्नलिखित रोगों मे भी आदिवल-प्रवृत्ति होती है। जैसे—कंट (कैमर), मेदोज्वरुंद, घोणप्रियता (Haemophilus—रक्तपित्त का एक प्रकार), वधिरमूकता, वातरक्त, अस्थि-भगुरता (Fragilitas osseum), अर्धावेदक, छाजन-उकवत (Eczema), शीतपित्त, श्वास, तृणपुण्ड्रय ज्वर (Hay fever), नानालाव, मन्त्रिकदीर्घ्य, उन्माद के कड़ प्रकार, अपतन्त्रक (Hysteria), अदूरदृष्टि, रगान्धता, मोतियाविन्द, रक्त-भाराधिक्य (High blood pressure), अन्त लावी ग्रन्थियों के दोष के कारण होनेवाली स्थूलता, कृशता और मेदोज्वरुंदि, आमाशयिक व्रण आदि अनेक रोग तथा कटा होठ, फटी तालु, अगुलियों का जुड़ा होना, अंगुलियों का कम या अधिक होना, पैरों का मुड़ा होना इत्यादि अनेक शारीरिक विकलाङ्गता।

इन रोगों मे कुछ रोग प्रत्येक पीढ़ी की सन्तति मे थोड़े प्रमाण मे होते हैं, जैसे—मोतियाविन्द। कुछ रोग एक-दो पीढ़ी के बाद दिखलाई देते हैं, जैसे—वातरक्त। इस अवस्था को विपर्ययण (Atavism) कहते हैं। कुछ रोग केवल पुरुषों मे ही होते हैं और उनकी कन्या की पुरुष-सन्तति मे फिर दिखलाई देते हैं। इस प्रकार के रोगों को लिङ्ग-सम्बद्ध (Sex-limited) कहते हैं।

बहुत मे परिवारों मे आहार-विहार का एक निर्धारित दायरा होता है, एक परम्परा या परिपाटी होती है और वे बदलते समय के साथ समझौता नहीं करते। गरिज्ञ भोजन, नियमित मासाहार, मध्य अथवा दूसरे मादक द्रव्यों का प्रयोग वाल्यावस्था से अस्थस्त होने के कारण जीवन-पर्यन्त बना रहता है। वे रोगावस्था मे या देश-काल के परिवर्तित होने पर भी आहार-विहार, रहन-सहन मे परिवर्तन-पराद्मुख होते हैं। इस प्रकार परम्परागत गुरु आहार से भी रोगोत्पत्ति होती है।

मेदोरोग, ग्रहणीविकार, आमवात, वातरक्त प्रमेह, अर्ण और श्वासरोग से पीड़ित दम्पतियों की सन्तानों मे भी उनके इन रोगों का प्रसार हो जाता है, जिसका आधार उक्त प्रकार का आहार-विहार होता है। जहाँ माता-पिता गुरु-अभिष्यन्दी-मधुररस-प्रधान आहार, दिवाशयन, अव्यायाम तथा आराम करने वाले होंगे और मेदोज्वरुंदि एव प्रमेह जैसे रोगों से ग्रस्त होंगे, वहाँ उसी तरह के आहार-

^१ यस्य यस्य श्वासावयवस्य वीजे वीजभाग उपतस्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरूप-जायते नोपजायते चानुपत्तापात् । च० शा० ३ ।

विहार और रहन-सहन में पालित-पोषित शिशु भी आगे चलकर उक्त रोगों से अक्रान्त हो जायेगे। ये कुलज या आनुवशिक रोग होते हैं।

कुछ परिवार स्वाभाविक रूप से दीर्घजीवी, नीरोग और बल्डिष्ट होते हैं तथा कुछ परिवार इसके विपरीत, अल्पायु, अस्वस्थ एवं निर्वल होते हैं। अनुर्जताजनित (Allergic) व्याधियों के लिए पारिवारिक स्थिति का ज्ञान करना महत्वपूर्ण होता है। वयस्क एवं प्रौढ़ रोगी से उसके कौटुम्बिक जीवन की जानकारी लेनी चाहिए। उनके स्त्री-वच्चों के सम्बन्ध में पूछना चाहिए। वहुत से रोगों में पितृकुल, मातृकुल, भाई-बहन आदि खून के रिस्तेवालों के बारे में पूछताछ कर रोग की आनुवशिकता का विश्लेषण करना चाहिए।

सम्पन्नता अथवा विपन्नता के कारण भी रोगों के क्रम में परिवर्तन होता रहता है। कुलज प्रकृति के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य, आहार-विहार तथा प्रमुख रोगों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए माता-पिता की २-३ पीढ़ियों का इतिहास जानना कुछ रोगों में आवश्यक होता है। इसलिए बिना किसी लाग-लपट के, वेवाक सवाल कर, खोजी पत्रकार या जासूसी राजपुरुष या गुप्तचर की तरह रोगी की अन्तरात्मा और उसकी पीढ़ियों में झाँक कर नैदानिक इतिकर्तव्यता का पालन करना चाहिए।

अन्य विद्वानों की धारणा है कि जीवाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोग, यथा — कुछ एवं राजयक्षमा आनुवशिकी रोग नहीं हैं, अपितु कुछ रोगी तथा राजयक्षमा रोगी माता-पिता के गाढ़ सम्पर्क में रहने से उनकी सन्तानों में उन रोगों के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है। यदि जन्म होते ही इन वच्चों को कुप्ती या यक्षमी वातावरण से पृथक् कर दिया जाय, तो ये रोगग्रस्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार अर्ण को भी कुलज नहीं मानते हैं।

कुछ कुलज रोग प्रत्येक पीढ़ी में होते हैं, जैसे —मोतियाविन्द। कुछ एक-दो पीढ़ी के बाद होते हैं, जैसे —वातरक्त। कुछ रोग केवल पुरुषों में होते हैं तथा उनको न नी पुरुष-सन्तानि में फिर से दिखलाई देते हैं, जैसे —हीमोफीलिया, रङ्गान्धता आदि।

जन्मबल-प्रवृत्त रोग भी आनुवशिकी रोग है—माता के मिथ्या आहार और वाचार से गभविक्रान्ति के समय जो रोग होते हैं, वे जन्मबलप्रवृत्त^१ कहलाते हैं। उन्हें —पगु, जन्मान्ध, वहरा, गूँगा, मिन्मिन (हक्लाकर एवं रुक-रुकर बोलने वाला) और यामन आदि।

नैविकृतियों दो प्रकार की होती है—१ अस्वाभाविक वृद्धियुक्त अथवा विकृताकार की सन्नान। जैसे—अँगुलियों की अधिकता अथवा उनकी सट्टा वीस से अधिक होना, स्थूल होना जगों की अधिकता आदि तथा अगों की कम वृद्धि होना,

^१. जन्मबलप्रवृत्ता या मातुरपचारात् पद्मगुजात्यन्धवधिरमूकमिन्मिन शामनप्रभूतया त्रायन्ते, नेत्रपि द्विविधा भक्तुना दोहृष्टपचारकृतात्। सु० ख० २४५।

होठ का कटा होना, गुदाद्वार का न होना या अगो का विपर्यास (उल्टा होना) जैसे—हृदय और प्लीहा का दक्षिणार्ध में और यकृत का वामार्ध में होना आदि ।

२ आधातज एवं उपसर्गज—प्रसव के समय किसी प्रकार की चोट लगने से अथवा माता के उपसर्ग से रोग उत्पन्न होना । जैसे—फिरङ्ग, आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका आदि ।

सुश्रुत ने प्रकारान्तर से जन्मबलप्रवृत्त रोगों को दो प्रकार का कहा है—
१ रसकृत और २ दौर्हंद (गर्भिणी की इच्छा) के अपमान से उत्पन्न रोग ।

जन्मबलप्रवृत्त व्याधियाँ

रसकृत

दौर्हंदापमानकृत

१ रसकृत^१—विशिष्ट प्रकार के आहार के निरन्तर सेवन करने से उत्पन्न होनेवाले रोगों को रसकृत कहते हैं । जैसे—मधुर रस से प्रमेह, मूकता या स्थूलता होना, लवण रस से बली, पलित, खालित्य, अम्ल से रक्तपित्त, नेत्ररोग तथा त्वचा के रोग, कटु रस से शुक्रात्पत्ता एवं सन्तानहानि, तिक्त से शोष एवं निर्वलता, कपाय से कृष्णवर्णता, आनाह और उदावर्त होना, मद्य से प्यास, स्मृतिनाश एवं उन्माद तथा गोहटी का मास खाने से शर्करामेह, अश्मरी आदि रोग होते हैं ।

२ दौर्हंदापचारकृत—गर्भ के भीतर जीवन का प्रभाव होने से माता के मन में जो विविध श्रद्धाएँ या कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका विधात होने से उत्पन्न हुई व्याधियाँ दौर्हंदापचारकृत कहलाती हैं । श्रद्धा के विधात से वालक में शारीरिक या मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं ।

जन्मबलप्रवृत्त रोग-सारणी

जन्मबलप्रवृत्त रोग

आदिवलपुरस्कृत जन्मबलप्रवृत्त

केवल जन्मबलप्रवृत्त

शारीरिक अज्ञविकार

सहज

प्रसवज

शारीरिक व्यग दोपज और अधातज औपसर्गिक विकार

^१ मधुरान्त्या मूकमतिस्थूल प्रमेहिण वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिन त्यगक्षिरोगिण वा, लवण नित्या शीघ्रवलीपलित खालित्यरोगिण वा, कटुन नित्या दुर्वलमल्पशुक्रमनपत्य वा, तिक्तनित्या

आनुवंशिक रोगों का प्रतिषेध (Prevention of Genetic Diseases)

वर्तमान समय में बहुतेरे आनुवंशिक रोगों की प्रभावकारी चिकित्सा अनुपलब्ध है। ऐसी स्थिति में चिकित्सकों की मुख्य भूमिका इन रोगों की रोकथाम के लिए परामर्श देने की हो जाती है।

भावी पीढ़ी में जन्म लेनेवाले वज्चे माता-पिता के कुलज रोगों के दुष्प्रभाव से पीड़ित न हो, इस विषय में माता-पिता को समुचित परामर्श देना चाहिए। यदि माता या पिता वशपरम्परागत रोगाक्रान्त है और उनकी अग्रिम सन्तान पर भी उस रोग का आक्रमण देखा जाता है, तो आगे जन्म लेनेवाले शिशु उस कुलज रोग से कैसे बचाये जा सकते हैं, यह उपदेश माँ-बाप को देना चाहिए। यदि रक्तसम्बन्ध से सम्बन्धित या निकटतम् सम्पर्क के रिस्तेदारों में कोई कुलज व्याधि हो तो उन्हें भी आवश्यक सुझाव देना चाहिए, जिससे कि भावी सन्तानि पर इस तरह के रोग का पुनरागमन न हो सके।

आनुवंशिक रोगों में परामर्श (Genetic Advice)

सर्वप्रथम निदान का विवरण तैयार करना चाहिए। फिर यह निश्चय करें कि क्या प्रस्तुत रोग आनुवंशिक है? तत्पश्चात् यह प्रमाणित करें कि रुग्ण के सम्बन्धियों या माता-पिता, भाई-बहन में किसी को यह रोग है या नहीं। क्योंकि पूर्ण नैदानिक विवरण के बिना यथार्थ परामर्श दिया जाना सभव नहीं है। क्योंकि कुछ विकृतियाँ बाह्यदृष्टि से समान प्रतीत होती हैं, किन्तु आनुवंशिकता की दृष्टि से विचार करने पर उनमें पार्थक्य होता है।

जैसे—हण्टर के लक्षणसमूह (Hunter's syndrome) और हर्लर के लक्षण-समूह (Hurler's syndrome) गार्जेलिज्म (Gargoylism) के समान रुग्णगत स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, किन्तु हण्टर सिण्ड्रोम में कनीनिका में धुँधलापन नहीं होता और हर्लर सिण्ड्रोम में रहता है। हण्टर्स सिण्ड्रोम X लिंकड और अवरोधक लक्षणवाला होता है। इसलिए भाई तो रुग्ण होता है, किन्तु बहन रुग्ण नहीं होती, पुनर्बहन की पुरुष-सन्तान उस कुलज रोग से ग्रस्त हो जाती है। दूसरी ओर हर्लर सिण्ड्रोम विकृति का अलिंगसूत्री (Autosomal) अवरोधक होता है और केवल एक सहोदर (Sib) को ही प्रभावित करता है। ऐसी स्थिति में किसी अरुग्ण बहन के वज्चों को आनुवंशिक रोग होने की सभावना नहीं होती। ऐसे परिवार के सदस्यों को परामर्श देना चाहिए, कि उस आनुवंशिक रोग-विहीन कन्या का विवाह किसी ऐसे निकट सम्बन्धी से न करें, जो परिवर्तन-शील (Mutant) जीन (Gene) का वाहक हो।

आवश्यक रूप से सदैव इस बात की जाँच कर लेने का निर्देश दिया जाना चाहिए कि प्रस्तुत रोग क्या वस्तुत युल्ज है और पर्यावरणजन्य नहीं है ? उदाहरण के तौर—जन्मजात वहरापन प्राय कथञ्चित् अवरोधक जीन के कारण होता है, किन्तु गर्भावस्था के पहले तीन महीनों में अन्तर्गर्भाशयिक शीतला के सक्रमण के फलस्वरूप भी हो सकता है, जिसके कारण भ्रूण (Fetus) में अन्य विकृतियाँ भी हो सकती हैं, जैसे—जन्मजात हृदय रोग, जन्मजात नेत्रविकार आदि । यदि किसी रूण में देखा जाय कि माता के शीतला रोग से ग्रस्त होने के कारण वच्चे में जन्मजात वहरापन था, तो ऐसी स्थिति में यह समावना नहीं होती, कि आगामी वच्चों में भी इसकी पुनरावृत्ति हो । इसलिए आनुवंशिक रोगों के सम्बन्ध में परामर्श देने के पूर्व माता द्वारा होनेवाले किसी रोग के सक्रमण की समावनाओं के विषय में भी पूछताछ कर लेनी चाहिए । गर्भावस्था में किये गये उपचार, दो गयी औपधों या सक्रमण अथवा आघात आदि सम्बन्धीय प्रश्न भी पूछना चाहिए, जो प्रस्तुत विकृतियों से सम्बद्ध या आशङ्कित हो ।

कुछ बातें ऐसी हैं जो परामर्श या उपचार आदि के सम्बन्ध में निर्णय लेने में माता-पिता के मन में हिचकिचाहट उत्पन्न करती हैं, जैसे—शिशु के विकृति की गमोरता और किसी सभावित खतरे का अन्वेशा, विकृति की कोई कारगर चिकित्सा है या नहीं ? यह विचिकित्सा, धार्मिक मान्यता, कर्मफलभोग की धारणा, सामाजिक अवधारणा और आर्थिक स्तर आदि¹ ।

पर्यावरणीय सिद्धान्तः दोष, परामर्श और प्रतीकार सामाजिक पर्यावरण

मनुष्य जिस बातावरण में जन्म लेता है, पालित-पोषित होता है और आरोग्यमय स्वस्थ जीवन जी रहा होता है, वह उसके अनुकूल या सातम्य हो जाता है । पूर्णतया स्वस्थ रहना ही सुख है । जो व्यक्ति सादगी से रहता है, प्रकृति के निकट रहता है तथा दूसरों के साथ बैसा ही व्यवहार करता है, जैसा कि

1 The main contribution which genetics can make to medicine is in understanding more about the aetiology of certain disorders and in preventing such disorders through genetic counselling

In genetic counselling it is not sufficient merely to quote risk figures As far as possible the nature and cause of the disease should be explained to parents and any feelings of such should be removed. Since genetic counselling may have profound long-term effects on a family such advice never be given without careful appraisal of all the factors involved if the needs of the individual are to be met Genetic counselling, like many other aspects of medicine, is as much an art as a science

वह अपने लिए दूसरों से चाहता है, वास्तव में वही सुखी रह सकता है। विचार-स्वातन्त्र्य, चिन्तन, व्यवहार, सामाजिक चेतना, निष्ठा, मर्यादा, मेहमान-नवाजी और सामान्य अदनेसे आदमी के हित के लिए अपने आपको न्योछावर कर देने की तमन्ना और तड़पन जिस दिल में होगी, वही सर्वोच्च आत्मिक आनन्द के स्रोत में गोता लगाने का भागीदार होगा।

विविधता जीवन को अधिक रोचना, दिलचस्प और जीने योग्य बनाती है। जिन्दगी को पूरी आस्था और जिन्दादिली के साथ जीना चाहिए। नये अनुभवों, नये लोगों से सम्पर्क और प्रत्येक नयी वस्तु में रुचि लेनी चाहिए। जीवन को व्यस्त बनाना स्वस्थता और दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है। प्रकृति के दृश्य धरती, नदियाँ, सागर, पहाड़, लहलहाते खेत, बन, उपवन, आग, पानी, हवा, सूर्य, चन्द्रमा, सितारे और भौसमों का जुलूस —ये सब ऐसे साधन हैं, जिनकी अनुभूतियाँ आत्मचेतना को दिव्य बनाती हैं।

आधुनिक सभ्यता के प्रसार ने मानवीय सबेदना के तारों को दुरी तरह झकझोर दिया है और इसके परिणामस्वरूप मानवीय मूल्य, नैतिक मान्यताएँ, सामाजिक सम्कार तथा आस्थाएँ विखण्डित हो रही हैं। अपनी सस्कृति की दीणा की झड़ार लुप्त होती जा रही है और उच्छिष्ट जर्जरित आयातित सस्कृति की छवनियाँ आकर्षक लग रही हैं। यह सास्कृतिक ह्रास आत्मा की दरिद्रता का द्योतक है।

सम्प्रति विकास के प्रसार में बार-बार दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है और ये दो शब्द हैं—१. सभ्यता और २. सस्कृति।

मनुष्य ने अपने सुख-साधन के लिए जो निर्मित किया है, वह सभ्यता है। सभ्यता बाह्य उपलब्धि है, जिसमें ज्ञोपडपट्टी से लेकर महल तक एवं बैलगड़ी से लेकर वायुयान तक की सुख-सामग्री निहित है।

सभ्यता का ही एक विकृत रूप है, कि—“जिनका जीवन महानगरों के चाक-चिक्य और चकाचौंध भरे अद्वालिकाओं के शीतताप-नियन्त्रित वातानुकूलित रमणीय आवासों में बीता है, जो गेहूँ-धान या चने के तने नहीं पहचान सकते हैं, वे हमारे कृषि-प्रधान देश के भाग्यविधाता, राजनेता, जननेता या किसाननेता होने का दम्भ भरते हैं। पाँच सितारा होटलों में बैठकर किसानों के भाग्य की आड़ी-तिरछी लबीरे खीचते हैं और ऑकड़ों पर ऑकड़े थोपते जाते हैं एवं इसी के बलबूते पर जनता को गुमराह कर अपनी राजनीतिक रोटी सेकते हैं।”

सस्कृति मनुष्य की अन्तरात्मा का आध्यात्मिक अस्तित्व है। यह उदात्त है। इसमें ‘सत्य शिव मुन्दरस्म’ की चाह है। दया, प्रेम, सहानुभूति, करुणा, मगल-कामना, कल्याणकारी जीवनमूल्यों का ग्रहण, आत्मा का उदात्तीकरण और उन्नयन सस्कृति के कार्य हैं।

आज रासार सिमट गया है। भौगोलिक दूरियों ने तीव्रगामी यातायात साधनों ने कम कर दिया है। पुरातन काल में जो परियों की कहानियाँ सुनी जाती थी, नात समुद्र पार की कहावतें कही जाती थी एवं जिस उडनघटोले और विक्रमादित्य के वेताल की चमत्कारपूर्ण गाथाये कही-सुनी जाती थी, वह सब आज यथार्थ और प्रत्यक्ष बन गया है।

इन महान् परिवर्तनों के साथ मनुष्य का पर्यावरण भी बदल गया है। आदमी तो भयङ्कर हृप से बदलाव का शिकार हुआ है। उसके बाह्य परिवेश में चमक-दमक आयी है, सहलियतें बढ़ी हैं, अल्प श्रम में बहुत सारी सुविधाएं सुलभ हो गयी हैं। आज की उपमोग सस्कृति ने ब्राह्मी सस्कृति^१ को बहुत पीछे छोड़ दिया है। पर्यावरण बदला है, हवा बदली है, पानी बदला है, देश बदला है और जमाना बदला है, किन्तु जिस अनुपात में आदमी बदला है या गिरा है, उस अनुपात में दुनिया की कोई चीज़ नहीं बदली है। आज भला और दक्ष वह आदमी माना जाता है, जो 'मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक' (अर्थात् मन में वही वचन और कर्म में भी) की जगह 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत्' (अर्थात् मन में कुछ, वाणी में कुछ और कर्म में कुछ) के भाव रखता है। आज का मर्द कहता है—'जब जैसा तब रैसा, ऐसा नहीं तो मर्द कैसा'।

यह सब मानव के सामाजिक पर्यावरण की विकृति का ही दुष्परिणाम है कि आदमी के त्याग-तपस्या की कीमत हवा हो गयी और जो जितना ही छल-प्रपञ्च की रचना में चतुर है, वह उतना ही बड़ा वक्ता और दर्शनीय बन गया है—'स एव वक्ता स च दर्शनीय'। जिस छोर पर सस्कृति की आत्मा भस्मीभूत होती है वही से शुरू होता है मानव के सामाजिक पर्यावरण का विद्रोह। सभ्यता के नाम पर अतुलित सम्पदा के स्वामी खाड़ी के देश के धनेशों ने अपनी रेत में स्वर्गिक आनन्द का नन्दनवन बसा लिया है। यह बात पृथक् है कि उनकी आसुरी सम्पत् कदाचित् स्वय के लिए भस्मासु र बन जाय।

अभी भोपाल-गैस-त्रासदी का भोग चल ही रहा था, कि एक टीपू सुल्तान की शूटिंग ने कई दर्जन शरों की होली जला डाली। हिटलर बनने की दुराशा ने मद्दाम को उद्धाम और दुर्दान्त दम्म का शिकार बना डाला है तो दूसरी ओर विश्व क्षितिज पर सर्वोत्कृष्ट वर्चस्व स्थापित करने की लालसा ने राष्ट्रपति बुश को दजला-फरात की सहस्राब्दियों पुरानी सास्कृतिक विरासत को न्यस्त-नाब्रह्म करने और मानवता का क्रूर उपहास करने को मजबूर कर दिया है।

आज की दानवी सस्कृति का वाहक बना मानव अपने सामर्थ्य और क्षमता का वास्तविक आकलन किये बिना किसी भी प्रकार प्राप्त भौतिक सुख-सुविधाओं

१ अथ सत्त्वमशुद्धज्ञानयोगव्यवस्थिति । दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम् । दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरनापलम् ॥

तेज क्षमा धृत शौचमदोहो नातिमानिता । भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजानस्य भारत ॥

का अम्वार यडा कर देने की मानगिकता बना लेता है, जो इस कारु की तथा-कथित सभ्यता का सामाजिक मानक बन गया है।

आज अपने ही देश में राष्ट्रध्यज को अगमान का मामना करना पड़ रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी भाजादी के नाम पर भिर धून रही है। नुदूर गाँवों में कान्वेण्ट स्कूल चलाये जा रहे हैं, टार्ड पहुनना अनिवार्य हर दिया गया है, छोटे-छोटे बच्चे अपेजी गीतों के गायन के लिए बाध्य किये जा रहे हैं। पश्चादीनता के नमय घ्रष्ट लोगों को चाँराहे पर सजा देने का बादा किया जाता था, तो आज घ्रष्ट लोगों का ही शासनरन्त्र पर अधिकार है। गुलामी के दिनों में शराब की ढूकानों पर धरना दिया जाता था तो आज शराब गुटीर उद्योग बनता जा रहा है। गली-गली, घर-घर शराब का स्वागत हो रहा है।

शील, सदाचार, सेवा, उपकार और मानवीय भवेदनाथों का नरोवर सूख गया है। देवदुर्लभ भारत की धरती की परत में झाउ-झाउ उग आये हैं। अम्भ्यता और अशिष्टाचरण सभ्यता के शिर चट बैठे हैं। नकल के नाटक ने असल को काली यवनिका के पीछे ढकेल दिया है। सर्वाधिक दयनीय शिक्षा-मस्थाओं की है। स्कूल-कालेज-विश्वविद्यालय विद्या का लय कर रहे हैं। आज कोई किसी का शिष्यत्व ग्रहण करने को तैयार नहीं है। गुरु के गुण और गरिमा को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति तिरोहित हो रही है। विद्या का प्रथम फल पिनय की उपलब्धि है, किन्तु आज के परिवेश में यह बदलते सामाजिक पर्यावरण के साथ उल्टा हो गया है।

सत्य, ईमान और धर्म की बात करना गुनाह हो गया है। इन तीनों का पालन गांधीजी के तीन बन्दरों की तरह हर व्यक्ति को करना पड़ रहा है। आदमी चुपचाप सभी तरह का अन्याय देखते रहने के लिए मजबूर हो गया है। कवीर को भी अपने जीवन में सत्य के लिए मकट झेलना पड़ा होगा। तभी तो वे कहते हैं—

‘तन-मन रापर वारहूँ जो कोइ बोले साँच ।’

यह बीमारी शती कितने उत्तार-चढाव, अस्थिरता, परिवर्तन, सास्कृतिक ह्रास एव सामाजिक पर्यावरण-प्रदूषण का अभिशाप बरपा करेगी, इस तथ्य का आकलन करना इतिहासकारों का उत्तरदायित्व है।

उपचार

शिक्षा ही मनुष्य को मनुष्य बनाने की एकमात्र कला है। इसलिए सामाजिक पर्यावरण के परिपक्वर के लिए हमें उसी का हाथ थामना पड़ेगा।

शिक्षा की ऐसी व्यवस्था हो कि विद्यार्थी अपनी शारीरिक, मानसिक एव भावात्मक शक्तियों का विकारा कर, आगे चलकर किसी व्यवसाय द्वारा सञ्चार्द और ईमानदारी के साथ अपना जीवन-निवाह कर सके। उसमें देशभक्ति और सेवा-भावना हो, जिससे वह समाज में विश्वास तथा आदर का पात्र बन सके। शिक्षा द्वारा सार्वजनीन और शाश्वत मूल्यों का विकास होना चाहिए, जो लोगों को एकता

की ओर ले जा सके। शिक्षा में सास्त्रज्ञता और सार्वभीम दृष्टि पर विशेष वल देना चाहिए।

पर्यावरण के क्षेत्र

पर्यावरण के क्षेत्र अभीम और अनन्त हैं। विस्तृत आकाश, सागर, नदियाँ, पर्वत, भूमस्त वायवीय परिवेश और जलस्रोत, जगल, विशाल भूमितल, देश, काल, उद्योग, व्यवसाय तथा जीवन के निवहि के उपकरण—ये सभी पर्यावरण के क्षेत्र हैं। यहाँ जीवन को तन्तुलित बनाये रखने के लिए जिन भौलिक तत्त्वों की शुद्धता की अपेक्षा होती है और जिनके प्रदूषण से प्राणिजगत के अस्तित्व का खतरा उपस्थित होने की सम्भावना की जाती है, ऐसे कतिपय प्रमुख विन्दुओं पर आगे विचार व्यक्त किया जायेगा। जैसे—१. भूमि या देश, २. काल, ३. जल, ४. वायु, ५. उद्योग ६. व्यवसाय, ७. युद्ध और ८. ध्वनि—ये पर्यावरण प्रदूषण के मुख्य लोत हैं।

(१) भूमि या देश

आयुर्वेद में देश शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं—१ भूमिदेश और २ देहदेश। प्रस्तुत सन्दर्भ में भूमिदेश के सम्बन्ध में विचार करना सज्जत है।

भूमिदेश के भेद—भूमिदेश—१ जागल, २ आनूप और ३ साधारण भेद से तीन प्रकार का होता है। इसमें जागलदेश वातपित्त-प्रवल, आनूपदेश वातकफ-प्रवल और साधारण देश समत्रिदोष होता है। स्वास्थ और आरोग्य की दृष्टि से साधारण देश निवास के लिए उत्तम माना जाता है।

देश में पर्यावरण-प्रदूषण के लक्षण

- १ विकृत गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्शवाला क्लेदवहुल, पशु-पक्षियों द्वारा त्यक्त।
- २ सर्प आदि विपैले जन्तु, मच्छर, टिड़ी, मक्खी, मूपक, उल्लू, मीध, चील आदि श्मशानवासी जीवों की अधिकतावाला।
- ३ तृण, घास, गुल्म (झुरमुट) लताप्रतान-वहुल, शुष्क कृषि, धूम्र पवनवाला।
- ४ रुग्ण पशुपक्षियों एवं असद्वृत्त और आचरणहीन मनुष्योवाला।
- ५ उल्कापात एवं वज्रपातयुक्त तथा विलापयुक्त शब्दोवाला देश अहितकर और दूषित पर्यावरण वाला होने से अनारोग्यकर होता है।

निवास के अयोग्य भूमिदेश

- १ जहाँ के वातावरण में दुर्गन्ध व्याप्त हो।
- २ जो भूमि, सभागार, सिनेमाहाल, राजप्रासाद, देवालय या श्मशान के समीप हो।
- ३ जो गोल, त्रिकोण, विषम, कठोर या टीला हो या कट्टिदार वृक्षों से व्याप्त हो।
- ४ जिसके निकट श्वपच-निवास, चर्मव्यवसाय या शूकरनिवास हो।

५ जिस भूमि के निकट लकड़ी चीरने या खरादने का कारखाना, रुई धुनने की मशीन, चीनी मिल या धुआं उगलनेवाला कारखाना यथा—इंट-भट्टा आदि हो, वह निवासस्थान बनाने के अयोग्य भूमिदेश है।

निवासस्थान योग्य भूमि

१ जो स्वच्छ, समतल, कृषियोग्य, हवादार और पेयजल सुविधायुक्त हो।

२ रमणीय, मनोरम, जल-जमावरहित, सीलनरहित और ढालुआ तथा उन्नत हो।

३ घने वृक्षों से विरा न हो तथा जहाँ क्रास वेणिटलेशन और प्रकाश हो।

४ यह के निकास का द्वार दक्षिण या पूर्व की ओर हो सकने की सुविधा हो।

५ जिसमें अलग-अलग शयनागार, भण्डारघर, पाकशाला और शौचालय बन सके।

६ जो आतङ्करहित, पशुशाला का पृथक् स्थान और साफ सुथरा स्थान हो वह निवासगृह बनाने के लिए योग्य भूमि होती है।

जलवायु के प्रति सहिष्णुता

मानव-शरीर में जलवायु तथा पर्यावरण सम्बन्धी परिवर्तनों को सहन करने की विलक्षण क्षमता है। एवं बाह्य जलवायवीय तथा तापक्रम सामान्य बना रहता है। जलवायु को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—१ शीतल, २ उष्ण, ३ समशीतोष्ण, ४ पर्वतीय और ५ सामुद्रिक।

भूमिदेश के प्रभाव से होनेवाले रोग

भारतवर्ष में फाइलेरिया, इओसिनोफीलिया तथा याकृत एमीबिएसिस (Amoebiasis) एवं तिस्टोसोनिएसिस (Schistosomiasis) जन्य फुफ्फुसीय उपद्रव प्राय होते हैं। उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में मलेरिया, फाइलेरिया और इन्सेफेलाइटिस फैलने की अधिक आशङ्का रहती है। ग्रामीण इलाकों (उत्तरी एवं मध्यभारत) में खाँसी और दमा अधिकाश पाये जाते हैं। अग्निमान्द्य, अतिसार, ग्रहणी विकार, उदावर्त, आनाह, वातरक्त और श्वेतकुछ्ठ के रोगियों की सख्त बढ़ती जा रही है।

भूमिवासी जीवाणु धनुर्वाति (टिटेनम), वातकोथ (गैग्रीन) और अन्न-विषमयता कारक होते हैं। किसी व्रण के साथ भूमि का स्पर्श हो जाने से उसमें स्थित धनुर्वातिकारक जीवाणु धनुर्वाति करता है एवं वातिक कोथ उत्पन्न होता है। डिब्बे में बन्द शाक-भाजी, मास या अन्ननिर्मित खाद्य पदार्थ में मक्रान्त विषोत्पादक जीवाणु शरीर में पहुँचकर उपभोक्ता को रोगग्रस्त बना देते हैं। रोगी के द्वारा भी अनेक रोगों का प्रसार होता है। कुछ रोग ऐसे हैं, जो प्राणियों से मनुष्यों को हो जाते हैं। जैसे—मूषक से वातालिका (प्लग), मूषक दशज्वर और तन्द्रिक ज्वर होता है। श्वान से श्वानज्वर होता है। इनी प्रकार—अस्वस्थ वाता-

वरण में भेड़, अश्व, गो-वृद्धभ, शूकर, पक्षी और भछली के सपर्क से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं।

धूल—राजयक्षमा का रोगी यत्र-तत्र थूकता रहता है तो थूक के साथ असर्द्य जीवाणु मिट्टी में मिल जाते हैं और वह मिट्टी सूख कर धूल बन जाती है। उसमे वच्चे खेलते हैं जिससे धूल उड़कर मनुष्यों के फुफ्फुसों में चली जाती है और साथ ही जीवाणु भी वहाँ पहुँचकर आक्रान्त व्यक्ति को यक्षमा का रोगी बना देते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक रोगाणु मनुष्यों में सक्रान्त होकर उन्हे रोगी बना देते हैं।

भूमिदेश के पर्यावरण-प्रदूषण के अनेक माध्यमों से रोगोत्पत्ति या रोगो का प्रसार होता है। जैसे —

१ खाद्य पदार्थ जब दूषित होता है, तो उसमे प्रविष्ट जीवाणु शरीर मे जाकर रोग उत्पन्न करते हैं।

२ पाकशाला का रसोइया या अन्य भूत्य, अशुद्ध हाथों से पात्रों और खाद्य पदार्थों का स्पर्श करते हैं।

३ खाद्य पदार्थों पर दूषित स्थानों से आकर मविखर्याँ बैठती हैं।

४ ग्वाले अशुद्ध हाथों से अशुद्ध पात्रों मे दूध दुहते हैं।

५ इस प्रकार खाद्य-पेय के प्रदूषण से आन्त्रिक ज्वर, अतिसार, सग्रहणी, हैजा, यकृत शोथ आदि रोग होते हैं।

उपचार

भूमिदेश प्रदूषण से उत्पन्न रोगों का उपचार उन रोगों की चिकित्सा मे वरलाये प्रकार से करना चाहिए।

(२) काल

प्राचीन वाङ्मय मे कहा गया है, कि काल राजा के अधीन होता है और वह जैसा चाहता है, वैसा माहौल बना लेता है—‘राजा कालस्य कारणम्’।

इस शताब्दी के वर्ष १९९० के सिरम्बर-अक्टूबर-नवम्बर की तारीखे इस बात की प्रत्यक्ष गवाह है, कि राजा जिस करवट चाहे, कॉल को उसी करवट चीखना-चिल्लाना पड़ेगा। जिसका साक्षी अयोध्या का मन्दिर-मस्जिद विवाद है। जहाँ की यात्रा प्रतिवन्धित कर पूर्वी उत्तर प्रदेश की जनता को सत्रस्त किया गया और इस बीच धर्मनिरपेक्षता की नगरता वेआवरू होकर अपनी सस्कृति की विवशता का घृणित उपहास करती रही और करोड़ों लोग आरीरिक कि वा मानसिक यातना की शृखला मे आवद्ध हो गये। यह काला मौसम इतिहास को विकृत एव बीभत्स मन्दभर्ते से कलङ्कित कर गया।

काल के पर्यावरण-प्रदूषण का लक्षण है—ऋतुओं का अतियोग, मिथ्यायोग और हीनयोग होना। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु मे अधिक गर्मी पड़ना, हृद से ज्यादा ग्रीष्म सन्ताप बढ़ जाना, यह ग्रीष्मकाल का अतियोग है। गर्मी पड़ने के बजाय जाड़ा

पड़ना या वरसात होना मिथ्यायोग है तथा ग्रीष्म क्रहु मे अल्प गर्भ का पड़ना ग्रीष्म का हौनयोग है। इसी प्रकार अन्य क्रहुओं के प्रदूषण को भी जानना चाहिए।

काल के अपने गुण से विपरीत गुणयुक्त होने से अनेक प्रकार के रोगों के सक्रमण आ जाते हैं और उनके सक्रमण विभिन्न प्रकार के होते हैं।

काल-प्रदूषण से विकारकारी जीवाणुओं का संक्रमण

१ प्रत्यक्ष सम्पर्क—विकारकारक जीवाणु शरीर के अवयवों पर सीधे आक्रमण कर उन्हे रुग्ण बना देते हैं। जैसे—त्वचा मे पामा, कवकरोग (Fungus infection) विसर्प, नेत्रामिथ्यन्द आदि।

२ सहवास—रोगक्रान्त स्त्री या पुरुष के परस्पर सहवास से मैथुनजन्य रोगों की उत्पत्ति होती है, जैसे—फिरग, उष्णवार (सुजाक) आदि।

३ प्रत्यक्ष अन्त क्षेपण (Direct inoculation)—कीटों या प्राणियों द्वारा शरीर मे विकारकारक तत्व का अन्त क्षेपण कर दिया जाता है, जैसे—

(i) पागल कुत्ते के काटने से अल्कू विप का अन्त क्षेपण हो जाता है।

(ii) चूहे के काटने से मूषिक दशज्वर उत्पन्न हो जाता है।

(iii) मच्छर के काटने से मलेरिया, फाइलेरिया, पीतज्वर और डेम्यू ज्वर का सक्रमण होता है।

(iv) पिस्तू प्लेग फैलाता है और विसूचिका, मोतीझरा तथा सग्रहणी रोग मक्खियों द्वारा फैलाये जाते हैं।

४ वायु द्वारा प्रसार—वायु द्वारा रोहिणी (डिफ्यूरिया), हूर्पिंग कफ, लोहित ज्वर, रोमान्तिका तथा इन्फ्लुएञ्जिया आदि का प्रसार होता है।

५ वायुयान-जलयान—आजकल यातायात की सुविधा बढ़ने से रोगी और रोगवाहक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान मे आते-जाते रहते हैं, इसलिए रोगों की सार्वदेशिकता बढ़ जाती है।

मनुष्य-शरीर में कीटों के प्रवेश-मार्ग

१ श्वसनमार्ग से राजयक्षमा, कुकुरखाँसी, रोहिणी, मसूरिका, रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जिया, फुफ्फुसपाक और मस्तिष्कमुपुमा ज्वर।

२ पाचन-प्रणाली से विसूचिका, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, कृमि-विकार, सग्रहणी आदि।

३ त्वचा से मलेरिया, कालाजार, अल्कूविप, फाइलेरिया आदि।

४ जननेन्द्रिय की त्वचा के स्पर्श से फिरग, उष्णवार, उपदश आदि।

उपचार

उक्त रोगों का उपचार उन रोगों की चिकित्सा-विधि के अनुसार और पर्यावरण के कोशल द्वारा करना चाहिए।

वातावरण-प्रभावजन्य प्रतिशयाय

प्रतिशयाय एक ऐसा रोग है, जो बहुत से रोगों का पुरोगामी और अनेक रोगों के निदान की पृष्ठभूमि तैयार करता है, जैसे—हँसी-हँसी में झगड़ा खड़ा होकर, बड़ा बखेड़ा और जखीरा जमा देता है, वैसे ही यदि प्रतिशयाय की तात्कालिक चिकित्सा नहीं की गयी, तो वह राजयक्षमा का रूप धारण कर सकता है। इसलिए इसे आरम्भ में ही रोकने का उपचार करना चाहिए।

निदान

वातावरण-सम्बन्धी कारण—सामान्यतः यह सभी क्रृतुओं में होता है, परन्तु हेमन्त और शिंशिर में तथा क्रृतुमन्धि (निवर्तमान क्रृतु का अन्तिम और आगामी क्रृतु का आदिम सप्ताह) में प्रवल रूप से उत्पन्न होता है। शीतकाल में लोग मकान की खिड़की-दरवाजा बन्द करके रहते-सोते हैं, जिससे वातावरण की शुद्धि नहीं हो पाती और उज्जन्य प्रदूषण बढ़ जाता है। एवं वैर्यस्थानों में मेले के कारण जनाकीर्णता, दुष्प्रवीजन, धूलि, धुआँ, आद्र वातावरण आदि कारणों से प्रतिशयाय हो जाता है।

ब्यक्तिगत कारण—आहारदुष्टि, अल्पाहार, क्षुधा, अतिपरिश्रम, शीत लगना, अति स्त्री-प्रसङ्ग, शिर में धूप लगना, मल-मूत्र-वेगधारण, गले का या नासिका के रोग आदि प्रतिशयाय उत्पन्न करते हैं।

संक्रमण—प्रतिशयाय का रोगी जब उच्च स्वर में बोलता है, खाँसता या छीकता है तो सामने के वातावरण में थूक के सूक्ष्मकण (जो जीवाणुयुक्त होते हैं) फैल जाते हैं और वे सभीपस्थ व्यक्ति के श्वसनस्थान में पहुँचकर उपसर्ग उत्पन्न करते हैं, जिसके फलस्वरूप प्रतिशयाय रोग उत्पन्न हो जाता है।

प्रतिशयाय के लक्षण

शिर से भारीपन, छीके आना, अज्ञमर्द, रोमांच, आलस्य, क्लान्ति, ज्वराश होना, पृष्ठवश और हाथ-पैरों में वेदना, त्वचा का शुष्क तथा रुक्ष होना, मूत्र का रग गाढ़ा होना, नासाद्वार बन्द होना या नासिका से अधिक जलस्राव होना और खाँसी आना आदि प्रतिशयाय के लक्षण हैं।

निवारक उपचार

- १ प्रतिशयाय-जनक कारणों का परित्याग करना चाहिए।
- २ मेला आदि भीड़-भाड़ वाले स्थानों में नहीं जाना चाहिए।
- ३ शुद्ध जलवायु वाले स्थान में निवास, परिव्रमण, व्यायाम, यथासमय स्नान-भोजन-शयन करना चाहिए।
- ४ किन्हीं भी अधारणीय वेगों को विलकुल न रोके और विवन्ध न होने दे।
- ५ शीत या ताप से आवश्यकता से अधिक शरीर की रक्षा न करे।

स्थानीय चिकित्सा

- १ कट्टफल की त्वचा के बारीक चूर्ण का प्रतिदिन ३ बार नस्य देवे ।
- २ नीलगिरि के तेल में कपूर मिलाकर सूँघना चाहिए ।
- ३ लवण मिश्रित सुखोषण जल का गरारा करे तथा नासा-प्रक्षालन करे ।
- ४ एफेड्रिन सल्फेट का १% धोल नमक के पानी में बनाकर नासा-गला का प्रक्षालन करे ।
- ५ यूकेलिप्टस तेल, तारपीन तेल और टिंकचर वेञ्जोइन प्रत्येक १-१ चम्मच को गरम पानी में डालकर भाप सूँघना चाहिए ।
- ६ पञ्चगुण तैल, पड़बिन्दु तैल, वासाघृत या चिन्नकघृत को रुई में भिगोकर कुछ समय नाक में रखना लाभकर है ।

आम्यन्तर चिकित्सा

- १ कफ-नि सारणार्थ—बनपसादि क्वाथ सबेरे-शाम पिलावे । योग—गुलबनपसा ३ ग्राम, मुलहठी ६ ग्राम, लिसोडा २ ग्राम, अडूसा की पत्ती २ ग्राम, कालीमरिच १ ग्राम, मुनक्का ६ ग्राम, सोठ ६ ग्राम—इन सबको $\frac{1}{2}$ लीटर जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर १० ग्राम चीनी मिलाकर २ बार पिलावे ।
- २ शृगभस्म ३०० मि० ग्रा०, सौभाग्यवटी २०० मि० ग्रा०, नरसार ३०० मि० ग्रा०/१ मात्रा —ऐसी ३ मात्रा दिन में ३ बार गरम जल से देवे ।
- ३ बल सरक्षणार्थ—महालक्ष्मीविलास ३०० मि० ग्रा०/२ मात्रा शबेरे-शाम पान के रस और मधु से देवे ।
- ४ स्वेदन, बमन और अवपीड नस्य का प्रयोग हितकर है ।
- ५ नूरन प्रतिश्याय के परिषाक के लिए स्वेदन तथा अम्लरस के साथ उष्ण पदार्थों का सेवन लाभकर होता है ।
- ६ दूध अथवा गुड या चीनी के साथ आर्द्धकस्वरस अथवा शुण्ठी चूर्ण २-३ ग्राम का दो-तीन बार प्रतिदिन प्रयोग करे ।

७ प्रतिश्याय में कफ द्रवीकरणार्थ एवं उसे निकालने के लिए १ कप दूध में १ चम्मच आदी का रस डालकर हल्का गरम कर १ बड़ा चम्मच चीनी डालकर, सबेरे-शाम पिलाने से कफ पक कर आसानी से निकल जाता है । यह अनेकश अनुभूत है ।

घ्यवस्थापन

१ सज्जीवनी वटी	५०० मि० ग्रा०
अश्रुकभस्म	५०० मि० ग्रा०
प्रवालभस्म	२०० मि० ग्रा०
चन्द्रामृत	५०० मि० ग्रा०
तालीसादि चूर्ण	३ ग्राम
दिन में ३ बार मधु से ।	३ मात्रा

२ बनफसादि क्वाथ	<u>१०० मि० ग्रा०</u>
प्रात्-साय पिलावे ।	२ मात्रा
३ ९ बजे व २ बजे—	
आद्रेकावलेह १-१ ग्राम चूसकर खिलावे ।	
४ भोजनोत्तर २ बार—	
द्राक्षारिष्ट	<u>५० मि० ली०</u>
समान जल से पिलावे ।	२ मात्रा
५ रात मे सोते समय—	
आरोग्यवर्धनी वटी	<u>१ ग्राम</u>
सुखोष्ण जल से ।	१ मात्रा

पथ्यापथ्य

उष्ण निवासस्थान मे निवास एवं शयन, शिर पर उष्ण-गुरु वस्त्र-धारण, तीक्ष्ण शिरोविरेचन, तीक्ष्ण धूम का सेवन, लघन करना, पाचन औषध-सेवन और अग्नि-प्रदीपक औषध-सेवन पथ्य है ।

शीतल जल से स्नान, चिन्ता, शोक, मैथुन, अतिरुक्ष भोजन, नूतन मध का पान और मल-मूत्रादि वेगधारण अपथ्य है ।

(३) जल

जल जीवन-यात्रा का एक अतीव उपादेय सबल है । जल के बिना जीवन का निर्वाह असभव है । शरीर के घटक अवयवों (रक्त, मासपेशी, मस्तिष्क आदि) मे यह लगभग ८० प्रतिशत होता है । जल शरीर की आन्तरिक एवं बाह्य सफाई के लिए एक अत्युपयोगी वस्तु है । जलीयाश के माध्यम से ही पोषक तत्त्व रक्त मे सचरण करते हुए शरीर के सूक्ष्मातिमूक्ष्म अवयवों तक पहुँचकर उनका पोषण करते है ।

शरीर में जल के प्रमुख कार्य

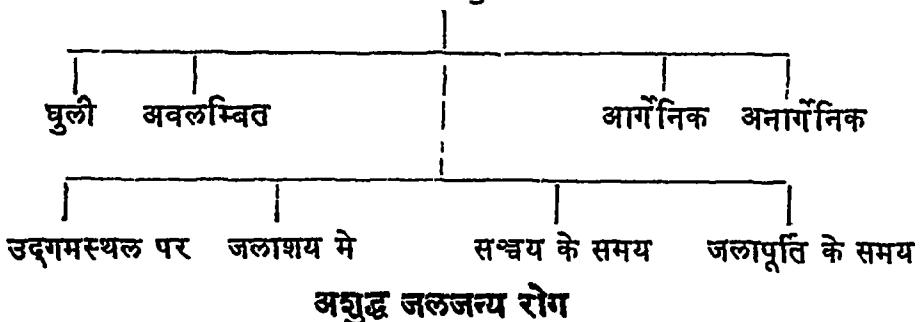
- १ रक्त एवं लसीका की तरलता को सन्तुलित रखना ।
- २ आहार रस के शरीर-सञ्चरण मे माध्यम बनना ।
- ३ शरीरतन्तुओं के पोषणार्थ जलापूर्ति करना ।
- ४, उत्सर्जन योग्य तत्त्वों को शरीर से बाहर निकालने मे मदद करना ।
- ५ शरीर की ऊष्मा का शरीर मे यथायोग्य विक्रिय करना और शरीर मे तापक्रम को सन्तुलित रखना ।

जल की अशुद्धियाँ

१ जल मे घुली अशुद्धियों मे कार्बोलिक एसिड, ऑक्सीजन, मल्फ्युरेटेड हाइ-ड्रोजन या क्लोराइड लवण, कैल्मियम, मैग्नेसियम, सल्फेट तथा लौह आदि धातुएं और भूमि से मिलने वाले आर्गनिक पदार्थ आदि होते हैं ।

२. अवलम्बित अशुद्धियों में बालू, मिट्टी एवं वनस्पतियाँ, पशुओं से प्राप्त अशुद्धियाँ, जीवाणु तथा कृमि आदि पाये जाते हैं।

जल की अशुद्धियाँ



१. अतिविकृत गन्ध-वर्ण-रम-स्पर्शवाला, क्लेदबहुल, जलचर पशु-पक्षियों द्वारा परित्यक्त और अप्रिय तथा गुणरहित जल अनेक प्रकार के रोगों का जनक होता है।

२. काठिन्य दोषयुक्त जल के प्रयोग से अजीर्ण, अतिसार एवं अन्य उदरविकार होते हैं।

३. जीवाणुयुक्त जल के प्रयोग से तज्जन्य रोग होते हैं, जैसे—आन्त्रज्वर, प्रवाहिका, अतिसार, विसूचिका, कामला आदि।

४. परोपजीवी कृमिरोग, जैसे—गण्डूपद कृमि, अकुश कृमि, अभीविक डिसेण्टी तथा पानी में बढ़नेवाले मच्छरों से मलेरिया आदि रोग होते हैं।

जल का शोधन

सामान्यतः जल का शोधन दो प्रकार से होता है—१. मार्जन से और २. प्रसादन से।

१. मार्जन—आग पर गरम कर, धूप में उपाकर, आग में तपाये हुए लीहपिण्ड से, इंट या बालू आदि डालकर पुन छानकर शुद्ध करना मार्जन है।

डेंग में गरम कर तिर्यक्पातनयन्त्र से चुराया हुआ परिस्तृत जल (Distilled water) शुद्ध एवं उत्तम होता है।

२. प्रसादन—निर्मलीबीज, शैवाल, फिटकरी, तूरिया, ब्लीचिंग-पाउडर या पोटैसियम परमैग्नेट डालकर जल का शोधन करना प्रसादन है। जिससे जल निर्मल हो जाता है।

जल के रासायनिक शोधन में 'स्टेरिलाइजेशन' तथा जीवाणुनाशन हेतु उत्तम विधि 'क्लोरिनेशन' की है। जल का क्लोरिनेशन ब्लीचिंग पाउडर या क्लोरिनेटेड लाइम से किया जाता है। इस प्रयोग से उत्पन्न क्लोरीन गैस के प्रभाव से जलप्रदूषक जीवाणु मर जाते हैं।

घरेलू प्रयोगार्थी जल का शोधन—डिस्टलेशन, व्हायर्लिंग, फिल्ट्रेशन अथवा रासायनिक पदार्थों द्वारा किया जाता है, जैसे—फिटकरी, तूरिया, चूंना, ब्लीचिंग पाउडर, ड्रोमीन, आयोडीन, पोटैसियम परमैग्नेट आदि। नदियों के किनारों पर वसे

हुए बड़े नगरों में पर्म्पिग सिस्टम से वृहदाकार जलाशयों में बड़े पैमाने पर जल का सञ्चय किया जाता है और फिटकरी डालकर जल का प्रसादन किया जाता है, जिससे नीचे तलहट बैठ जाता है और पानी निवार जाता है। पुन दूसरे-तीसरे जलाशय में भेजकर जल को निर्मल किया जाता है। तत्पश्चात् क्लोरीन डालकर मन्थन कर जल-भण्डारों में संगृहीत किया जाता है, फिर ऊंचाई पर वनी टकियों में भरकर जल का वितरण भूमिगत पाइपों से यथास्थान आवश्यकतानुसार किया जाता है।

(४) वायु

वायु की उपादेयता

शरीर की सपूर्ण जीवनी कियाओं में वायु का स्वस्थ सहकार अपेक्षित होता है। वायु की सक्रियता के बिना क्षणभर भी जीना असभव है। वायु के सयोग से ही आहार का चयापचय होकर जीवनी शक्ति प्राप्त होती है। श्वास-प्रश्वास द्वारा रक्त का शुद्धीकरण, शक्ति-उत्पादन, शरीरताप-परिरक्षण तथा आहाराश का उपयोग आदि, सभी प्रकार की जीवन-परिचायक कियाओं का होना तभी सभव है, जब शरीर को पर्याप्त मात्रा में शुद्ध वायु प्राप्त होती रहे। शरीर की समस्त चेष्टाओं का प्रवर्तक वायु है। वह मन का नियन्ता और प्रेरक है। वायु इन्द्रियार्थों का ग्रहीता, वाणी का प्रवर्तक, शब्द-स्पर्श का ग्राहक, शरीर का सन्धानकारक, अग्नि का प्रेरक, वहिर्मलों का क्षेपक, गर्भाकृति-निर्माणकर्ता और आयुष्य का अनुवर्तन करनेवाला है।

वायु की स्वस्थावस्था में शरीर की सभी क्रियाएँ व्यवस्थित होती हैं। इसके विपरीत प्रकृष्टि वायु शरीर में अनेकानेक रोगों को उत्पन्न करता है और प्राणव-रोधक हो जाता है। वायु के जो जीवनोपयोगी कर्म कहे गये हैं, वे प्राणवायु के हैं और प्राणवायु का वैज्ञानिक नाम आँक्सीजन है, जो जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। वही मेटाबोलिज्म (चयापचय) का सम्पादक तथा ऊर्जा का स्रोत है। आँक्सीजन जब श्वास वायु में अपेक्षित अनुपात में रहता है, तो मनुष्य का जीवन प्राकृत एवं स्वस्थ रहता है। जब वायु में कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा बढ़ती है, तो वह वायु अस्वास्थ्यकर होती है। प्रकृति स्वयमेव कार्बन-डाई-आक्साइड की वृद्धि से होने वाले प्रदूषण के नियन्त्रण के लिए विशिष्ट भूमिका निभाती है।

सभी हरितवर्गीय वनस्पतियाँ अपने क्लोरोफिल की सहायता से वायुमण्डलीय कार्बन-डाई-आक्साइड को सूर्य-प्रकाश की उपस्थिति में फोटो मिन्थसिस की प्रक्रिया से उपयोग में लाँकर अपने पोषक तत्त्व का निर्माण करती है। ज्ञातव्य है कि रात्रि में ये वनस्पतियाँ कार्बन-डाई-आक्साइड छोड़ती हैं, इसीलिए रात्रि में वृक्ष के नीचे निवास करना मना किया गया है—‘नकर सेवेत न द्रुमम्’।

पर्यावरण-प्रदूषक वायु के लक्षण और अशुद्धियाँ

ऋतुविपरीत, अतिमन्द, अतिरीक्ष, अतिप्रष्प, अतिशीत, अतिउष्ण, अतिरुक्ष, अति अभिष्यन्दी, अतिगर्जनयुक्त, अतिकुण्डलित, विकृतगन्ध-चापयुक्त, धूलिमय,

धूमाकुल, बालुकामय, ककणयुक्त, सिकतायुक्त, कार्वन-डाई-आक्साइड की वृद्धि, जलने या सड़ने से उत्पन्न वायव्य पदार्थमिश्रण, पशुओं एवं वनस्पतियों द्वारा कार्वन-डाई-आक्साइड छोड़ा जाना, कारखानों, मोटरगाड़ियों, रेलों से निकले धूम से कार्वन-डाई-आक्साइड, मोनो आक्साइड और गन्धकाम्ल आदि दूषित पदार्थों का वायु में मिलना, मल-मूत्रवाहक प्रणाली की अस्वच्छता से उत्थित दुर्गन्धित एवं अस्वास्थ्यकर वायु तथा सक्रामक जीवाणुओं का वायुमण्डल में प्रवेश होना, रुग्ण व्यक्तियों एवं पशुओं के रोगोत्पादक जीवाणुओं का वायु में मिलना और धूल-रुई के कण, पराग, खनिज द्रव्यों के कणों एवं रेशों का वायुमण्डल में प्रविष्ट होने आदि कारणों से वायु प्रदूषित हो जाता है।

अशुद्ध वायु से होनेवाले रोग

१ आलस्य, अरोचक, वमनेच्छा, प्रतिश्याय, कास-श्वास, राजयक्षमा, अग्निमान्द्य, अनिद्रा, दौर्बल्य, मूर्च्छा आदि।

२ वायुप्रसर (Air born epidemics) से राजयक्षमा, कुष्ठ, चेचक, डिप्थी-रिया आदि की उत्पत्ति होती है।

३ धूलिकणयुक्त वातावरण में, सिलिकोसिस (Silicosis), साइड्रोसिस (Sidrosis), एन्थ्राकोसिस (Anthracosis) और एलर्जी सम्बन्धित रोग होते हैं।

निवासस्थान में वायु के आवागमन की व्यवस्था

वायु के आवागमन (Ventilation) के दो प्रकार होते हैं—१ बाह्य (External) और २ अन्तर (Internal)।

बाह्य आवागमन—नगर या कालोनी, ग्राम या मुहल्ला के भीतर और बाहर, चारों ओर खुली वायु के आने-जाने का मार्ग प्रशस्त होना चाहिए। जब बाह्य वेणिलेशन समुचित होगा, तो अत वेणिलेशन भी उपयुक्त हो सकेगा। एतदर्थ निम्नाङ्कित उपाय करने चाहिए—

१ ग्राम या नगर शुद्ध वायुमण्डल वाले खुले स्थान में बसाना चाहिए।

२ आवास या घृह अलग-अलग पक्किवद्ध बनाने चाहिए।

३ प्रत्येक घर के चारों ओर खुला स्थान होना चाहिए। यदि ऐसा करना सभव न हो, तो कम से कम दो ओर से तो अवश्य खुला रखें।

४ सड़कों और गलियाँ शिक्षर्त न हों, अपि तु चौड़ी रखें।

५ घरों की छते पर्याप्त ऊँची हों। सड़कों और गलियों में जल का छिड़काव हो, ताकि धूल उड़कर वायु को दूषित न करे।

६. वस्त्री के मध्य में उद्धान हो, जहाँ टचूबवेल हो और हरियाली रहे।

७ कारखाने और इंट के भट्ठे, चूड़ा कूटने की मशीन आदि धुआँ उगलनेवाले उद्योग और चर्म उद्योग आदि नगर से दूर हों।

८. मल-मूत्र विसर्जन के स्थान स्वच्छ रखे जाये और वहाँ जल की उचित व्यवस्था हो।

वायु की शुद्धि

१ वायु के शोधन का सर्वोत्तम प्रकार है—वायु के निर्वाध आगमन के लिए आवास के अगल-बगल का स्थान खुला रखना ।

२, धूपन द्रव्यों को आग में जलाने से वायु का शोधन होता है, जैसे—धूप, गुण्गुलु, जटामसी, पीली सरसों, अगर, राल, निम्बपत्र, कपूर आदि ।

३ वातावरण के ताप-नियन्त्रण के लिए घरों में शीर-तापनियन्त्रक (Air conditioner) लगाकर ताप-नियन्त्रण करे ।

४ गर्मियों में वायुनिष्कासक पंखे (Exhaust fan) तथा रूम-कूलर लगाकर ताप का नियमन करे ।

५ वातावरण को शीर रखने के लिए दिन में खिड़की-दरवाजे बन्द कर उन पर हरे पर्दे लगाकर सूर्यप्रकाश को रोके ।

६ खस की टट्टी लगाकर उन पर जल का छिड़काव करे ।

७ स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से गर्मियों में पर्वतीय प्रदेशों में निवास करना चाहिए । वहाँ वायुप्रदूषण अल्प होता है ।

शब-विनाशन से पर्यावरण-प्रदूषण का बचाव

मृत्यु जीवन का एक अनिवार्य अन्तिम परिणाम है । कदाचित् वार्षिक्य, व्याधि, दुर्घटना, विष-प्रयोग या युद्ध के कारण लोग-वाग अकस्मात् मृत्यु के आगोश में गिरफ्त हो जाते हैं । मृत शरीर के विनाशन का ऐसा प्रकार होना चाहिए, जिससे पर्यावरण-प्रदूषण न हो । एतदर्थं निम्नलिखित विधियाँ प्रयुक्त होती हैं—

१ विद्युद्वाह—विद्युत के स्पर्श से दाह करना सर्वोत्तम है, क्योंकि इसमें अल्प समय लगता है और वायु-दूषण की सभावना अल्प होती है ।

२. अग्निद्वाह—यह विधि महंगी है और अधिक समय एवं श्रम लगता है । देर तक शबदाह से वायुप्रदूषण होता है । कदाचित् अर्धदर्घ शब का जलप्रवाह कर देने से जल प्रदूषित होता है ।

३ कब्ज मे इफनाना—यद्यपि पर्यावरण की दृष्टि से गड्ढे मे शब का दफनाना ठीक है, किन्तु यह व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि इसके लिए पर्याप्त भूमि की आवश्यकता पड़ती है और आवादी बढ़कर कब्रगाहों के चारों ओर फैल जाती है । तब फिर पर्यावरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है ।

४ जलसमाधि—यह विधि उचित नहीं है । इससे जल-प्रदूषण होता है ।

५ सक्रामक शब—किसी सक्रामक रोग से मृत व्यक्ति के शब के रख-रखाव मे विशेष विसक्रामक द्रव्यों के प्रयोग से सक्रमण को रोकना चाहिए ।

६ पोस्टमार्टम—आकस्मिक दुर्घटना या जलने या जहरखोरी या हत्या से मरे शब के विनाशन के पूर्व उसका पोस्टमार्टम तथा अन्य वैधानिक कार्यवाही करा लेनी चाहिए ।

७ रजिस्ट्रेशन और मृत्यु-प्रमाणपत्र—शव-विनाशन के पूर्व यदि रोगी अस्पताल में मृत हो, तो वहाँ से मृत्यु-प्रमाणपत्र ले लें और शमशानघाट के निकट नगरपालिका-कार्यालय से भी रसीद ले लेनी चाहिए।

ओद्योगिक संस्थानगत पर्यावरण (Industrial Environment)

ओद्योगिक संस्थानों में विशेष प्रकार के वातावरण में जीना पड़ता है। रासायनिक द्रव्यों के प्रयोग तथा धुआँ आदि के कारण वहाँ का पर्यावरण प्रदूषित होता रहता है। ओद्योगिकीकरण के साथ पेट्रोल, कोयला आदि की खपत अधिक होने लगी है। कोयला एवं पेट्रोल से कार्बन निकलकर वातावरण में मिल जाता है, जहाँ उसे आक्सीजन गैस मिलती है और फिर कार्बन-डाई-आक्साइड बनकर वातावरण में फैल जाती है।

बढ़ती हुई आवादी को बसाने के लिए बनों को काटकर जगह बनायी गयी। पेड़ों के कटने से फोटो-सिथिसिस की क्रिया कम हो गयी। फोटो-सिथिसिस की क्रिया द्वारा पेड़ वातावरण से कार्बन-डाई-आक्साइड ले लेते थे। जब पेड़ों को काट डाला गया, तब वातावरण में कार्बन-डाई-आक्साइड बढ़ने लगी।

ओद्योगिक पर्यावरण प्रदूषण से रक्षा के लिए कुछ सिद्धान्त बनाने चाहिए। जैसे—

- १ ओद्योगिक संस्थान नगर से कुछ दूर—वाहर बनाने चाहिए।
- २ ये खुले वायुमण्डल में हो और जहाँ आवादी न हो, वहाँ बनाये जाये।
- ३ संस्थान के विभिन्न प्रखण्डों को अलग-अलग रखना चाहिए तथा कार्यशाला, कार्यालय, आवासीय गृहसमूह, कच्चे माल का भण्डार, अपद्रव्य-भण्डार तथा तैयार माल-भण्डार, स्कूल, बाजार, सेल-मैदान एवं मनोरञ्जन-केन्द्र, जल-संसाधन आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

४ कार्यशाला में पर्याप्त प्रकाश, वायु के आवागमन और शुद्ध जल की व्यवस्था-आपूर्ति, वेणिलेटर्स, पर्से, एग्जहास्ट फैन्स आदि यथास्थान लगे होने चाहिए।

- ५ दूषित वायु, जल तथा अपद्रव्यों के निकास की व्यवस्था हो।
- ६ पर्यावरण-प्रदूषण की रोकथाम, अत्यधिक चिकित्सा-व्यवस्था, कर्मचारी स्वास्थ्य-परीक्षण आदि होते रहना चाहिए।

७ धुआँ निकलने की चिमनी ऊँची हो और गन्दे जल की निकासी बन्द नालियों द्वारा आवासों से दूर की जाय।

८ कच्चे माल के भण्डार तथा अपद्रव्य संचय-स्थान को भी प्रदूषण से बचावे, जिससे इन स्थानों से वायु एवं जल का प्रदूषण न हो।

९ कार्यालय को कार्यशाला से थोड़ी दूर बनावे और उसमें प्रकाश, वायुसंचार, सूत्रालय-शौचालय आदि की व्यवस्था हो।

१० आवासीय क्षेत्र, खेल-मैदान, मनोरञ्जन-केन्द्र, स्कूल आदि मे जलापूर्ति आदि आवश्यकतानुकूल हो।

११ समस्त क्षेत्र मे सड़क, प्रकाश, प्रदूषण की रोकथाम, जलनिकासी आदि समुचित रूप से होनी चाहिए।

व्यावसायिक पर्यावरण

(Occupational Environment)

बहुत से ऐसे व्यवसाय हैं, जिनसे पर्यावरण-प्रदूषण का खतरा हो सकता है। जैसे— पशु-पालन, पशु-वध, फल-सब्जी का व्यवसाय, रुई धुनाई, रगाई, लकड़ी चिराई और खराद, इंट-भट्टा, चीनी मिल आदि।

पशु-पालन—१ पशुओं को सन्तुलित पोषक आहार, पर्याप्त शुद्ध जल एवं प्रकाश और वायुसञ्चरण उपलब्ध होना चाहिए। बीमार पशुओं की उचित चिकित्सा और देखभाल होनी चाहिए।

२ दुधारू पशुओं के पोषण तथा रख-रखाव की विशेष व्यवस्था करे। उनका पूर्ण स्वस्थ और सक्रमणरहित होना आवश्यक है।

३ पशुओं से दूध निकालने दूध के भण्डारण तथा विक्रय-स्थल तक पहुँचाने की निरापद और स्वच्छ व्यवस्था होनी चाहिए।

४ पशुपालन-केन्द्र पशुचिकित्सकों की देखरेख मे सचालित होने चाहिए। पशुओं के स्वास्थ्य की जाँच होती रहे, जिससे पशुओं के माध्यम से होनेवाले रोगों से मनुष्य सुरक्षित रह सके।

पशु-वध—यह नगर से हटकर एकान्त मे नगर स्वास्थ्य अधिकारी की देखरेख मे चलना चाहिए। इन स्थानों की विधिवत् धुलाई, सफाई और अपद्रव्य-अपसारण किया जाना चाहिए। विकृत मास का विक्रय न हो और मक्खियाँ नहीं लगानी चाहिए।

फल-सब्जी व्यवसाय—ये दूकाने किसी एक ओर हो। सड़े-गले-कटे फलों का विक्रय प्रतिबन्धित हो एवं खराब दूषित फल जमीन मे गडवा दिये जाये, जिससे पर्यावरण प्रदूषित न हो।

इंट-भट्ठे—इंट पकाने के भट्ठे और-चिमनी से पर्यावरण का प्रदूषण होता है। उठनेवाले धुएँ या धूल से नगर या ग्राम के पर्यावरण को बचाने के लिए ये व्यवसाय नगर से कुछ किलोमीटर दूर ही रखे जाने चाहिए।

चीनी मिल आदि—मिलों की चिमनियों से धुआँ निकलते रहने से, गन्ने की गाडियों की धूल से, अपद्रव्यों के भण्डारण से, गन्दे जल की निकासी से पर्यावरण प्रदूषण होता है। इसलिए मिलों का क्षेत्र अलग ही होना चाहिए।

इन मिलों मे प्रयुक्त रासायनिक द्रव्यों के वायुमण्डल मे मिलने से, धुएँ से, दुर्घटना से या अन्य किन्हीं कारणों से बीमार होनेवाले जनों की चिकित्सा के लिए

मिलों की सीमा में ही साधन-सम्पन्न चिकित्सालय स्थापित होने चाहिए, जहाँ अर्हनिश चिकित्सा-सेवा प्राप्त हो सके ।

युद्धजनित पर्यावरण-प्रदूषण और ब्याधियाँ

परस्पर विजिगीपु राजा शत्रु राजा के देश या शिविर के पाश्वर्वर्ती भू-भाग में विषों का सक्रमण फैलाकर पर्यावरण को प्रदूषित कर देते हैं,^१ जिसके फल-स्वरूप वहाँ के जल, वायु, मार्ग और अन्न आदि दूषित हो जाते हैं । परिणामत विषदूषित वायु, अन्न, जल आदि के प्रयोग से तत्स्थानीय प्राणी मृच्छा, वयन, अतिसार आदि से ग्रस्त हो जाते हैं । एवज्ञ्च विषैले गैंसों के प्रयोग से धुआँ पैदा कर और वायु को विषाक्त बनाकर सामूहिक नरसहारकारक उपायों के प्रयोग से नभचर प्राणी श्रमित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं और पृथ्वी के प्राणी खाँसी, दमा, प्रतिश्याय, शिरोरोग तथा नेत्ररोग आदि से ग्रस्त हो जाते हैं ।

प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों में कई प्रकार की तीव्र विषैली गैंसों का प्रयोग किया गया था । विष के प्रभाव से खाद्य, पेय, भक्ष्य सामग्री और जल तथा वायु आदि विषाक्त हो जाते हैं । गैंस के रूप में, चूर्ण के रूप में, तैल छिड़काव के रूप में या अन्य प्रकारों से जल, स्थल तथा वायुमण्डल को दूषित किया जाता है ।

अभी-अभी जनवरी-फरवरी १९९१ में बहुराष्ट्रीय सेना और इराक के युद्ध में कुवैती-सऊदी अरब सीमा से लगे समुद्र में ६० किलोमीटर लम्बे और १५ किलोमीटर चौड़े क्षेत्र में कच्चे तेल का बहाव किया गया और यह क्षेत्र और अधिक लम्बा और चौड़ा हो गया । इस कच्चे तेल में आग लगायी गयी, जिसके परिणामस्वरूप भयावह पर्यावरण प्रदूषण बढ़ गया । कई नस्लों के समुद्री प्राणी और समुद्री पक्षी समाप्त हो गये । हजारों मछुआरों की आजीविका युद्ध के क्लूर जबड़े में समा गयी । कुवैत से अम्मान तक समुद्र के किनारे बसनेवाली पाँच लाख की आबादी पेयजल के सकट से ग्रस्त हो गयी । इन इलाकों में समुद्री जल का परिशोधन कर पेय जल प्राप्त किया जाता है, क्योंकि अन्य जलस्रोत अनुपलब्ध हैं (इराक के पास कच्चे तेल का इतना भूतल (Underground) भण्डार है, कि वह विश्व के सभी समुद्री इलाकों को तैलमण्ड कर सकता है ।)

मानवता की रक्षा, पर्यावरण एवं जीव और जीवन के अस्तित्व के लिए इस युद्ध को रोकना, पर्यायवरणविदों तथा विश्व-मानवतावादी संगठनों और व्यक्तियों का प्राथमिक उत्तरदायित्व है । अमेरिका और इराक का स्वार्थ मानवता की अनदेखी कर पूरे विश्व को सकट में डाल रहा है । पर्यायवरण विशेषज्ञ डाक्टर अब्दुल्ला विहैक का विचार है, कि तेल-बहाव का प्रभाव भारत के तटीय इलाकों पर भी पड़ेगा और उससे मानसून की वर्षा का जल प्रभावित होगा, परिणामस्वरूप काले जल की वर्षा भी हो सकती है ।

१. राजोऽरदेशो रिपवस्तुणामुमागान्धूमश्वसनान् विषेण ।
सन्दूषयन्त्येभिरनिप्रदुषान् विश्याय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान् ॥ शुश्रुत० कत्व० ३१६

मानव-सभ्यता के इतिहास में युद्ध को सर्वाधिक विध्वसक घटना के रूप में देखा जाता है। हिरोशिमा और नागासाकी में परमाणु बमों के प्रहार से बड़ी सख्त्या में जनसहार के साथ ही प्रभावित क्षेत्र में ऐसा विपाक्तता का वातावरण फैला जिससे आगे तक अनेक लोग नयेनये प्रकार की व्याधियों से पीड़ित हुए। वियरनाम में ऐसे जहरीले आयुधों का प्रयोग हुआ, कि जिनसे प्रभावित क्षेत्र की जनता में कैन्सर रोग का विस्तार हुआ और साथ ही वनस्पति तथा प्राणि-जगत् पर व्यापक दूषित प्रभाव हुआ।

वर्तमान में खाड़ी-युद्ध (इराक-कुवैत) में बमबारी से जो विनाशलीला हो रही है, उससे जन की धन-हानि के साथ ही पर्यावरण भी लम्बे समय तक दूषित रहेगा। युद्ध की एक घटना के रूप में खाड़ी-जल में कच्चे तेल के प्रवाह से समुद्री जीवन पर विनाशकारी प्रभाव हुआ है। सबसे अधिक प्रभावित समुद्री पक्षी और प्राणी हैं, जिनमें कई प्रकार की दुर्लभ प्रजातियों के कछुए, डालफिन और भछफियाँ हैं। पर्यावरणवादियों को आशङ्का है, कि इससे समुद्र की प्राकृतिक खाद्य-शृङ्खला प्रभावित होगी। भारी मात्रा में 'प्लवक' जो समुद्री जीवों के प्रमुख आहार है, नष्ट हो जायेगे।

विश्व-स्वास्थ्य-संगठन को चाहिए, कि वह विश्वमानवता के घातक युद्धों की विभीषिका का जोरदार ढग से प्रचार कर, युद्धातुर देशों को इस बात से अवगत करावे, कि वे ऐसे चिकित्सक की भूमिका न अदा करे, जो रोगाभिमर होते हैं और रोग को नष्ट करने के बजाय रोगी के ही जीवन का नाश कर देते हैं। युद्ध किसी भी समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। इकाई-द्वाई-सैकड़ा-हजार-लाख-करोड़ का जोड़-घटाना और गुणा-भाग कोई मतलब नहीं रखता, जब कि मनुष्य तथा प्राणीजगत् की जिन्दगी ही खसरे में पड़ जाय या विकलाङ्ग हो जाय अथवा वर्षों तक जानलेवा वीभारियों की चपेट में सत्रास और घुटन का जीवन विताना पड़े।

युद्धों में किये गये विषाक्त प्रयोग महामारी के रूप में बड़े ही विघातक और विनाशकारी होते हैं। ये वायु में विष फैलाकर श्वासावरोधक बनकर प्राणधातक हो जाते हैं। दूषित वायु के द्वारा, रज कण के द्वारा, खाद्य-पेय की विषाक्तता के द्वारा, जीवाणुओं के प्रत्यक्ष आक्रमण द्वारा और मक्षिकाओं के दश द्वारा मानव-शरीर में अवाञ्छनीय रोगोत्पादकता व्याप्त हो जाती है। एक देश या प्रदेश से दूसरे देश या प्रदेश में राष्ट्रव्यापी रोगप्रसर बढ़ जाता है। सामान्यत रोहिणी (डिप्थीरिया), मसूरिका, रोमान्तिका, इन्फ्लुएञ्जा, मस्तिष्क ज्वर आदि के जीवाणु श्वासमार्ग से, विसूचिका (हैंजा), अतिसार, आन्त्रिकज्वर, राजयक्षमा आदि के पाचनस्थान से, श्लीपद, मूषिदशज्वर, विषमज्वर (मलेरिया), धनुर्वात आदि त्वचा द्वारा शरीर पर आक्रमण करते हैं। इप प्रकार जीवाणु किन्हीं माध्यमों से शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न अवयवों में व्याधि उत्पन्न करते हैं। इनकी चिकित्सा रोगानुसार करनी चाहिए।

ध्वनि से पर्यायवरण-प्रदूषण

बढ़ती जनसंख्या, बढ़ते दुपहिया-तिपहिया-चौपहिया लघु या दीर्घकाय भारतवाही वाहन और सड़कों पर तेज हानं बजाती उनकी मरवाली चाल, शोर को जोरदार धक्का देकर शतगुणित बढ़ा रही है। यदि शोर की यही स्थिति रही, तो आवादी का एक बड़ा हिस्सा शोर के कारण बहरा हो जायेगा।

ध्वनि की तीव्रता नापने की इकाई बेल कहलाती है। एक बेल का दसवाँ हिस्सा डेसीबल कहलाता है। विश्व-स्वास्थ्य-सगठन की रिपोर्ट के अनुसार १२० डेसीबल की सीमा से अधिक आवाज सिरदर्द तथा १४० डेसीबल की ध्वनि आदमी को पागल बना देने के लिए पर्याप्त है।

सबेरे एलार्म घड़ी का शोर, बीवी-बच्चों का शोर, सड़क पर वाहनों का शोर, हाकरो का शोर, हवाई जहाजों का शोर, होली-दीवाली पर फटनेवाले पटाखों का शोर, विवाह के जुलूस के बैण्डवाजों का शोर, प्रार्थना-कीर्तन-आरनी आदि सभी स्थानों पर शोर ही शोर है। विशेषकर वाहनकान्ति ने हमारे सामने ध्वनि-प्रदूषण की विकराल समस्या खड़ी कर दी है। वैज्ञानिकों का कहना है कि एक दिन ऐसा आयेगा, जब मनुष्य को स्वास्थ्य के सबसे बड़े शत्रु के रूप में निर्देशी शोर से ही जूझना पड़ेगा।

शरीर-विज्ञानियों के अनुसार शोर का मनुष्य के शरीर-मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कानों को क्षति पहुँचती है, अधिक तेज ध्वनि से धमनियाँ सिकुड़ने लगती हैं, ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है, श्वसनक्रिया अनियमित हो सकती है, पाचनक्रिया अव्यवस्थित हो जाती है, हार्मोनों के स्राव पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, नेत्रज्योति की मन्दता, रात्र्यन्धता, रङ्गज्ञान का अभाव, ऊँचैनीचे धरातल का गलत ज्ञान होना, अङ्गों में थकान, उदासी, मन की चञ्चलता, हिस्सा की भावना और उत्तेजनापूर्ण जीवन की ओर झुकाव बढ़ता है। ध्वनिरङ्गों के कम्पन के ज्यादा दबाव से वायुप्रणाली सुस्त रहने लगती है।

उपचार

१ ध्वनि-प्रदूषण के अवरोध के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम है—शोर को रोकना।

२ प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक उत्तरदायित्व है, कि वह अपने वाहनों में साइलेन्सर लगावे, हानं का कम प्रयोग करे और धीमी ध्वनि के हानं बजावे।

३ मन्दिरो, मस्जिदो, गिरिजाघरो, जलपानशृङ्खो और मेले-हाट में अनवरत बजनेवाले ध्वनिगन्त्रों को प्रतिबन्धित करे। सिनेमा तथा अन्य व्यापारिक उत्पादों के प्रचारवाहनों की तीव्र उद्वेजक ध्वनियाँ नियन्त्रित की जायें।

४ दूकानों या घरों में लगे रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीविजन और टेपरिकार्डर धीमी गति से चलाये जायें।

५ शौर से विश्वमानवता के मन-मस्तिष्क और शरीर की रक्षा के लिए जो भी साधन उपलब्ध हो, उसका उपयोग करके ध्वनि-प्रदूषण को रोका ही जाना चाहिए।

पर्यावरण-परिवर्तनजन्य व्याधियाँ

(Disorders Due to Climate)

लू लगना

(Sun-stroke)

सूर्य के प्रचण्ड सन्ताप में, इजिन में या टिन की छतवाले कारखानों में या अग्नि के निकट कार्य करनेवाले या गौ चरानेवाले ग्वाले या किसान (जो कि खड़ी दोपहरी में खेतों में लू से उपते हुए कृषिकर्म करते हैं) सूर्य की उग्र अल्ट्रावायोलेट किरणों के आधार से प्रताडित होकर आतप-दग्ध (Sunburn) होते हैं, जिसे लू लगना या सनस्ट्रोक कहा जाता है। अधिक गोरे बदनवाले और भूरे बालवाले लोग सूर्यकिरणों से विशेषकर प्रभावित होते हैं। सूर्यकिरणों के ताप को बर्दास्त करने की क्षमता सूर्यप्रकाश एव धूप में रहने से धीरे-धीरे प्राप्त होती है। किरण त्वचा को सुरक्षा प्रदान करने का रग देती है।

विना अभ्यास के तीव्र धूप में थोड़ी देर रहने से शरीर में गुलाबी रग की पिंडकाये निकलती है और आक्रान्त प्रदेश में खुजली होती है। यदि कुछ अधिक समय तक धूप में रहना पड़े, तो तीव्र व्यथा और शोथ तथा छोटे-बड़े फफोले निकल आते हैं। इन स्थानीय विकारों के साथ वेचैनी, शिर शूल और वमनेच्छा होती है। गम्भीर रोग में अत्यधिक स्नायविक क्लान्ति और परिसञ्चरणतन्त्र-श्वास, रक्तसवहन आदि सम्बन्धी निष्क्रियता होती है। जब त्वचा का अधिक भाग क्षतिग्रस्त होता है, तब पसीना आने के साथ तीव्रज्वर हो जाता है।

उपचार

१ सामान्य धूप लगने में सामान्यत शीतोपचार करना चाहिए। इसमें विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती।

२ गम्भीर रूप से धूप लगने पर रोगी को शान्त कमरे में विश्राम करावे और वेदनाशामक उपचार करे।

३ अतिरीक्त ताप लगने से यदि दुष्प्रभाव हो, शाँक और जलात्पता हो, तो शीघ्रतया समुचित चिकित्सा करनी चाहिए।

४ यदि त्वचा पर होनेवाले फफोले बड़े हो, तो उनका वेघन करना चाहिए।

५ त्वचा को अखण्ड बनाने के ० ५ प्रतिशत क्रिस्टल वायोलेट युक्त कालमाडन लोशन का प्रयोग करना चाहिए।

६ खुजली को शान्त करने के लिए मुख से खाने के लिए एण्टी-हिस्टामिन ड्रग्स देना चाहिए।

७ अल्ट्रावायोलेट किरण के दुष्प्रभाव के शमनार्थ पैरा-एमीनो वेञ्जोड़क एमिडयुक्त फेस पाउडर और क्रीम का प्रयोग करे।

सौर गजचर्म

(Solar Keratosis)

गोरी त्वचा वाले लोग जब अधिक दिनों तक क्रान्तिमण्डल (Trophics) में रह जाते हैं और उन्हें जैसा चाहिए वैसा योग्य पोषण नहीं मिलता, तो उनके क्षीण अगों की त्वचा में धब्बे हो जाते हैं। विशेषकर ये धब्बे हाथों के ऊपरी रल, ग्रीवा और ललाट पर होते हैं। ये अग हाइडपर केराटोसिस (Hyper keratosis) या गजचर्म (हाथी जैसी त्वचा) के छोटे-छोटे धब्बों से आक्रान्त हो जाते हैं। आगे चलकर यह विकृति शल्कयुक्त (मछली के चोइटा जैसी) कार्सिनोमा (Carcinoma) के रूप में परिणत हो जाती है। यह एक गम्भीर श्वेरकुण्ठ एन्जिनो (Albino) जैमा हो जाता है।

उपचार

१ जैसे भी हो त्वचा को वस्त्र से ढँककर अथवा क्रीम लगाकर सूर्य की रोशनी से बचाना चाहिए।

२ अति उग्ररूप में खुरदुरे त्वचा भाग पर पूर्णविरोधक (Occlusive) ड्रेसिंग के साथ फ्लुओरोरासिल (Fluorourasil) आइण्टमेण्ट का प्रयोग करना चाहिए।

आतपजन्य श्रम

(Heat Exhaustion)

१ अधिक गर्मी पड़ने अथवा ग्रीष्म क्रृतु में शरीर को थका देने वाले परिश्रम का कार्य करने से 'आतपजन्य श्रम' का विकार होता है।

२ यह रोग तब भी होता है, जब रोगी पसीने की अधिकता से होनेवाली द्रवाणक्षति की आपूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में द्रव पदार्थ का सेवन नहीं करता है।

३ ग्रीष्म क्रृतु में कार्यरत व्यक्ति पसीने द्वारा शरीर के द्रवाश का ६ से ८ लीटर तक क्षति करता है और प्रति लीटर में २ ग्राम सोडियम क्लोराइड की भी क्षति करता है।

वमन और अतिसार के साथ उदर में गैस भर जाने के कारण अस्वस्थता की वृद्धि और थकावट गव शारीरिक शक्ति का हास होता है।

लक्षण

शिर शूल, बेचैनी, क्षुधानाश, वमनेच्छा, मासपेशियों में ऐठन, पैरों में वेदना, चिडचिडापन, स्वभाव में परिवर्तन होना और प्रत्येक बात में असहमति व्यक्त करना, ये लक्षण होते हैं।

यदि इन लक्षणों के आधार पर रोग का निदान कर लिया जाये, तो रोगी को शीतल वातावरण में रखकर, शीतल जल में लवण घोलकर थोड़ा-योड़ा तब तक पिलाते रहना चाहिए जब तक कि स्थिति सामान्य न हो जाय।

यदि 'आतपजन्य श्रम' का प्रकोप बढ़ा होता है, तो रोगी अतिशय कष्ट का

अनुभव करता है, चिन्तातुर होता है, उमकी छवि पीली होती है, उसे पसीना आता है, नाड़ी लगातार दुर्बल होती जाती है, रक्तचाप निम्नगमी होता है, शरीर में ऐठन महसूस होती है, त्वचा शीत रहती है और गुदा का तापमान थोड़ा बढ़ा होता है।

जलाल्पता (Dehydration) देखी जाती है, किन्तु प्यास की परेशानी नहीं होती। वार-चार जल पिलाते रहने से किसी नये विकार के प्रादुर्भाव की आशङ्का नहीं होती। यदि 'आरपजन्य श्रम' (Heat exhaustion) को नहीं समझा गया और उसकी तत्काल चिकित्सा नहीं की गयी, तो रोगी हीट हाइपर पाइरेक्सिया (अंशुधात—Sunstroke) रोग से आक्रान्त हो जाता है।

क्रान्तिमण्डलीय स्वेदावरोधक अतिदौर्बल्य (Tropical Anhidrotic Asthenia)

इस विकार के बहुतेरे रोगी अर्टिपीडादायक सन्ताप से त्रस्त होते हैं। यह रोग त्वचा के अधिकाश भाग में स्वेदनिर्गमन का अवरोध कर देता है। जैसे— वाहु, स्कन्ध आदि। यह स्थिति छलपूर्वक पूरे ग्रीष्मकाल तक बढ़ती जाती है। इसमें शिर शूल, वैचैनी, शक्तिहीनता, स्वेदाभाव तथा बहुमूत्र आदि लक्षण होते हैं। मूत्र में घुला हुआ क्लोरोइड होता है। सामान्यतः ज्वर का वेग बढ़ जाता है और अचानक यह अशुधात के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा लम्बी अवधि तक करनी चाहिए। रोगी को शीत वातावरण में तब तक रखना चाहिए जब तक कि त्वचा सामान्य स्थिति में न हो जाये और स्वेद का निर्गमन सामान्य स्थिति में तथा स्वाभाविक न हो जाये। लक्षणों के अनुसार चिकित्सा के माथ ही शीतोपचार करना चाहिए। इसका उपचार धैर्यपूर्वक करना चाहिए क्योंकि इसमें भहीनों का समय लग सकता है।

अंशुधात (Heat Hyper Pyrexia)

अस्वाभाविक रूप से उच्च तापमानवाले वातावरण में कार्यरत लोग इससे पीड़ित होते हैं, जो सीधे सूर्य की धूप में अथवा आग की भट्टी के निकट रहते हैं। जो लोग उष्ण वातावरण में रहने के अनभ्यस्त होते हैं, वे लोग अशुधात से अधिकरर आक्रान्त होते हैं। उष्णता के अभ्यस्त लोग भी लम्बे समय तक उच्च तापमान में रहने से इस रोग से आक्रान्त हो जाते हैं।

यह रोग सदैव स्वेदावरोध के साथ होता है और उस समय शरीर का तापमान 42° से 43° से० या और अधिक होता है। अनुपयुक्त वस्त्रधारण, काम करने का अनुचित ढंग, अल्प वायु-सञ्चालन, उच्च तापमान और आर्द्रता के स्थान में भारी परिश्रम का कार्य करना, स्वेद के उत्पादन और उसके बाष्पीकरण में प्रमुख रूप से वाधक कारण है। स्वेदग्रन्थियों के जन्मजात अभाव या मूत्राशयिक तन्तुमयतावाले व्यक्ति इस रोग से विशेषत प्रभावित होते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन केन्द्रीय नाड़ी-नम्ब्रान में होता है। मस्तिष्क सौषुप्तिक द्रववृद्धि के दबाव से मस्तिष्क में रक्तसंचाराधिक्य हो जाता है। अणु

वीक्षणयन्नीय परीक्षण में नाचीतनुओं का अपर्यं प्रकट होता है और विशेषकर मस्तिष्क रुल में तथा हृदयोदीलमिक क्षेत्र में।

प्रारम्भिक अशुधात में सामान्यतः रोगी को नाटकीय ढग भे दोग का आक्रमण होता है, जब कि रोगी न तो जलालगता का और न ही लवणहीनता का गिकार होता है, किन्तु अचानक यह देखा जाता है कि रोगी को बहुत कम न्यौदनिगंभन हो रहा होता है। रोगी जब विश्वास कर रहा होता है, तो तुछ ही घटों के बाद पठा चलता है कि वह वेहोणी में है। चेतनाहीनता का होना मस्तिष्कसक्षीम के पूर्वल्प का लक्षण है।

चिकित्सा

सर्वप्रथम रोगी के तापमान को अतिशीघ्र कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को एक गीली चादर थोड़ा दे और पगे की हवा में उद्वाप्तन करे अथवा ठड़े जल में गोता लगाकर नहायें।

जब तापमान गिर जाये, तो गोगी के मस्तिष्क-सर्वक्षण का यत्न करे। यह ध्यान रखें कि तापमान नामंल से भी नीचे न चला जाय। जब गुदा का तापमान 39° से^० हो जाये, तो सभी शीतोपचार बन्द कर दे। एनोक्सिया (Anorexia) की स्थिति में अविराम तीव्रता से आकस्मीजन दिया जाना चाहिए।

रोगी को खुली हवा में रखे। उसे क्लोरप्रोमाइजिन (Chlorpromazine) ५० मि० ग्रा० देना चाहिए। शिर के बाल कटवाकर उम पर वरफ के टुकडे रखें। सहस्रधारा स्नान (Shower bath) करावे।

पिपासा-श्वासनार्थ—वरफ के टुकडे चूसने को दे। घिमा हुआ चन्दन मिलाकर थोड़ा-थोड़ा जल पिलाना चाहिए। ५ द्वौद अमृतधारा गुलाब के अर्क में डालकर पिलावे अथवा गाजर्वा या सौंफ का अर्क पिलावे। इससे तृष्णा शान्त हो जाती है।

शीताङ्ग—जब शरीर का स्वाभाविक तापमान गिर जाये और नाड़ी क्षीण तथा विषम गति हो तो—

रत्नेश्वर रस १५० मि० ग्रा०/१ मात्रा

त्रिफला व्वाथ २५ मि० ली० के अनुपान से ३-३ घण्टे पर ३-४ बार दे।

मृतसज्जीवनी सुरा २०-२५ द्वौद समजल मिलाकर थोड़ी-थोड़ा देर पर दे।

आच्छापानक—कच्चे आम को गोइठे की आग में पकाकर ठड़े पानी में कुछ देर ठड़ा कर किसी पात्र म हाथ से भसलकर गुदा निकाल ले और वक्कल तथा गुठली अलग कर दे। फिर उसमे पिसी सौंफ, चीनी और जरा-सा कालानमक मिलाकर शर्करा बना ले। इसे थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहना चाहिए।

पश्यापथ्य

रोग शान्त हो जाने पर रोगी को कुछ समय शीत स्थान में रखें। सभव हो तो पर्वतीय स्थानों में कुछ दिन ठहरना चाहिए। जब तक देह में बल न आवे तब तक सावधानी से हितकर आहार-विहार कराकर मन को प्रसन्न रखें। बलकारक,

विवन्धनाशक, सुखविरेचन-कारक, स्तिर्घ और पौष्टिक आहार पथ्य है। इसके विपरीत अपथ्य है। मिथ्या आहार-विहार से उन्माद या अपस्मार हो सकता है।

शीतताजनित विकार

(Cold Injury)

शुष्क शीत जब 0° से के नीचे होता है, तब वह हाथ-पैर की अँगुलियों एवं लधु अवयवों को शीताक्रान्ति कर जमा देता है। खासकर ऐसे लोगों में जो पहाड़ की ऊँचाई पर व्यायाम करते हैं और जहाँ पर अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है, जबकि वहाँ ऑक्सीजन कम मिलता है।

लक्षण—इसके चेहावनी देनेवाले लक्षण हैं—अँगुलियों और पैरों में प्रचण्ड पीड़ा होना। ऊपरी तौर पर शीत लगना या पाला मारना त्वचा पर फफोले उत्पन्न करता है, तन्तुओं को निर्जीव बना देता है और गहरा पाला मारना अगों को गलाने की स्थिति में ला देता है और कोथ उत्पन्न करता है।

चिकित्सा

१. रोगी को उष्ण पेय—चाय-काफी आदि पिलाकर और लगातार उत्तम इन्स्युलेसन के प्रयोग से उष्णता प्रदान करना चाहिए।

२. निर्जीव जैसे अङ्गों को पुनः सजीव और उत्तेजित करना चाहिए।

३. शीतप्रभावित (Frost bite) अग को 40° से० के गरम जल में डालकर गरम करना चाहिए।

आकस्मिक शीत लगना

(Hypothermia)

यह स्थिति अचानक शीतजल के ठालाव में अथवा समुद्र में गोता लगाने से या वरसार के समय भीगे हुए वस्त्र धारण करने से या अल्प पहनावे के साथ पहाड़ी यात्रा करने से आती है। बृद्ध और रोगी व्यक्ति यदि रात में सुरक्षित प्रकार से इन्स्युलेटेड नहीं होते हैं, तो वे हाइपोथेर्मिया से ग्रस्त हो जाते हैं।

चिकित्सा—हाइपोथेर्मिया की स्थिति के यथार्थ निर्धारण के लिए रेक्टल थर्ममीटर की आवश्यकता होती है। यह स्थिति शरीर के तन्तुओं के ऑक्सीजन की मांग को कम करती है। यह रोग जब तक 35° से० से नीचे न हो, तब तक धातक रूप नहीं लेता और जब तक यह हाइपोटेंसन उत्पन्न कर रक्त को पकिल न बनावे एवं व्यग्रता तथा वेहोशी न लावे।

२. सामान्यतः सक्रिय रूप से पुन उष्णीकरण नहीं करना चाहिए। हाँ, यह आवश्यक है कि जब व्यापक रूप से तापमान 26° से० हो तो आगे उष्णता का हास न होने दे।

३. यदि अन्तर्भुग्नि तापमान (Core temperature) 32° से० से कम हो, तो सक्रिय रूप से पुन उष्णीकरण की क्रिया करनी चाहिए और प्रति ६ घण्टे के बाद अन्त शिरा में १०० मि० ग्रा० की मात्रा में हाइड्रोकortisone (Hydrocortisone) का सूचीवेद्ध देना चाहिए।

यात्राजन्य-विकार पर्वतीय यात्रा-विकार

ऊँचे पर्वतों पर शीघ्रतापूर्वक चढाई करनेवाले लोग इस व्याधि से पीड़ित होते हैं। कुछ लोग ८,००० फुट की ऊँचाई पर बीमार पड़ जाते हैं, जब कि दूसरे लोग १५,००० फुट ऊँचाई तक बिना कष्ट के यात्रा कर लेते हैं।

लक्षण—पर्वतीय यात्राजन्य विकारों में पहले शिर शूल, वमनेच्छा या वमन गुरु होता है, फिर तन्द्रा, मामपेणियों में दुर्बलता, श्वास लेने में कष्ट, त्वचा में श्यावता, चक्कर आना, नाड़ी की तीव्रता और अनिद्रा—ये लक्षण होते हैं। ये लक्षण अन्त-कोशिकीय शोथ के कारण होते हैं, जो दो गम्भीर रोगों के द्वाते बन जाते हैं, यथा—१ फुफ्फुसशोथ और २ मस्तिष्कशोथ। मिथ्याभिमानी एवं साहसी युवक जहरत से ज्यादा आत्मविश्वास के कारण अपनी क्षमता से अधिक ऊँचाई तक पर्वतारोहण करते हैं, जिससे वे फुफ्फुसशोथ से आक्रान्त हो जाते हैं।

मस्तिष्कशोथ नूने से आलस्य, सुन्तरी, व्याकुलता, मूर्छा और सन्यास (Coma) ये लक्षण होते हैं। अकुर-सदृश शोथ (इल्ला-मासाकुर) की खोज से इस रोग का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। रेटिनल रक्तस्राव भी हो जाता है।

चिकित्सा—इन पर्वत-यात्राजनित विकारों का प्रतियेध पहाड़ पर धीमी गति से चढ़कर या लगातार उतरकर अथवा यदि उपलब्ध हो, तो ऑक्सीजन देकर किया जा सकता है।

फुफ्फुसशोथ में फ्रूसमाइड (Frusmide) ४०-१२० मि० ग्रा० या मार्फीन १५ मि० ग्रा० का प्रयोग करना चाहिए।

मस्तिष्कशोथ में एसेटाजोलामाइड (Acetazolamide) २५० मि० ग्रा० का प्रयोग लाभप्रद होता है।

सिरागत रक्तस्तम्भन होने पर फुफ्फुस में अन्त शल्यता हो सकती है, जो पर्वतारोहण के अभ्यासी को पीड़ित करती है। ये विकार रक्त-स्कन्दन या घनत्व के कारण होते हैं। इनका प्रतियेध पर्याप्त जल-प्रयोग और व्यायाम द्वारा किया जा सकता है।

जीर्ण पर्वतारोहण-विकार (Chronic Mountaineering Sickness)

यह विकार भृत्यक्षी के छत्ते की तरह बने कम वायु-सचारवाले घरों में रहने के कारण होता है अथवा पुरानी हाइपोक्सिया (Hypoxia) के कारण ऊँचे चढ़ने वाले या नीचे उतरने वाले पर्वतारोहण के अभ्यासियों को होता है।

लक्षण—इससे शरीर में श्यावर्णता, हृदयगत्यवरोध, फुफ्फुसीय तनाव और नाड़ी-स्थान तथा मानस-विकृतियों के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—ऐसे रोगी को समुद्री सरह के समान निचले स्थान में रखकर उसका यथोचित उपचार करना चाहिए।

पञ्चम अध्याय

खाद्यान्न विषाक्तता एवं भारी धातुजन्य विषाक्तता

खाद्यान्न विषाक्तता

(Food Poisoning)

मनुष्य का जीवन आहार पर निर्भर है। अत आहार-पदार्थ के चयन, उसके निर्माण, रख-रखाव, उपयोग, वितरण, दस्तरखान और उपभोक्ता—इन सबके प्रति सावधानी, स्वच्छता, विश्वसनीयता तथा सजगता नितरा अपेक्षित है। यो तो विष देने के अनगिनत प्रकार है, फिर भी प्राय प्रयुक्त किये जाने वाले प्रकारों में भोज्य पदार्थ, पेय पदार्थ, चाय-काफी, शर्बत, पान, सिगरेट-बीड़ी आदि प्रमुख हैं। अम्यग के तेल, पाउडर, स्नानजल, वस्त्र, आसन, पहनावा, उष्णीय आदि के माध्यम से भी विष का प्रयोग किया जाता है।

हजारों वर्ष पूर्व भारतीय सस्कृति में कुछ ऐसी आचारसंहिता का प्रणयन किया गया था, जो जीवन को सुरक्षा प्रदान करने की वहन बड़ी युक्ति थी और आज भी सुस्कृत परिवारों में उस परम्परा का स्वाभाविक रूप में पालन किया जाता है। जैसे—भोजन करने के पूर्व अग्नि में भोज्य पदार्थ का हवन करना, घर के पालतू पशु-पक्षियों को भोजन का ग्रास देना, कुत्ते, कौवे, शुक-मारिका, मयूर आदि को भोजन में से कुछ अश निकाल कर खिलाना आदि। यदि भोज्य द्रव्य में विष होता है, तो आग में डालने पर चटचटाहट होती है, गोर की ग्रीवा के रग जैसी हरी-नीली लपटे निकलती है, आग की ज्वाला असह्य होती है और अलग-अलग धारियाँ दीखती हैं, धूएँ में तीक्ष्णता होती है तथा आग शीघ्र बुझ जाती है। मयूर उद्धिन होकर दौड़ लगाता है, तोता-मैना कन्दन करते और चीखते-चिल्लाते हैं, कौवा काँव-काँव की रट लगाता है, हिरण की आँखे अश्रुसाव करती हैं और बन्दर विषाक्त अन्न को देखकर-सूँघकर तुरन्त ही मल-त्याग कर देता है। इस प्रकार इन पालतू जीवों को ग्रास देकर अन्न के विषाक्तता की पहचान करके ही भोजन करना एक जीवन-रक्षक प्रक्रिया है, जो आज के सन्दर्भ में तो और अधिक उपादेय है। एवं इन पालतू पशु-पक्षियों का पालन करने से गृह की शोभा, वच्चों का मनोरञ्जन, उनके गुञ्जन और कलरव की मनोरम ध्वनियाँ से कर्णाह्लाद और उल्लास का वातावरण तो बनाता ही है, साथ ही सबसे बड़ी उपलब्धि है—भोजन के विषाक्त होने की पहचान।

विषाक्त अन्न के बाल्यजन्य विकार और उपचार

विषाक्त अन्न जब खाने के लिए थाल में परोसा जाता है, तो वाली वाप्त के सूँघने पर हृदय में पीड़ा, नेत्रों में आन्ति और शि-

उपचार— नस्य और अञ्जन तथा लेप का प्रयोग करे। कूठ, खस और जटामसी के चूर्ण का नस्य दे और इनके बारीक पीसे गये चूर्ण में मधु मिलाकर अञ्जन करे। ललाट पर शिरीष बीज, हल्दी और चन्दन पीसकर उसका लेप करे तथा हृदयप्रदेश में चन्दन का लेप करे।

विषाक्त अन्नस्पर्श

विषाक्त अन्न के हाथों में लगने से हाथों में दाह और नखों का झड़कर गिरना, ये लक्षण होते हैं।

उपचार— हाथों के आभ्यन्तर तथा बाह्य तलों पर प्रियगु, इन्द्रवारुणी, सुगन्धभूल और गुडूची को बारीक पीसकर लगाये।

विषाक्त अन्न-भोजन

विष-मिश्रित अन्न के खाने से जिह्वा में पत्थर जैसी कठोरता, अकड़न और ऐठन तथा रसज्ञान-शून्यता, चुभन एवं जलन होती है। मुख से लालासाव होता है और कफ निकलता है।

उपचार— इसमें निम्नलिखित औषधों के चूर्ण को मधु मिलाकर मसूड़ों पर घर्षण करे। जैसे—धाय का फूल, हरे और जामुन की गुठली पीसकर मधु मिला कर मसूड़ों पर लगाये या अकोल के मूल की छाल या छितवन की छाल या शिरीष-बीज, इनके चूर्ण को मधु में मिलाकर घर्षण करे।

आमाशयगत विषाक्त अन्न लक्षण और चिकित्सा

विषाक्त अन्न जब आमाशय में पहुँचता है, तो मूर्च्छा, वमन, अतिसार, आध्मान, जलन, कम्पन और इन्द्रियों में विकृति उत्पन्न करता है।

उपचार— इस अवस्था में १५-२० ग्राम नमक को १ लीटर उष्ण जल में धोलकर सुखोज्ज्ञ कर पिलावे या मदनफल, कडवी तरोई या तितलौकी के बीज १० ग्राम लेकर पीसकर नमक डालकर धोलकर पिलाना चाहिए या दही का पानी या मट्टा या चावल का धोवन पिलाकर वमन कराना चाहिए।

पक्वाशयगत विषाक्त अन्न-लक्षण और चिकित्सा

विषाक्त अन्न पक्वाशय में जाकर दाह, मूर्च्छा, अतिसार, तृष्णा, इन्द्रिय-विकार, आध्मान, पाण्डुता और दुर्बलता उत्पन्न करता है।

उपचार— नीलिनी फल (इन्द्रवारुणी) को चूर्ण कर ६ ग्राम की १ मात्रा धी से चटाकर विरेचन करावे। इच्छाभेदी रस या नाराच रस का यथोचित मात्रा में प्रयोग कराकर विरेचन करावे। शोधन करने के पश्चात् दूषीविषारि अगद का मधु से प्रयोग करे। योग—पीपल, कत्तूर (रोहिप धास), जटामसी, शावरलोध, केवटीमोथा, हुलहुल, छोटी इलायची और स्वर्णगैरिक—इनके सम्भाग का चूर्ण बनाकर ३-३ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार मधु से दे।

सविष्ठ द्रवद्रव्य के लक्षण

विपाक्त दूध, मध, जल आदि गमी तरल पदार्थों में विष के प्रभाव से नाना प्रकार की रेखाएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। तथा उक्त द्रवों में फेन बुद्बुद उत्पन्न होने लगते हैं। उन द्रव पदार्थों में विपाक्तता के कारण कोई परछाई नहीं दिखलाई देती और यदि दिखलाई देती भी है, तो वह जुड़ी हुई, दो-दो छिद्रयुक्त पतली और विकृत आकारखाली होती है।

सविष्ठ शाक, दाल तथा भास के लक्षण

शाक, दाल और भास आदि बाहार पदार्थों के विपाक्त होने पर वे विलम्ब, स्वादरहित और ताजा होने पर भी वानी की भौति दीखते हैं। वे अपने प्राकृत गम्ध, वर्ण तथा रस में हीन हो जाते हैं। पके हुए फल विपाक्त होने पर शीघ्र ही सड़ जाते हैं। यदि कच्चे फल विपाक्त होते हैं तो वे पक जाते हैं।

खाद्यान्न विपाक्तता के सामान्य कारण, लक्षण तथा उपचार

१. खाद्यान्न विपाक्तता होने की अधिक समावता कैण्टीन, रेस्टोरेण्ट, हॉस्पिटल, सिनेमा हाउस और भीड़-भाड़वाले स्थान में अधिक होती है।

२. जान्त्रिक एलर्जी (अनुजंता) के कारण भी खाद्यान्न विपाक्तता होती है, जब कि वच्चे अनुपयुक्त कच्चे फल खाते हैं।

३. जिसमें पहले कोई केमिकल प्वाइजन रखा गया हो और खाली होने पर उसी टिन (Container) में खाद्यान्न रख दिया जाये, तो वह विपाक्त हो जाता है।

४. यदि कोई घट्टा फलरस किसी सस्ते एनामिल या जस्ते के पात्र में रख दिया जाय, तो उस पात्र का एनामिल या जिक छूटकर या गलकर उसमें मिलकर उसे विपाक्त बना देता है।

५. घर की बनी शराब यदि किसी चमकते पात्र में रखी जाय तो उसमें शीशक विष की प्रतिक्रिया होगी।

६. टिन में रखा खाद्य या रस और प्रिजर्व की हुई मछली ये विपाक्त हो जाते हैं।

लक्षण—१. यदि भोजन करने के ३० मिनट के बाद वमन होता है, तो इसे केमिकल विष का प्रभाव जानना चाहिए।

२. खाद्यान्न विपाक्तता से एक ही समय में उपभोक्ता-गण पीड़ित होते दीखते हैं, जबकि सामूहिक रूप से भोजन-व्यवस्था हो।

३. लक्षणों की गम्भीरता या हल्का प्रभाव गृहीत विष की गुणवत्ता और विष की मात्रा पर निर्भर है।

४. वमनेल्ला, लालाम्बाव, वमन, जनिमार और अन्त्रशूल, ये प्रमुख लक्षण होते हैं।

५. गम्भीर रोगी में प्रोस्ट्रेशन, कोलैप्स और डीहाइड्रेशन हो सकते हैं।

६. विपाक्त खाद्य-पेय के सेवन से उदावर्त होकर अतिसार और वमन होने लगता है, कदाचित् ग्रहणी और विमुचिका होती है।

७. वैकटेरियल खाद्यान विपाक्तता से वमन, विवन्ध, विपासा, लालाक्षाव, श्वासकष्ट और मूकता (Aphonias) हो जाती है। इसकी मृत्युदर अधिक होती है।

चिकित्सा—१. अधिकाशत विपाक्तता हल्की होती है और प्राय घरेलू उपायों से उसका निराकरण कर लिया जाता है।

२. आधा लीटर जल में १ चाय चम्मच भर नमक डाले, फिर जल का आधा भाग सन्तरे का रस डाले। उसमें से थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिए।

३. जो रोगी शीताङ्गता या जलाल्पता से गम्भीर रूप से पीड़ित हो, उन्हें फ्लूइड थिरेपी से इण्ट्रावीनस द्रव पदार्थ दें।

४. प्राय एक-दो दिन में लक्षण शान्त हो जाते हैं, स्वाभाविक स्थिति में आने तक हल्का द्रव-प्रधान आहार देना चाहिए। मक्खन या धी लगी रोटी देनी चाहिए।

५. अतिसार के नियन्त्रण के लिए प्रति २ से ४ घण्टे पर केओलीन मिक्शर (Kaolin mixture) १० मि० ली० की मात्रा में देते रहे। इसी प्रकार कोडेइन फॉस्फेट की ३० मि० ग्रा० मात्रा ६-६ घण्टे पर देनी चाहिए।

प्रतिषेध

१. वैयक्तिक स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए, जैसे—१ स्वच्छता, २ मीसम के अनुसार दोनों समय या एक समय स्नान, ३ मलत्याग के बाद मलद्वार एवं पैरों का ठीक से प्रक्षालन, ४ स्वच्छ वस्त्र-धारण, केश-प्रसाधन, ५ नित्य तैलाभ्यग, ६ स्वच्छ जलवायु एवं प्रदेश में निवास करना तथा ७ आहार-विधि के अनुसार भोजन आदि नियमों का यथावत् पालन करना।

२. भोजनाल्य, पाककर्ता और पात्र तथा पाक-सामग्रा की सफाई और रख-रखाव के प्रति सावधानी रखनी चाहिए।

३. उच्छ भोजन और विश्वस्त भोजन ही करना श्रेयस्कर है।

विषाक्त रोगी की चिकित्सा के सिद्धान्त

१. अशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना।

२. शरीर में शोषित विष को बाहर निकालना।

३. प्रतिविषों का प्रयोग।

४. लाक्षणिक चिकित्सा।

(१) अशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना

शरीर के आध्यन्तर अशोषित हुए विष को बाहर निकालने के लिए प्रमुख उपाय है—(क) आमाशय-प्रक्षालन तथा (ख) वमन कराना।

(क) आमाशय-प्रसालन—यदि रोगी ने विष का सेवन मुखमार्ग से किया है और यदि शीघ्र ही इन दात का पता चल जाये, तो अनिष्टीघ्र आमाशय-नलिका या पट्ट ने जामागय का प्रसालन करना चाहिए।

(ख) वमन—यदि रोगी होश में हो और तीव्र दाहक विष की आश्ल्ला न हो, तो अब्जोधित विष को बाहर निकालने के लिए रोगी को वमनकारक औषध से वमन करना चाहिए। वमन के योग—

१. महीन नेंधानमन्त्र ३० ग्राम का १ लीटर सुखोण्ण जल में घोल बनाकर आहिन्ता-आहिस्ता पिण्डाना चाहिए। अथवा—

२. गर्ड का चूर्ण ३० ग्राम १ लीटर जल में घोलकर पिलायें। अथवा—

३. जिक्क मल्फेट १ ग्राम आधा लीटर जल में घोलकर पिलायें।

४. फॉन्फोरमजन्य विद्याकृता में तृतीया का चूर्ण १ ग्राम १ लीटर जल में घोलकर पिलाना चाहिए।

५. मदनकल, मुल्हठी, नीम, कुटवी तरोई, देवदाली, करज, वायविडग, चित्रकमूल—इनमें से किसी का भी चूर्ण सुखोण्ण जल में घोलकर पिलाने से वमन हो सकता है।

(२) शरीर में शोषित विष को बाहर निकालना

१. इसके लिए पसीना लानेवाली, सूखल तथा विरेचनकारक औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

२. गरम जल, गरम वस्त्र-धारण या प्रावरण और उष्णवायु के सेवन से स्वेदन-क्रिया में वृद्धि होती है।

३. मिरका २५-५० ग्राम में ५-६ ग्राम नौसादर मिलाकर पिलाना स्वेद-जनक है।

४. मदार के जड़ की छाल, छितवन की छाल, चित्रकमूल की छाल, सहिजन की छाल, कुटकी अनन्तमूल, अतीस, शीतलमिर्च, पुनर्नवा और कपूर का सुविधानुमार प्रयोग स्वेदक है।

५. विद्याकृता के निवारणार्थ अनग्निस्वेदन ही करना चाहिए।

६. मूत्रल औषधों से गोखल, कलमी सौरा, दूध, शर्वत, अपामार्ग, जवाखार, कुश-धाम-नरमल के मूल का क्वाथ, नारियल का पानी, गदहपुर्णा, कमलगद्वा, अनन्तमूल और सहिजन प्रभु ख हैं। इनका यथोचित रूप में प्रयोग करना चाहिए।

७. शीतल पर्पटी, गोक्षुरादि गुग्गुलु, चन्द्रकला रस और पुनर्नवा क्वाथ तथा कुलत्थ क्वाथ का मूत्र-प्रवर्तनार्थ उचित मात्रा में प्रयोग करे।

८. विवेचनार्थ—निशोथ, कालादाना, अमलतास, सत्यानाशी की जड़, त्रिफला-

९. व्यायाम उष्णसदन गुरुप्रावरण सुधा।

वहुपान भयक्रोधावृपनाहाहवातपा ॥

स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणाद्वते ।—चरक० सूत्र० १४।६४-६५

चूर्ण, मुनक्का, गम्भारीफल, फालसा आदि प्रयोज्य है। सिद्ध औषधों में—इच्छाभेदी एवं नाराच रस का प्रयोग फलप्रद होता है।

(३) प्रतिविष का प्रयोग

प्रतिविष तीन प्रकार के होते हैं—

- १ यान्त्रिक प्रतिविष ।
- २ रासायनिक प्रतिविष ।
- ३ क्रियाविरुद्ध प्रतिविष ।

(१) यान्त्रिक प्रतिविष—

१ जब मुख के द्वारा मणि एवं काँच आदि का चूर्ण सेवन कर लिया जाता है, तब वह अन्दर पहुँचकर अपनी यान्त्रिक क्रिया के कारण आमाशय और आन्त्र की श्लैष्मिककलाओं पर आघात पहुँचाता है तथा उन्हे स्थान-स्थान पर क्षत-विक्षत कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप रक्तस्राव होता है और पीड़ा होती है। ऐसी स्थिति में क्षतनिरोधार्थ—स्नाध पदार्थ जैसे—वसा, तैल, अण्डे की सफेदी (अल्ब्यू-मिन) आदि का उपर्युक्त विषों के खाने के तुरन्त बाद अथवा कुछ देर बाद सेवन किया जाय तो आमाशय आदि की श्लैष्मलकलाएँ क्षताक्रान्त होने से बचाई जा सकती हैं। वसा-तैल आदि आमाशय और आन्त्र में पहुँचकर वहाँ की श्लैष्मिक कलाओं पर एक आवरण की तरह चढ़ जाती है, जिससे मणि, काँच आदि की यान्त्रिक क्रिया फिर नहीं हो पाती।

२ वानस्पतिक या खनिज विषों को आमाशय में निष्क्रिय करने के लिए मूद्धम पिसे हुए कोयले का चूर्ण उचित मात्रा में खिलाया जाता है।

(२) रासायनिक प्रतिविष—

१ यदि अम्लीय पदार्थों का विष के रूप में सेवन किया गया हो, तो उसके प्रतिविष के रूप में क्षारीय पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

२ यदि क्षारीय पदार्थों का विष के रूप में प्रयोग किया गया हो, तो उनके प्रतिविष के रूप में अम्लीय पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

३ खनिज अम्लों के लिए मैग्नेसिया और कार्बोनेट्स देना चाहिए।

४ ऑंगेलिक अम्ल के लिए चूने का प्रयोग करना चाहिए।

५ नाग और टैनिन विषों के लिए सोडियम सल्फेट का प्रयोग करें।

६ रसकर्पुर विष के लिए एल्ब्यूमिन का प्रयोग करें।

७ दाहक क्षारीय विषों के लिए नीबू के रस अथवा सिरका का प्रयोग करें।

इन प्रतिविषों के प्रयोग के संमय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनका शरीर पर कोई दुष्परिणाम न हो।

(३) क्रियाविरुद्ध प्रतिविष—

१ एट्रोपीन के लिए मार्फिया, २. स्ट्रैक्नीन के लिए क्लोरल हाइड्रेट के साथ

ब्रोमाइड, ३. डिजिटेलिंग के लिए बत्सनाम और ४. क्लोरोफार्म के लिए एमिल नाइट्रोट का प्रयोग करना चाहिए।

एक अति लाभप्रद रासायनिक प्रतिविष का योग—वहुत वारीक पीसा कोयला २ भाग, टैनिक एसिड १ भाग, मैनेशियल आँकमाइड १ भाग मिलाकर रख लें। जावश्यकता पड़ने पर उनमें से ३ ग्राम लेकर चीवाई लीटर जल में मिलाकर देना चाहिए। उनकी मुन दूमरी मात्रा दी जा नकती है।

कोयला धारामो का शोषण करा देता है—टैनिक एसिड धारामो, शर्करामो या अन्य धातुओं का अवधेषण करता है और मैनेशिया अम्लों को निप्पिय करता है तथा फेनाइम (मखिया) के प्रतिविष के स्प में प्रयुक्त होता है।

(४) लाक्षणिक चिकित्सा

१. पीटा कम करने के लिए रुजाहर और स्थिरधीरी देनी चाहिए अथवा माफिया का सूची-वेधन करना चाहिए।

२. अतव्यधता और हृदयावसाद की अवस्था में उपणोदक भरी बोतलों से सेंकना चाहिए, जिसमें शरीर का ताप स्थापित रहे और गिरे नहीं, अथवा तैलाभ्यरूप करके शरीर में उत्तेजना लानी चाहिए। इसके लिए 'स्ट्रिक्नीन' ५० ग्रेन, अथवा 'कैम्फर इन आयल' अथवा 'कैम्फर डन ईयर' का उच्जेवण लगाना चाहिए।

३. निरामार्ग में लवणोदक (नामल सैलाडन) का उचित अवस्था में प्रयोग करना चाहिए।

४. श्वासावरोध की दशा में आँकमीजन की व्यवस्था करनी चाहिए।

५. श्वासकर्म में वाधा होने पर 'कृत्रिम श्वसन-क्रिया' करे तथा एट्रोपीन अथवा स्ट्रिक्नीन का त्वचा के नीचे उच्जेवण लगायें।

भारी धातुजन्य विषाक्तता^१

(Heavy Metallic Poisoning)

सखिया या फेनाशम

(Arsenic)

परिचय—शखविष, गौरीपापाण, दारुमोच, मल्ल, सोमल, मम्बल, फेनाशम, सखिया और आखुपापाण—ये सखिया के पर्याय हैं।

यह श्वेत और रक्त-भेद से दो प्रकार का होता है। श्वेत कृत्रिम होता है और रक्त खनिज होता है। यह विशोधित कर अत्यल्प मात्रा में अधिक प्रयोग में लाया जाता है। इसे डॉक्टर, हकीम और वैद्य सभी प्रयोग करते हैं। इसका प्रयोग

१ यह मन्दर्म सुश्रुत ० कल्प ० अ० १८४ की 'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' व्याख्या से सामार उद्धृत है।

२ इस शीर्षक के अन्तर्गत का विषय 'विष-विज्ञान' ले० कविराज युगलकिशोर शुक्ल से सामार संगृहीत है।

चूहा आदि को मारने के लिए भी किया जाता है। इसी से इसका एक नाम आखुपाषाण है।

सखिया के यौगिक

सखिया के बहुत से यौगिक होते हैं, जिनमें से कुछ अधोलिखित हैं—

(१) आर्सेनियस आक्साइड (Arsenious oxide)—

इसका सकेत $As_4 O_6$ है। इसे श्वेत सखिया कहते हैं। यह स्फटिक के रूप में पाया जाता है। इसमें कोई स्वाद या गन्ध नहीं होती है। यह जल में, विलेय नहीं है। भूमि में किंचित् घुलता है और अम्लों तथा क्षारों में घुल जाता है। चूहे आदि को मारने के लिए इसके योग से चूर्ण बनाया जाता है। आर्सेनियम एसिड 'ब्रिटिश फार्माकोपिया' की औपधि है। इस ग्रन्थ में इसका नाम 'आर्सेनाई ट्राय आक्सीडम' है। इसकी औपधि मात्रा १० ग्रेन से २२ ग्रेन है।

(२) आर्सेनिक सल्फाइड्स—

यह हरिताल और मैनसिल का यौगिक है। यह खानों से निकलता है और कृत्रिम भी बनाया जाता है। इसका प्रयोग रक्तगत विकृति और त्वचा के रोगों में होता है।

(३) आर्सेनिक डाइ क्लोरोराइड (As Cl₃)—

यह वर्णरहित अति विषेला द्रव पदार्थ है। औपधि के रूप में अद्वितीय के लिए प्रयुक्त होता है।

संखिया जन्य विषाक्तता के लक्षण

१. विष खाने के कुछ समय बाद से एक घण्टे के भीतर विष के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

२. प्रारम्भ में सिर चकराना, मिच्छली, थटावट, तृष्णा और दाह होता है।

३. फिर गले और आमाशय में तीव्र दाह, पीड़ा के साथ वमन होने लगता है।

४. तदनन्तर उदर में तीव्र शूल के साथ दस्त आते हैं। उदर में कुथन होती है, फिर विसूचिका के समान मलत्याग होता है।

५. तीव्र उदरशूल के कारण श्वास लेने में कठिनाई होती है और पैरों में ऐठन होती है।

६. मूत्र की मात्रा क्रमशः कम होती जाती है और मूत्रत्याग पीड़ा तथा दाह के साथ होता है।

७. ठड़ा पसीना आना, आँखों का धूँसना, मुख की छवि नीली-पीली पड़ना, नाड़ी की गति तीव्र होना तथा दुर्बल होना ये लक्षण चिन्ताजनक हैं।

८. स्थिति गम्भीर होने पर तन्द्रा, मूर्छा और आक्षेप होने लगते हैं।

९. कदाचित् हनुस्तम्भ, मूकता, प्रकाशासहिष्णुता, कर्णनाद, ज्वर, लालासाव और श्वासकृच्छ्रुता होने के बाद श्वासावरोध होकर प्राण छूट जाता है।

घातक मात्रा—३ ग्रेन। घातक काल १२ से २४ घण्टे तक।

चिकित्सा

१ यदि अपने आप वमन न होता हो, तो वमन कराना चाहिए। एतदर्थं जिक सल्फेट दे या राई पीसकर पिलाये या एपोभार्फीन का इञ्जेक्शन दे।

२ विष-भक्षण का ज्योही पता चले तुरन्त दूध और पानी मिलाकर आमाशय प्रक्षालन-नलिका से आमाशय का प्रक्षालन करे। आमाशय-प्रक्षालन के बाद नलिका द्वारा हायड्रोटेड फेरिक ऑक्साइड के द्रव का आमाशय में प्रक्षेपण करे।

द्रव का योग

टिक्चर फेरी पर-क्लोराइड	३ औंस
सोडावाईकार्ब	१ औंस
जल	११ औंस

३ यदि दस्त न हुआ हो तो एरण्ड तैल या मैगसल्फ पिलाकर विरेचन करायें।

४ शरीर-ताप-रक्षणार्थ गरम जल की बोतलों से अगों को सेकना चाहिए।

५ अगों में अधिक पीड़ा हो तो मार्फिया का इन्जेक्शन लगा देना चाहिए।

६ शरीर की शिथिलता को दूर करने तथा उत्तेजना लाने के लिए स्ट्रॉक्नीन का इञ्जेक्शन देना चाहिए।

७ डीहाइड्रेशन की स्थिति में नार्मल सैलाइन का अवश्य प्रयोग करे।

८ प्रतिदिन एक बार—सोडियम थायोसल्फेट के १० प्रतिशत घोल का ७५ ग्रेन की मात्रा में सिरा द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

९ निदान होते ही अतिशीघ्र बाल (BAL) का प्रयोग करना चाहिए।

१० बाल सखिया विषाक्तता में उत्तम परिणामकारक प्रतिविष सिद्ध हुआ है।

११ इसका आविष्कार इंगलैण्ड में हुआ, इसलिए इसको ब्रिटिश एण्टी लेविसाइट (British anti lewisite BAL) कहते हैं।

यह तेल में औषध का १० प्रतिशत घोल होता है, जिसमें २० प्रतिशत बेञ्जिल बेञ्जोएट मिला रहता है। इसके १ सी० सी० में १०० मिलीग्राम औषध होती है। इसका इञ्जेक्शन सदैव पेशी में दिया जाता है।

अधिक समय तक सिरा द्वारा प्रयोग के लिए इसका विलयन (BAL intravenous) बाजार में आता है। इसका प्रयोग करना चाहिए।

मात्रा—विष का परिमाण अधिक हो तो—१ किलोग्राम शरीर के वजन के लिए ३ मिलिग्राम औषध, इस परिमाण में १ इञ्जेक्शन के लिए पूर्ण मात्रा का निश्चय करना चाहिए।

प्रथम तथा द्वितीय दिन—प्रति ४ घण्टे पर १ इञ्जेक्शन दिन-रात।

तीसरे दिन— „ ४ „ १ „ „ ।

चौथे दिन से जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो—एक इञ्जेक्शन प्रति १२ घण्टे पर, प्राय १० दिन तक या जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो।

‘बाल’ के कुछ दुष्परिणाम—हृलास, वमन, शिर शूल, अगमर्द और दाह—ये उपद्रव कभी-कभी इच्छेक्षण देते ही होने लगते हैं। ये उपद्रव प्रायः आधे घण्टे में शान्त हो जाते हैं। यदि ये उपद्रव अधिक समय तक रहे, तो बार्बिटूरेट्स का प्रयोग करने से सन्तोषजनक लाभ होता है।

जीर्ण शख्विष के लक्षण

अधिक समय तक सखिया खाते रहने से अथवा तीव्र शङ्खविष-विपाक्तता हो जाने के बावदूद जीवित बचे रहने पर और जिन कारखानों में किसी भी रूप में सखिया का प्रयोग किया जाता हो, ऐसे कारखानों में काम करने से जीर्ण शख्विष के लक्षण होते हैं।

१ इसमें होनेवाले लक्षणों को ४ अवस्थाओं में बाँट सकते हैं, जैसे—

१ प्रथम अवस्था में—मन्दाग्नि, अस्त्रचि, दन्तवेष्टशोथ और लालास्त्राव होता है।

२ द्वितीय अवस्था में—स्वरयन्त्र तथा श्रासनलिकाशोथ, खाँसी, स्वरभेद, त्वचा में पिंडका निकलना, नासास्त्राव नेत्ररक्तिमा और कालान्तर में केश तथा नख का पतन होने लगता है।

३ तीसरी अवस्था में—नाड़ी-स्थान पर असर पड़ता है और शिर शूल, त्वचा में कहीं-कहीं सूनापन होना, पेशियों में पीड़ा, नपुसकना तथा कभी-कभी स्वेदाधिक्य होता है।

४ चौथी अवस्था में—पेशियों में कम्पन, पक्षांघात, चलने में अमर्दांता और हृत्पेशीदौर्बल्य होने से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१ खाने के लिए पोटैशियम आयोडाइड का उचित मात्रा में प्रयोग करें।

२ सोडियम या कैल्सियम थायोसल्फेट (Sodium or calcium thiosulphate) का प्रतिदिन सिरामार्ग से इच्छेक्षण देना चाहिए।

३ शरीर में सखिया विष के प्रवेश के कारणभूत सभी प्रकार के कार्यों से वचना चाहिए।

४ निदान होते ही बाल (BAL) का योग्य मात्रा में प्रयोग करना अति लाभप्रद है।

नीलाञ्जन

(Antimony)

इसके अनेक यौगिक होते हैं, जिनमें एण्टीमनी टार्टरेटम महत्वपूर्ण है।

एण्टीमनी टार्टरेटम (Antimony tartaratum)—इसे पोटैशियम एण्टीमनी टार्टरेट (Potassium antimony tartarate) भी कहते हैं। यह वर्ण रहित पारदर्शक स्फटिक के रूप में अथवा चूर्ण रूप में पाया जाता है। इसमें लगभग ३५

प्रतिशत धातवीय अञ्जन होता है। इसका स्वाद किंचित् अम्ल होता है। यह जल में घुलनशील है, किन्तु मद्य में नहीं घुलता। स्वेदल गुण के लिए हृँ से हृँ रत्ती की मात्रा में और वामक गुण के लिए हृँ से हृँ रत्ती तक की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है।

विष-लक्षण——मिचली, वमन, आमाशय में दाह और पीड़ा तथा विरेचन होता है। नाड़ी बन्द, त्वचा शीतल और स्वेदयुक्त, श्वासकृच्छृता, मूर्च्छा होना—ये लक्षण होते हैं। कदाचित् हृदयावसाद होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

धातक मात्रा—६०० से १२०० मि० ग्रा० तक।

धातक काल—१० घण्टे से ६० घण्टे तक।

चिकित्सा

१ यदि वमन न हो रहा हो तो वमनकारक औषध देकर वमन कराये।

२ प्रतिविष के रूप में टैनिकाम्ल (Tannic acid) २ से ४ ग्राम तक की मात्रा में दे। इसके अतिरिक्त गैलिक एसिड एवं कडी चाय या काफी दी जा सकती है।

३ दूध, जैतून का तेल आदि स्निग्ध और शामक औषधे दे।

४ अधिक पीड़ा होने पर मार्फिया का इन्जेक्शन लगाना चाहिए।

५ उत्तेजना लाने के लिए स्ट्रॉक्नीन का इन्जेक्शन देना चाहिए।

पारद

(Mercury)

पर्याय—रस, रसेन्द्र, सूत, रसेश्वर, चपल, रसराज और शिव—ये पारद के पर्याय हैं।

परिचय—यह एक द्रव धातु है, जो पिघली हुई चाँदी जैसा होता है। इसका वाष्प बहुत विषैला होता है। अत पारद के कारखानों में काम करनेवाले व्यक्तियों में पारद के जीर्णविष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

पारद के अनेक प्रकार के यौगिक होते हैं, जैसे—

१ मरक्यूरिक क्लोराइड।	८ मरक्यूरस क्लोराइड।
२ मरक्यूरिक आयोडाइड।	९ मरक्यूरस ऑक्साइड।
३ मरक्यूरिक ऑक्साइड।	१० मरक्यूरस नाइट्रेट।
४ मरक्यूरिक ऑक्सी साइनाइड।	११ मरक्यूरस सल्फेट।
५ मरक्यूरिक नाइट्रेट।	१२ ओलियेटेड मर्करी।
६ मरक्यूरिक सल्फाइड।	१३ अमोनिएटेड मर्करी।
७ मरक्यूरिक सल्फेट।	

पारद-विषाक्तता के लक्षण

- १ पारद खाने के लगभग डेंड घण्टे के भीतर इसके विष-लक्षण उत्पन्न होते हैं।
- २ मुख, गला और आमाशय में क्षोभ एवं तीव्र दाहयुक्त पीड़ा होती है।

३ स्वरभेद, लालास्नाव, दन्त-शैथिल्य, मसूडे में शोथ और रक्तयुक्त पूयस्नाव होता है।

४ श्वासकष्ट, हृल्लास एवं वमन में रक्तयुक्त श्लेष्मा आता है।

५ उदर में ऐठन के साथ मलत्याग होता है और मूत्राल्पता होती है।

६ नाड़ी तीव्र किन्तु क्षीण और अनियमित होती है।

७ शीतल स्वेद, श्वासकाठिन्य, तन्द्रा, आक्षेप और मूर्च्छा आदि हृदयावसाद के लक्षण होकर मृत्यु हो जाती है।

धातक मात्रा — रसकर्पूर ३-५ ग्रेन। मरक्यूरिक ऑक्सी सायनाइट २० ग्रेन।

धातक काल — १ से ५ दिन। कभी से कम ३० मिनट।

चिकित्सा

१ अल्ब्यूमिनेट ऑफ मर्करी को निकालने के लिए आमाशय-प्रक्षालन-नलिका से तुरन्त आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए।

२ जी के क्वाथ को या आटे को जल में घोलकर पिलाना चाहिए।

३ शरीरताप-रक्षणार्थ गरम जल से भरी बोतलों से अगों को सेकना चाहिए।

४ हृदयावसाद की स्थिति में स्ट्रॉकनीन का इञ्जेक्शन देना चाहिए।

५ पीड़ा की अधिकता में भारिया का इञ्जेक्शन देना चाहिए।

६ अन्य उपद्रवों या लक्षणों की चिकित्सा उन रोगों के अनुसार करे।

७ विषाक्तता का ज्ञान होने के तत्काल बाद सोडियम थायोसल्फेट तथा बाल (BAL) का यथाशीघ्र प्रयोग करना चाहिए।

पारद का जीर्णविष

जब कोई व्यक्ति अधिक समय तक ऐसे वातावरण में रहता है, जहाँ पारद के वाष्प हो तो वह पारद के जीर्णविष से आक्रान्त हो जाता है। पारद का मुख द्वारा अधिक मात्रा में प्रयोग करने से अथवा पारदघटित मलहम का दीर्घकाल तक प्रयोग करने से पारद के जीर्णविष के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षण

१. हृल्लास, वमन, उदरशूल, दन्तमूलशूल एवं शोथ, लालास्नाव, दन्तशैथिल्य और दाँतों के मूल में कृमि होना—ये लक्षण होते हैं।

२ अतिसार, दौर्बल्य, पाण्डु तथा त्वचा में पिङ्काये निकलती हैं।

३ हाथ-पैर में कम्पनि, जिह्वा और मुखपेशी-कम्पनि और मानसिक विकार होता है।

४ खांसी आती है और उसके साथ रक्त सहित कफ निकलता है।

५ फुफ्फुस वृक्क तथा नाड़ी-स्थानगत विकृति होने पर कंदाचित् मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

- १ सर्वप्रथम रोग के कारण का निवारण करना चाहिए।
- २ मुख्यगत विकार और दन्तगत विकार को दूर करने के लिए पोटेशियम क्लोरेट तथा हाइड्रोजेन-पर-आक्साइड के घोल से कवलग्रह करना चाहिए।
- ३ विवर्ण्ध होने पर मैग्सल्फ या बट्सकार चूर्ण खिलाना चाहिए।
- ४ त्वचा की शुद्धि के लिए उष्णोदक से स्नान करना चाहिए।
- ५ रोगी की पाचनशक्ति के अनुसार पर्याप्त मात्रा में दूध पिलाना चाहिए।
- ६ यथाशीघ्र सोडियम थायोमल्फेट तथा बाल का प्रयोग करना चाहिए।
- ७ पोटेशियम आयोडाइड का उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।
- ८ पक्षाधात होने पर नारायण तैल की मालिश और विजली से सेंक करे।
- ९ कम्पन होने पर बार्बिट्युरेट का प्रयोग करना चाहिए।

नाग

(Lead)

पर्याय—सीसक, शीषक, नाग, कुवङ्गक, कुरङ्ग और सर्प के जो नाम हैं, वे सभी इसके भी नाम हैं।

परिचय—सीसक या नाग नील-श्याव वर्ण का, गन्धहीन, अपारदर्शक ठोस ध्रातु है। इसमे एक प्रकार की धातवीय चमक होती है। यह जल में अविलेय है। इसे कागज पर धिन्नने से काला निशान बन जाता है। इसे लेड (Lead) और प्लम्बम (Plumbum) भी कहते हैं। यह चित्र बनाने, छापने के अक्षर बनाने और औपध बनाने के काम आता है। इसके अदोलिखित लवण प्रयुक्त होते हैं।

नाग के लवण

१ प्लम्बाई एसिटस (Plumbi acetas)—यह सफेद रंग का न्यूट्रिकीय द्रव्य होता है। स्वाद में मधुर और गन्ध में निरुक्त के समान होता है। इसमे मपोजीटोरियम प्लम्बाई कम्पाइण्ड (Suppositorium plumbi compound) नामक योग तैयार किया जाता है।

२ लाइकर प्लम्बाई सब-एसिटेटिस फोर्टिज (Liquor plumbi sub-acetatis fortis)—यह वर्णरहित न्यूचल धारीय द्रव होता है। इसमे स्वाद मधुर और प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमे लाइकर प्लम्बाई नद-एन्टीटिन राइल्फूट्स नामक योग बनाया जाता है।

३ प्लम्बाई मोनो ओक्साइडम (Plumbi mono-oxoidum)—इसे लिथार्ज (Litharge) मृद्यान्नग्र या मुर्दान लक्ते हैं। यह पी-ए-न्यूरो रंग का नमान रंग पदार्थ होता है। यह जल में जलिनेत्र है। लिथार्ज न्यूरो-पी-ए-न्यूरो रंग का नमान होता है।

में घुल जाता है। डससे ऐमप्लास्ट्रम प्लम्बार्ड, पिल्यूला प्लम्बार्ड कम ओपार्ड और अञ्जेण्टम प्लम्बार्ड ओलिएटिम आदि योग वनाये जाते हैं।

नाग-विषाक्तता के लक्षण

- १ कण्ठशोथ, तीव्र तृष्णा, वमन में रक्त या कफ आना तथा उदरशूल।
- २ तीव्र विवन्ध, मूत्र की मात्रा कम, जिह्वा शुष्क और मलिन।
- ३ श्वास में दुर्गन्ध, अत्यन्त दीर्घतय, त्वचा पर शीतल स्वेद।
- ४ निद्रानाश, तन्द्रा, शिर शूल, चक्कर आना पेशियों में सकोच एवं शून्यता, आक्षेप तथा पक्षाधात आदि लक्षण और उपद्रव होते हैं।

चिकित्सा

१ मैगनेशियम सल्फेट या सोडियम सल्फेट का घोल पिलाना चाहिए, इससे लेड सल्फेट बनता है, जो अघुलनशील होता है। उसके बाद जल से आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए।

२ यदि आमाशय का प्रक्षालन न किया गया हो, तो जिक्सल्फेट देकर अथवा एपोमार्फीन का इञ्जेक्शन लगाकर वमन कराना चाहिए।

३ दूध, जी का क्वाथ, अण्डे की सफेदी आदि स्निग्ध और शामक औपधि दे।

४ अधिक पीड़ा हो तो मार्फिया का इञ्जेक्शन लगाना चाहिए।

५ उदरशूल में कैल्सियम क्लोराइड या १० प्रतिशत कैल्सियम न्यूमाइड की ७ से १० सी० सी० धीरे-धीरे शिरा द्वारा देना चाहिए।

नाग का जीर्णविष

सीसक के कारखाने में काम करने, चित्रकारी करने, छापाखाने में कम्पोजिंग करने, पानी का पाइप बैठाने, सिन्दूर का प्रयोग करने, कलड़ीदार वर्तन में पकाया हुआ भोजन लगातार खाने एवं टीन के पात्र में रखा समान खाने तथा इसी प्रकार के सीसक से सम्बद्ध अन्य वस्तुओं का प्रयोग करने से नाग के जीर्णविष के लक्षण प्रकट होते हैं।

लक्षण

- १ शरीर दुर्वल, कान्तिहीन, निस्तेज और पाण्डुवर्ण का हो जाता है।
- २ आध्मान, अजीर्ण, अग्निमाद्य और विवन्ध होता है।
- ३ रक्तचाप बढ़ जाता है और नाड़ी मन्द होती है।
- ४ वृक्कशोथ होता है और मूत्र में अल्ब्युमिन मिलता है।
- ५ तीव्र विवन्ध, उदरशूल और नाभि के चारों ओर बहुत कुथन होती है।
- ६ जानु, कूर्पर और स्कन्ध के जोड़ों में रह-रहकर तीव्र शूल होता है।
- ७ पेशियों में आकस्मिक सकोच और कम्पन होता है।
- ८ निद्रानाश, शिर शूल, शिरोभ्रम, दृग्मान्द्य आदि उपद्रव होते हैं।
- ९ प्रलाप, उन्माद, आक्षेप और मूर्च्छा —ये उपद्रव होते हैं।

१० स्त्रियों के योनिमार्ग में आकस्मिक सकोच तथा गर्भिणी स्त्री का गर्भपात और पुरुषों में नपुसकता होती है।

११ बाहुपेशियों में पक्षाधात हो जाता है, जिससे हाथ नीचे की ओर झुक जाता है तथा अँगुलियाँ भीतर की ओर मुड जाती हैं।

चिकित्सा

१ सर्वप्रथम कारण का परित्याग करना चाहिए।

२ सोडावाईकार्ब द्वे ग्राम की मात्रा दिन में ४ बार दे। इसके साथ सीसक का घुलनशील योग बन जाता है, बाद में सोडियम सल्फेट का सतृप्त घोल पिलाकर विरेचन कराना चाहिए।

३ पोटैशियम आयोडाइड का उचित मात्रा में प्रयोग करे।

४ पक्षाधात होने पर नारायण वैल की मालिश, विद्युत स्वेदन एवं त्वचा के नीचे स्ट्रिक्नीन क्लोरोइड का प्रयोग करना चाहिए।

५ रोगी को शुद्ध वायुमण्डल में रखना चाहिए और दुग्ध-प्रधान पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिए।

६ सप्ताह में एक दिन सोडियम या मैग्नेशियम सल्फेट देकर विरेचन कराना चाहिए।

यशद

(Zinc)

यह खनिज द्रव्य है और खानो से कैलोमाइन या जिक आँक्साइड और जिक सल्फाइड के रूप में पाया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—१ जिसमें पत्रक होते हैं, उसे दर्दुर (जिक कार्बोनेट) कहते हैं और २ जिसमें पत्रक नहीं होते, उसे कारबेल्क (जिक सल्फाइड) कहते हैं।

परिचय—यह नीलिमा लिये हुए स्फटिकीय धातु है। साधारण ताप पर यह भयुर होता है। लगभग 420° से० तापमान पर यह पिघल जाता है।

यशद के यौगिक

(१) जिक आँक्साइड (Zinc Oxide)—

यह श्वेत चूर्ण के रूप में पाया जाता है, जिसमें किसी प्रकार का स्वाद नहीं होता। गरम करने पर किंचित् पीत वर्ण का हो जाता है, किन्तु ठण्डा होने पर पुनः श्वेत हो जाता है। यह जल में अविलेय है, किन्तु सोडियम हाइड्रोक्साइड और हल्के धातवीय अम्लों के विलयनों में घुल जाता है। औषध के रूप में ३०० मि० ग्रा० से ६०० मि० ग्रा० तक की मात्रा में प्रयुक्त होता है। इससे जिक मलहम (Zinc ointment) और जिक पेस्ट (Zinc paste) बनाये जाते हैं। इसका वाप्त अत्यधिक विषेला होता है।

(२) जिक सल्फेट (Zinc sulphate)—

इसके स्फटिक वर्णरहित और पारदर्शक होते हैं। इसमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं होती और यह जल में घुल जाता है। औषध के रूप में ६० मि० ग्रा० से १५० मि० ग्रा० तक प्रयुक्त होता है।

(३) जिक क्लोरोराइड (Zinc chloride)—

यह एक ठोस पदार्थ है, जो चूर्ण के रूप में, गलाका अथवा ढेले के रूप में होता है। इसके तीव्र क्षोभक विष के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षण

अत्यधिक लालास्त्राव, वमन तथा आमाशय एवं अन्त्र में पीड़ा होती है। विरेचन होता है। हृदयावसाद उत्पन्न होने पर अन्तत रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१ सोडावाईकार्ब को गरम जल में धोलकर उसी से आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए। जिक क्लोरोराइड की आशङ्का होने पर प्रक्षालन नहीं करना चाहिए।

२ यदि वमन न होता हो, तो यथेच्छ गरम जल पिलाकर गले में अँगुली डालकर वमन करा देना चाहिए।

३ दूध अण्डे की सफेदी, उण्ण चाय, टैनिकाम्ल इत्यादि पिलाना चाहिए। ये पदार्थ इसके प्रतिविष हैं।

४ यदि पीड़ा अधिक हो तो मार्फिया का इञ्जेक्शन लगायें तथा अन्य उपद्रवों की रोगानुसार चिकित्सा करें।

ताम्र

(Copper)

परिचय—यह अति प्रसिद्ध धातु है, जो रग में लाल और चमकीली होती है। यह ताप और विद्युत का अच्छा चालक है।

ताम्र के यौगिक

कॉपर सल्फेट (Copper sulphate Cu SO₄)—

इसे १५ मि० ग्रा० की मात्रा में चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। इससे एक मलहम बनाया जाना है, जिसे अञ्जेण्टम क्यूब्री ओलिएटिस कहते हैं। यह दहु में विशेष लाभकर है। यह कण्डू आदि रक्तविकारजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

लक्षण

१ आमाशय में दाह के साथ पीड़ा होती है और प्यास अधिक लगती है।

२. नीले या हरे रग का वमन होता है। पित्तविकारजन्य वमन होने का सन्देह होने पर वृमनद्रव्य के साथ अमोनियम हाइड्रोक्साइड मिलाया जाता है। यदि ताम्र-

विषज वमन होता है, तो उसका रग गहरा नीला हो जाता है तथा पित्तज वमन में प्रतिक्रिया नहीं होती ।

३. उदरप्रदेश में पीड़ा होती है । मूत्र बहुत कम आता है या मूत्राधात होता है । मूत्रस्नाव रक्तमिश्रित होता है ।

४ शौच में मल का रग भूरा होता है और कुथन के साथ होता है ।

५ कामला रोग हो जाता है । त्वचा पीत वर्ण की हो जाती है । उनका स्पर्श शीतल होता है तथा वह स्वेदयुक्त होती है ।

६ विषाक्तता दूर न होने पर हृदयावसाद, मूर्च्छा या पक्षाधात होकर मृत्यु हो जाती है ।

ताम्र के जीर्ण विष के लक्षण

ताम्र के कारखानों में या वर्तन आदि बनने की जगह जो लोग काम करते हैं, उनके श्वास-न्यार्ग से सूक्ष्म ताम्रकण शरीर में पहुँच जाते हैं, जिससे वे ताम्रविष से आक्रान्त हो जाते हैं ।

लक्षण

१ मुख का वर्ण ताम्रवत् होता है एवं मसूडों पर हरितवर्ण की रेखा हो सकती है ।

२ अरुचि, शिर शूल, शिर चकराना और दुर्बलता होना, ये लक्षण होते हैं ।

३ कभी-कभी शूल और विरेचन होता है । पाण्डुरोग हो जाता है ।

४ त्वचा कामला के समान पीली होती है, मूत्र तथा स्वेद का वर्ण हरापन लिए होता है ।

५ कभी-कभी पक्षाधात जैसे लक्षण हो जाते हैं ।

घातक मात्रा—नीला तूतिया—२५ ग्राम ।

घातक काल—४ घण्टे में ३ दिन ।

चिकित्सा

१ ५ प्रतिशत के पोटैशियम फेरो सायनाइड (Potassium ferro cyanide) के घोल से आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए । इससे क्यूप्रिक फेरोसायनाइड नामक अघुलनशील योग बनता है और वमन होने से विष निकल जाता है ।

२ प्रतिविष के रूप में दूध और अण्डे की सफेदी देनी चाहिए । इनसे अल्ब्यु-मिनेट ऑफ कॉपर बनता है, जो अघुलनशील योग है । इसके बाद एरण्डरूल पिलाकर विरेचन कराना चाहिए ।

३ पीड़ा की अधिकता में मार्फिया का इन्जेक्शन देना चाहिए ।

४ मूत्रल औषध देवे और लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करे ।

जीर्णविष की चिकित्सा में मर्वप्रथम कारण का निवारण करे । रोगी को शुद्ध वातावरण में रखे और शामक, स्निग्ध, दुग्ध-दृत प्रधान आहार दे । उपगोग में लाये जाने वाले पात्रों में कलई कराना चाहिए ।

वक्तव्य : विष-प्रयोग के मार्ग

- १ मुखमार्ग से —भोजन के साथ या पेय पदार्थ के साथ ।
 - २ श्वसनमार्ग से—धूल, धुआं, वाष्प, गैस या नस्य के साथ ।
 - ३ शारीरिक छिद्र—गुदा, योनि, नामिका, कर्ण तथा रोमकूपों से ।
 - ४ त्वचा द्वारा—अभ्यङ्ग, उबटन, लेप आदि के माथ ।
 - ५ धत द्वारा—धाव होने से, क्षत-विक्षत होने से तथा सड़न से ।
 - ६ पेशी-सिरा—सूचीवेध के समय विष का सक्रमण होने से ।
- शरीर में पहुँचे हुए विष के नि सरण के माध्यम मूत्रोत्सर्ग, मलोत्सर्ग, लालास्त्राव, स्वेद, वाष्प आदि हैं ।

विषाक्तता में प्रभावकारी तत्त्व

- १ विष की गुणवत्ता का तीव्र या मन्द प्रभावकारी होना ।
- २ विष की गुणवत्ता के अनुसार मात्राधिक्य ।
- ३ विष के प्रयोग का प्रकार ।
- ४ विष का शरीर में सञ्चयन ।
- ५ आक्रान्त व्यक्ति का स्वास्थ्य और आयु ।
- ६ आक्रान्त व्यक्ति का मनोवल, प्रकृति और व्यक्तित्व ।

विषाक्तता का निदान

- १ रुग्ण के परिजनों से, मित्र और सहचरों से उसकी आदत, नशा-सेवन और खान-पान आदि के बारे में पूछकर उभका इतिहास जानना चाहिए ।
- २ रुग्ण के पास उपस्थित खाद्य, पेय, पात्र, गिलास, सीसी, औषध, पान-सुर्ती, जर्दा, तम्बाकू आदि सहेजकर नोट कर ले जिसमें आवश्यक होने पर उन सबका परीक्षण किया जा सके ।
- ३ रोगी के श्वास की गत्थ या उपयोग में लायी जानेवाली अन्य वस्तुओं की गत्थ आदि से अनुमान किया जाना चाहिए ।

प्रत्यक्ष परीक्षा

रोगी किस वर्ग या किस कोटि के विष से ग्रस्त है, इसका सही अनुमान रोगी की सूक्ष्म शारीरिक परीक्षा करने पर ही हो सकता है । विष की आशङ्का होने पर रोगी की परीक्षा सम्पूर्णतया सावधानीपूर्वक करनी चाहिए । अनेक विषों के कुछ लक्षण ऐसे मामान्य होते हैं, कि निर्णय करना कठिन होता है, फिर भी उन-उन विषों से होनेवाले विशेष लक्षणों के आधार पर अनुमान करना चाहिए ।

१. तत्काल मारक—पोटैशियम साइनाइड, हाइड्रोसायनिक एसिड, कार्बन मोनोक्साइड, कार्बन-डाई-आक्साइड, आग्जेलिक एसिड इत्यादि ।

२. मूच्छकारक—मध्य, अफीम, क्लोरल हाइड्रेट, क्लोरोफार्म और कर्पूर आदि के विष-प्रभाव से मूच्छी होती है ।

३ हृदयावसाद—तीव्र अम्ल या क्षार, वत्सनाभ, नीलाञ्जन, फेनाश्म, तमाल-पत्र, एण्टी-पायरिन, एण्टी-फेविन आदि की अन्तिम अवस्था में होता है।

४ प्रलाप—धूरा, भाँग, वेलाडोना, मध्य, खुरासानी अजवायन तथा कर्पूर के विषाक्त प्रभाव से प्रलाप होता है।

५ पक्षाधात—वत्सनाभ, फेनाश्म, नाग आदि के प्रभाव से होता है।

६. तारा-प्रसारण (पुतली फैलना)—यह धूरा, वेलाडोना, खुरासानी अजवायन की प्रथमावस्था, अहिफेन तथा वत्सनाभ की अन्तिम अवस्था और मध्य एवं क्लोरोफार्म के विषाक्त प्रभाव के कारण होता है।

७ त्वचा-शुष्कता—यह धूरा, वेलाडोना तथा खुरासानी अजवायन के प्रभाव से होती है।

८ त्वचा की आद्रता—यह अहिफेन, वत्सनाभ, मध्य, नीलाञ्जन तथा तमाल-पत्र आदि से उत्पन्न हृदयावसाद की अवस्था में होती है।

९ मुखस्वेद—यह रम्पकर्पूर, दाहक अम्ल और क्षार के विपैले प्रभाव के कारण होता है।

१० वमन—यह लक्षण प्राय फेनाश्म, नीलाञ्जन, डिजिटैलिस, वत्सनाभ, अमोनिया, फॉस्फोरस आदि के विषाक्त प्रभाव से देखने में आता है।

विषाक्तता की सामान्य चिकित्सा

१ शरीर से विष को निकालने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए आमाशय-प्रक्षालन करना चाहिए, वमन कराने की औपध देकर वमन कराना चाहिए तथा विरेचन करने वाली औपध का प्रयोग कर विरेचन कराना चाहिए।

२ शोषित विष को निर्विष करने के लिए प्रतिविष का प्रयोग करना चाहिए। यदि आमाशय-प्रक्षालन करने के लिए रबर या आमाशय-नलिका (Stomach tube) का प्रयोग किया गया हो, तो उसको आमाशय से निकालने के पहले इसी नलिका द्वारा प्रतिविष को आमाशय में प्रविष्ट करा देना चाहिए। अधिकतर प्रतिविष का प्रयोग मुख से या सूचीवेघ द्वारा किया जाता है।

३ विषनिष्कासन एवं निर्विषीकरण आदि तत्काल करना चाहिए।

४ अन्य जो लक्षण प्रकट हो उनकी रोगानुसार चिकित्सा करे।

षष्ठ अध्याय

दंशजनित विकार और उनका प्रतिकार

कुछ प्राणियों के मुख या उदर में रोगोत्पादक जन्तु रहते हैं। जब ये प्राणी रक्त चूसने के लिए मनुष्य को काटते हैं, तो उनके मुख से थूक द्वारा ये जन्तु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और वे भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं।

मच्छरों की एक विषेली जाति है, जो एनाफलीज कही जाती है। इस जाति के मच्छरों के मुख और पेट में मलेरिया या विपम ज्वर के उत्पादक जन्तु रहते हैं। ये मच्छर प्लाज्मोडियम (Plasmodium) जाति के मलेरियाजनक जन्तुओं का मनुष्यों से सबहन, प्रसार और उपसर्ग फैलाते हैं। जब एनाफलीज मच्छर काटते हैं, तो ये जन्तु शरीर में पहुँच जाते हैं और वहाँ जाकर बढ़ते हैं और फिर मलेरिया ज्वर उत्पन्न करते हैं।

कालाजार (Kala-azar)

परिचय—यह एक सक्रामक ज्वर है, जिसमें तीव्र या मन्द ज्वर, कृशता, क्षीणता, कृष्णवर्णता आदि लक्षण होते हैं। यह अधिकतर वगाल, आमाम और मदास आदि प्रान्तों में होता है। इसका उत्पादक कारण लीशमान डोनोवान वाडी (Leishman donovan body) नामक जन्तु है, जिसका प्रसार सैण्डफ्लाई (वालू-मक्खिका) के दश से होता है। इस मक्खिका के काटने से कालाजार जन्तु शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

अफीका देश में होनेवाला अतिनिद्रा रोग एक विशेष जाति की मक्खियों के काटने से होता है, जिनके मुख में अतिनिद्राजनक जन्तु रहते हैं। जब ये मक्खी काटती है तो ये जन्तु मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते हैं।

दक्षिण अमेरिका और अफीका के देशों में होने वाला भयानक पीतज्वर (पीला बुखार) एक विषेली जाति के मच्छरों के काटने से होता है।

श्लीपद (Filaria)—रोगजनक फाइलेरिया बैन्क्राफ्टी (Filaria bancrofti) नामक जन्तु का प्रसार क्यूलेक्स (Culex) जाति की फैटिगान्स (Fatigans) नामक मच्छरों द्वारा होता है।

प्रनिधक ज्वर (Plague)—एक तीव्र औपसर्गिक ज्वर है। यह महामारी के रूप में फैलकर धातक रूप पकड़ लेता है और हजारों लोग इसके आगोश में पड़कर मृत्यु का वरण करने को भजबूर हो जाते हैं। इस रोग का मुख्य कारण प्लेग-दण्डाण (बैटिलस पेस्टिस —B Pastis) है, जिसका सचाहक पिस्सू होता है। पिस्सू एक छोटा शून्या—फुदकनेवाला विषेला जन्तु है। पिस्सू के शरीर में असर्व प्लेग

दण्डाणु होते हैं। अनुकूल देश-काल-परिस्थिति होने पर पिस्सू के आक्रमण से चूहे पीड़ित होते हैं और चूहों के शरीर पर झुण्ड में पिस्सू रहने लगते हैं। फिर चूहों की भाग-दौड़ से घर-गाँव के अन्य चूहे भी पिस्सूवाहक हो जाते हैं। जब वहसूखक चूहे मरने लगते हैं तो पिस्सू मनुष्यों पर आक्रमण करने लगते हैं। एवं पिस्सुओं के काटने से प्लेग के दण्डाणु मानव शरीर में प्रविष्ट होकर प्लेग पैदा करते हैं।

पागल कुत्ते या सियार के काटने से बहुत से मनुष्यों को अलर्कविष रोग हो जाता है, जिसे फोविया या जलसन्त्रास कहते हैं। इस रोग के जन्तु पागल कुत्ते या सियार के थूक मेरहते हैं।

इन दंशजन्य रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा उन-उन रोगों के वर्णन के प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है।

सर्पदंशजनित विकार और उपचार

जगम विषों में सर्पविष अति भयङ्कर और प्राणहर होता है। चलने-फिरने वाले प्राणियों के विष को जगमविष कहते हैं। सर्प के दाँत में विष होता है, इसलिए इसे दप्टाविष (दाँत में विषवाला) कहते हैं। वस्तुतः सर्प के दाँतों में विष नहीं होता, अपितु उसके ऊपर के चौथड (रालु-प्रदेश) में दो दाँत पाये जाते हैं। उन दाँतों के पास एक विशेष थैली होती है, उसी में विष रहता है। ये दाँत कुछ मुड़े हुए-से होते हैं। जब सर्प काटता है तब उसका दाँत मनुष्य की त्वचा या मासपेशी में छोस जाता है। उस दाँत को निकालने के लिए सर्प अपना गला ऊपर करके झटके से खीचता है, इस समय विष की थैली सकुचित हो जाती है, जिससे विष निकलकर दशन्त्रान में पहुँच जाता है।

सर्प व्यों काटते हैं ?

सर्प स्वभाव से भीह होते हैं और बहुत आलसी होते हैं। जब वे पैर से दब जाते हैं या मारने पर कुद्द हो जाते हैं तब काटते हैं। वे सोते-जागते, चलते-फिरते, झाड़ी-जगल, कूड़े-कत्तवार, खण्डहर, वृक्ष के कोटर, धास-फूस से निकलकर आक्रमण कर देते हैं। सचमुच का सांप का काटा व्यक्ति आयुशेष रहने पर ही कदाचित् जीवित बच जाता है। जैसे मनुष्यों के शरीर में शुक्रधातु सर्वशारीरव्यापी होता है, उसी तरह सर्प के समस्त शरीर में विष व्याप्त रहता है और जब वह कुद्द होता है, तो विष समूचे शरीर से आकृष्ट होकर विषदन्त में चला जाता है एवं काटने पर दब्ट व्यक्ति के दश में प्रविष्ट हो जाता है।^१

सर्प की जातियाँ

भारतवर्ष में प्राय ३३० प्रकार के सर्प पाये जाते हैं। इनमें से ६१ प्रकार के सर्प ही विषैले होते हैं। इन विषैले सर्पों की ४० जातियाँ भूमि पर रहने वाली और

^१ शुक्रवत् सर्वसर्पणा विष सर्वशरीरगम् ।

कुद्दानामेनि चाङ्गेभ्य शुक्र निर्मन्थनादिव ॥

तैपा बटिशवद् दप्टास्तासु सज्जति चागतम् ।

अनुदृश्यता विष यस्मात् मुञ्चन्ति च भोगिन ॥ सु० क० ३२८-२९

२९ जातियों के सर्प समुद्र में पाये जाते हैं। इस प्रकार केवल ४० जातियों के सर्प ही मनुष्य को काटते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने पाँच प्रकार के सर्पों का उल्लेख किया है—१. दर्वीकर, २. मण्डली, ३. राजिमान, ४. निर्विष और ५. बैकरञ्ज।

लक्षण

दर्वीकर सर्प—चक्र, हल, क्षत्र, स्वस्तिक, अकुश का चिह्न धारण करनेवाले, फणयुक्त और शीघ्रगामी होते हैं।

मण्डली सर्प—अनेक प्रकार के मण्डलों से चित्रित, मन्द गतिवाले, अग्नि और सूर्य के समान कान्तिवाले होते हैं।

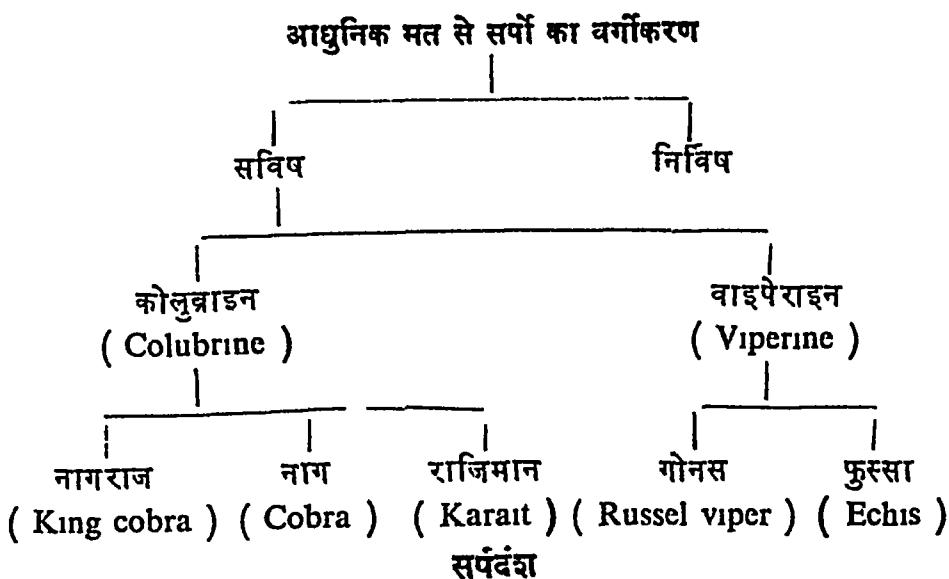
राजिमान सर्प—नानावर्ण की चिकनी, तिरछी ऊर्ध्वगामी रेखाओं से युक्त एवं चित्रित होते हैं। ये तीनों क्रमशः वात, पित्त और कफ को प्रकुपित करते हैं।

निर्विष सर्प—विषरहित होते हैं, इसलिए इनका चिकित्सा की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

बैकरञ्ज सर्प—यह सङ्कर जाति से उत्पन्न होते हैं। इनके दण्ड में मिश्रित चिकित्सा की जाती है। अत मूलत दर्वीकर, मण्डली और राजिमान—ये तीन प्रकार मुख्य हैं।

सर्पों का वर्गीकरण

सर्विष		निर्विष	
दर्वीकर (फणवाले)	मण्डली (अल्प फणवाले)	राजिमान (फणविहीन)	बैकरञ्ज
शीघ्रगामी	मन्दगामी		
चक्र-हल-क्षत्र- अकुश-स्वस्तिक- धारी	मण्डलाकार चक्ते- युक्त सूर्य जैसे चमकीले	विविध रग की रेखाओं से युक्त	ये दर्वीकर, मण्डली एवं राजिमान सर्पों की सकर सन्तानें हैं।
वातप्रकोपक दिन में सचारी	पित्तप्रकोपक प्रदोय-विचरणशील	कफप्रकोपक रात्रि के अन्तिम प्रहर में सचारी	श्लिष्टोषप्रकोपक मिश्रित आकृति एवं प्रकृतिवाले
तरुणावस्था में घातक	वृद्धावस्था में घातक	मध्यम आयु में घातक	मिश्रित स्वभाव वाले



सर्प काटने से जब दशस्थान मे विष प्रवेश कर जाता है तो वह बड़ा ही तीक्ष्ण और शीघ्र प्रभावकारी असर करता है। वह विजली और आग की लपट की तरह झपट वारा-न्यारा करनेवाला और तलवार की धार की तरह आशु परिणामकारी होता है।

दर्वीकर सर्प के दंश के लक्षण

इसके विष से त्वचा, नख, नेत्र, दाँत, मुख, मूत्र, मल और दशस्थान काले पड़ जाते हैं। रुक्षता, शिर मे भारीपन, सन्धियो मे वेदना, कटि, पृष्ठ ग्रीवा मे दुर्वलता, जम्भाई आना, कम्पन, गला बैठना, गले मे घरघराहट, जड़ता, शुष्क डकार, कास, श्वास, हिक्का, वायु का ऊपर की ओर जाना, शूल, ऐठन, प्यास, लालास्त्राव, मुख से ज्ञाग आना, स्रोतो का वन्द होना और बातज अनेक प्रकार की वेदनाएँ होना—ये लक्षण होते हैं।

मण्डली सर्प के दंश के लक्षण

मण्डली सर्प के विष के प्रभाव से त्वचा, नख, मल-मूत्र आदि का पीला पडना, शीत की इच्छा होना, सर्वाङ्ग मे सन्ताप होना, दाह, प्यास, मद, मूच्छा, ज्वर, रक्त की ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग से प्रवृत्ति, मास का फटना, शोथ, दशस्थान का सडना, पीले रूपो को देखना, शीघ्रता से विष का प्रकोप होना और पित्तजन्य नाना प्रकार की वेदनाएँ होना—ये लक्षण होते हैं।

राजिमान सर्प के दंश के लक्षण

राजिमान सर्प के विष के प्रभाव से त्वचा, नख आदि श्वेत हो जाते हैं, शीत लगकर ज्वर होता है, रोमहर्ष, अगो मे जडता, दशस्थान के चारों ओर सूजन, घने कफ का मुख मे गिरना, वार-बार वमन, नेत्रो मे कण्ढू, गले मे शोथ और घरघराहट, श्वासावरोध, ऑखो के सामने बैधेरा छा जाना और कफजन्य अनेकविध पीड़ाएँ होना —ये लक्षण होते हैं।

कोलुब्राइन जाति के सर्पं अपने विष से हृदय-विस्तृति (Dilatation of the heart), श्वासकृच्छ्र् एव शोथ उत्पन्न करने के साथ रक्तवहस्थान की क्रिया को पूर्णतः बन्द कर देते हैं, परिणामस्वरूप रोगी की मृत्यु प्राय ३० मिनट के भीतर हो जाती है।

वाइपेराइन जाति के सर्पं का विष रक्तस्राव, रक्तवाहिनियों में स्राव, हृदगति-मन्दता और हृदयावसाद से रोगी की मृत्यु कर देते हैं। मृत्यु होने के समय की सीमा रक्त की अवस्था पर निर्भर है।

सभी सर्पों के विष के लक्षण विष के सात वेगों के अनुसार होते हैं।

सर्पदंश के सात वेगों के वेगानुसार लक्षण

दर्वीकर	मण्डली	राजिमान
(वातप्रकोपक)	(पित्तप्रकोपक)	(कफप्रकोपक)
१ रक्तविकार, कृष्णवर्णता, त्वचा पर चीटी रेगने का आभास ।	रक्तविकृति, पीलापन, शीतज्वर	रक्तविकार, पाण्डुवर्ण रीमहर्प ।
२ मास मे प्रवेश, अति-कृष्णता, शोथ और गॉठों का निकलना ।	मास मे प्रवेश, अति-पीलापन, दाह एव दशस्थान मे शोथ ।	मास मे शिथिलता, शिर मे शोथ, जड़ता ।
३ मेदोदुष्टि, दश से स्राव, शिरोगीरव, स्वेदागम, तन्द्रा ।	मेद प्रवेश, तन्द्रा, तृष्णा, दश से स्राव एव स्वेदनिर्गमन ।	मेदोदुष्टि, तन्द्रा, दश से स्राव, स्वेदागमन ।
४ कोष्ठ-प्रवेश, कफप्रधान दोषों की दुष्टि, आलस्य सन्धि-विश्लेष ।	कोष्ठ-प्रवेश, ज्वरवृद्धि ।	कोष्ठ-प्रवेश, शिरोगीरव, मन्त्यास्त्रेम्भ ।
५ अस्थि मे प्रवेश, प्राणवायु तथा जठराग्नि का दूषित होना, हिचकी, दाह तथा पर्वभेद होना ।	शरीर मे ज्वाला प्रतीत होना ।	बाणी की रुकावट और शीतज्वर ।
६ मज्जादुष्टि, ग्रहणीविकार, मूच्छी, भारीपन, अतिसार, हृदयशूल ।	दर्वीकर के समान	दर्वीकर के समान
७ शुक्रधातु मे प्रवेश, व्यानवायुकोप, सूक्ष्मसिराओं से कफ का स्राव, कमर और पीठ मे दूटन, चेष्टानाश, लालास्रावाधिक्य, स्वेदातिप्रवृत्ति और श्वासनिरोध ।	दर्वीकर के समान	दर्वीकर [*] के समान

सर्पदंश की असाध्यता

अजीर्ण, पित्त और धूप से पीड़ित व्यक्तियों में, बालकों में, वृद्धों में, बुभुक्षितों (भूखों) में, क्षतक्षीण, प्रमेह एवं कुष्ठपीडितों में, रुक्ष तथा निर्बल व्यक्तियों और गर्भवती स्त्रियों में सर्पविष असाध्य होता है।^१

जिसका मुख टेढ़ा हो जाय, जिसके बाल गिर जाये, जिसकी नासा टेढ़ी हो जाय, जिसे स्वरभग हो, जिसके दशस्थान में लालिमायुक्त कृष्णवर्ण का शोथ हो और जिसे हनुस्तम्भ हो गया हो, वह असाध्य होता है। जिसके मुख से भोटी बत्ती जैसी लाला का स्राव हो, जिसे ऊर्ध्व एवं अध दोनों भागों से रक्तस्राव हो रहा हो, जिसके दशस्थान पर चार दाँतों के चिह्न हो, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। जो उन्मत्त हो, अत्यधिक उपद्रव युक्त हो, विकृत स्वर एवं वर्ण का हो, जिसमें अरिष्ट के लक्षण हो, जिसमें मल-मूत्र प्रवर्तन के वेग की शक्ति और गमनागमन की शक्ति न हो, वह असाध्य होता है।^२

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा

जिस स्थान में सर्प होने की सभावना हो, उस स्थान को बचाकर अन्य मार्ग से यात्रा करे। किसी खोह में, ढौंके गर्त में, घास-फूस की ढेर में और अज्ञात खड़हर या भूसा आदि के ढेर में हाथ-पैर नहीं डालना चाहिए। अन्धेरे में बरसाती मौसम में, पहली वर्षी की ऊमस भरी रात में, नगे पाँव बिना टार्च जलाये नहीं चलना चाहिए। सोने के पूर्व विस्तर-चादर-ओढ़ना आदि को झाड़ लेना चाहिए। जूता आदि एवं पहनने के वस्त्र भी झाड़कर पहने। शयन-स्थल की जमीन या दीवार में छिद्र न हो, दरवाजे के पत्ले ठीक से सटाकर बन्द करने लायक हो तथा जगले और रोशनदान पर महीन जाली लगी होनी चाहिए। सोने के पूर्व कीटनाशक अग्रखत्ती या जन्तुघ्न धूप जलाना चाहिए। निवास-स्थान एवं शयन-स्थान में चूहे नहीं होने चाहिए। दिन में छाता लेकर और रात में झर्जर (फटा हुआ वाँस का डण्डा जिसको जमीन पर पटकने पर झर्जर की धवनि निकले) को हाथ में लेकर चलना चाहिए। छाता की छाया देखकर तथा रात में झर्जर शब्द सुनकर सर्प डर कर भाग जाते हैं।^३

सर्पदंश-विषाक्रान्त के चिकित्सासूत्र

१ मन्त्र, २ अरिष्टाबन्धन, ३ उत्कर्तन, ४ निष्पीडन, ५ चूपण, ६ अग्निकर्म, ७ परिषेचन द अवगाहन, ९ रक्तमोक्षण, १० वमन, ११ विरेचन, १२

¹ अजीर्णपित्तातपयीडितेषु बालेषु वृद्धेषु दुमुक्षितेषु।

क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रुक्षेऽवले गर्भवनीषु चापि ॥ मा० नि० विपनिदान।

² सु० क० ३।४?—४४

³ इत्री झर्जरपाणिश्च चरेद् रात्रौ तथा दिवा।

तच्छायाशब्दविवृत्ता प्रणश्यन्त्याशु पन्नगा ॥ चरक० नि० २।२५०

उपधान, १३ हृदय औपध, १४ अञ्जन, १५ नस्य, १६ धूम, १७ अवलेह, १८ औषध, १९ प्रशमन, २० प्रतिसारण, २१ प्रतिविप, २२ सज्जास्थापन, २३ लेप, २४ मृतसजीवन—इनका प्रयोग आवश्यकता और मुविधानुसार करना चाहिए।

सर्पदंश-निवारण के उपाय

हीरा, पन्ना, पुखराज, पद्मराग, सर्पमणि, वैदूर्य गजमुक्ता, गरमणि तथा विषध्न औषधों (शिरीपबीज आदि) को धारण करना चाहिए। निवास-गृह में तोता-सुगा, क्रीच्च, हस, मोर आदि पालना चाहिए। इन पक्षियों को सर्प होने का पूर्वभास होने पर ये शब्द करते हैं। साथ ही इन्हे भोजन खिलाकर आहार से सविष या निविष होने का परीक्षण किया जाता है।

तत्कालिक सर्पविषध्न चिकित्सा

१ सर्प के काटने पर यदि सभव हो तो पुरुप को चाहिए कि दीड़ाकर उस सर्प को दाँतों से काटे अथवा मिट्टी के ढेले को दाँतों से काटे।

२ सर्पदंश के स्थान के चार अंगुल ऊपर रस्सी-सूत-रबर आदि से कसकर बांधे, जिससे रक्त-सवहन अवरुद्ध हो जाये।

३ काटे हुए स्थान को चाकू से चीरकर रक्तसाव कराकर आग से जला देना चाहिए।

४ रक्त न निकलने पर आचूषण करके रक्त निकालना चाहिए। इसके लिए ब्रीस्ट पम्प, रवर-ट्यूब, शृग आदि का प्रयोग करे। यदि मुख से चूसना हो तो मुख में कपड़ा या रुई रखकर चूसे। यह रुई या कपड़ा मुख और शृग छिद्र के बीच में रहना चाहिए।

५ यदि विष समस्त शरीर में व्याप्त हो तो शिरावेद्ध करके रक्त निकाले।

६ काटे हुए स्थान को शिरीप, मदार, धतूरा आदि के ब्वाथ से सिञ्चित करे।

७ दशस्थान को पाछकर उसमें पोर्टेशियम परमेग्नेट डालना चाहिए।

८ दष्टस्थान का छेदन कर प्रक्षालन करे, फिर उस पर घिसा हुआ कुचला या जमालगोटा या अणुद्ध वत्सनाभ विष का लेप या शिरीष, मदार या स्नुहीकाण्ड का कल्क लगाना चाहिए।

९ बेहोशी में चन्द्रोदयावर्ती घिमकर अञ्जन लगाये। अथवा —

१० कट्टफल की छाल के वारीक चूर्ण का नस्य सुँवाये।

११ गले में कफ जमने से अवरोध प्रतीत हो, तो पातालगृहड़ी की ७ पत्ती और मस्त्रि ११ दाना पीसकर पिलावे या कवलधारण करावे।

आघुनिक चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार उपचार

१ यदि हाथ या पैर की अँगुली या किसी अन्य लघु अवयव में दश हो, तो मम्भव होने पर तत्काल उसे काट कर शरीर से अलग (Amputation) कर दे।

२ यन्त्र द्वारा विष के आचूषण का प्रयत्न करना चाहिए।

३ दंश के तत्काल बाद दंशस्थल के ऊपर दो जगहों पर रसीया या रवर की नली या पतले कपड़े से कसकर बाँधे, जिससे धमनीगत रक्तप्रवाह बन्द हो जाये फिर दंशित स्थान के समीप ही किसी सिरा को काटकर स्वच्छन्दतापूर्वक रक्तस्राव कराये।

४ दंशित स्थान के चारों ओर सूचीवेध द्वारा कार्बोलिक साबुन का ५% घोल ५ सी० सी० की मात्रा में प्रविष्ट करे।

५ दंश के बाद यथासम्भव शीघ्र ही काटे हुए सर्प के अनुसार ऐण्टीवेनम सीरम (Anti-venom serum) १०० सी० सी० की मात्रा में सिरामार्ग (Intravenously) से सूचिकाभरण करना चाहिए।

६ लेक्सिन (Lexin) का सूचीवेध लभदायक होता है। इसका स्थानिक या नासिका द्वारा या सूचीवेध द्वारा प्रयोग किया जाता है।

७ यदि सर्प की जाति का ठीक ज्ञान हो जाय, तो विशिष्ट प्रतिविप (Anti venom) का प्रयोग करना चाहिए।

८ तेज दर्द होने पर पेशीडीन का इञ्जेक्शन दे। डायजेपाम या वार्विट्यूरेट का प्रयोग भी वेदनाशामक है।

९ टिटेनस से बचने के लिए एण्टी टिटेनस सीरम (A T S) देना चाहिए।

१० तीव्र रक्तस्राव से रक्षा के लिए रक्त का शिरागत इञ्जेक्शन (Blood transfusion) देना चाहिए।

११ रोगी को सोने नहीं देना चाहिए और शीत से बचाना चाहिए।

१२ उपद्रवों के अनुसार अन्य उपचार सावधानी से करते रहे, जैसे—गले में कफ न जमाने देने के लिए बमन कराये। कोलैप्स (Collapse) की उपयुक्त चिकित्सा करे।

१३. आसावरोध की स्थिति में ऑक्सीजन (Oxygen) का प्रयोग करे।

१४ जलात्पत्ता (Dehydration) होने पर सभी मार्गों से यथेष्ट जल का प्रयोग कराये।

१५ सज्जाप्रबोधनार्थ हृद्य औषध दे और तीक्ष्ण अजन या नस्य दे। आवश्यकतानुसार ग्लुकोज एवं कोरामीन का प्रयोग करे।

वृश्चिक दंश और उसका उपचार

कह काले-भूर रग का विषैला जीव प्राय ५ मिलीमीटर लम्बा होता है। इसे विच्छी या विच्छू कहते हैं। यह पुच्छयुक्त होता है। उनके पुच्छ में कई पर्व या गाँठे होती हैं। पुच्छ का अन्तिम भाग ऊपर की ओर मुड़ा होता है, जिसमें काँटा-सा तुण्ड, आल या टॉड होता है। विच्छू इसी तुण्ड से डक मारता है और डक के माघ्यम से प्राणी के शरीर में विष का सचार करता है। विच्छू के डक मारने को 'विच्छी मारना' कहते हैं। यह दंश नहीं करता है अपितु विद्व करता है।

वेगानुसार सर्पविष-चिकित्सा-सारणी

वेग	दर्वीकर सर्प	मण्डली सर्प	राजिमान सर्प
प्रथम	रक्तमोक्षण	रक्तमोक्षण	तुम्बी लगाकर रक्तमोक्षण, मधु, घृत, अगदपान
द्वितीय	मधु, घृत, अगदपान	मधु, घृत, अगद- पान पश्चात् यवागू विरेचन देकर शोधन तथा	वमन, अगदपान
तृतीय	विषनाशक नस्य, अञ्जन	यवागूपान दर्वीकरवत्	दर्वीकरवत् दर्वीकरवत्
चतुर्थ	वमन कराकर विषध्न यवागूपान	दर्वीकरवत्	दर्वीकरवत्
पंचम	शीतल उपचार	दर्वीकरवत्	तीक्ष्ण अञ्जन
षष्ठ	विरेचन, पश्चात् यवागू पूर्वोक्त उपचार	काकोत्यादि मधुर- गण या अगदपान	नस्य
सप्तम	तीक्ष्ण अञ्जन, नस्य, तीक्ष्ण शस्त्र से शिरपर काकपद (+) बनाकर उस पर रक्तमिश्रित मास रखे।	अगद, अवपीड- नस्य	नस्य

उत्पत्ति-भेद से वृश्चिक के तीन प्रकार

(१) गोबर-गोहरी आदि के सडने से उत्पन्न होनेवाले वृश्चिक मन्दविष होते हैं, (२) इंट और लकड़ी की सडन से उत्पन्न मध्यमविष और (३) सर्प के शव की सडन से उत्पन्न होनेवाले महाविष होते हैं।

वृश्चिक-विद्ध के लक्षण

बिच्छू जिस कोटि का होता है, उसके विद्ध में उसके अनुसार लक्षण पाये जाते हैं। सामान्यत बिच्छी मारने की जगह आग से जले हुए के समान जलन होती है। भेदनवत् पीड़ा की पराकाष्ठा होती है। विष का वेग शीघ्र ही ऊपर की ओर चढ जाता है। बिच्छी के विष का प्रभाव नाड़ी-स्थान पर होता है, जिससे हृदय, नासिका, जिह्वा आदि अगो में कम्प, स्तम्भ, शून्यता, कमजोरी, लालासाव, मिचली, वमन, मासपेशियो में ऐठन आदि लक्षण होते हैं। सार्वदेहिक लक्षणो में मन्दज्वर, उदर में भयकर शूल तथा अतिसार आदि लक्षण होते हैं। नाडीमण्डल के

अधिक प्रभावित होने पर सर्वाङ्ग में न्यौदागम और पेशियों में उद्वेष्टन (Muscular cramps) आदि होता है। ये ऐंठने अधिकतर गले तथा अधोहनु की पेशियों में दृष्टिगोचर होती हैं।

असाध्य लक्षण

प्राणहर विच्छी के मारने से मनुष्य के हृदय, नासिका और जिहा अपनामना कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। जिस स्थान में विच्छी डक मारता है उस स्थान ने मान कट-कट कर गिरने लगता है और वहाँ पीड़ा की असह्य व्यथा होती है, जिसके कारण विद्व व्यक्ति को श्वानावरोध तथा सन्याम (Coma) होकर मृत्यु हो जाती है। तीन वर्ष में कम उम्र के बच्चों को विच्छी मारने पर हृदय एवं श्वान-क्रिया के बन्द होने से मृत्यु का भय रहता है।

चिकित्सा

१ यदि हाथ-पैर या अँगुली में विच्छ ने डक मारा हो, तो डक के स्थान से ४ इंच ऊपर एक टूर्नीक्वे (Tourniquet) या रबर या रस्सी अथवा कपड़ा कसकर बांध देना चाहिए और विद्व-स्थान पर ब्लेड से चीरा लगाकर रक्त-विष दवाकर बाहर निकाल दें।

२ विद्व-स्थान पर बर्नोल (Burnol), लाइकर एमोनिया फोर्ट (Liquor ammonia forte) या स्पिरिट लगाना चाहिए।

३ कोकेन या नोबोकेन का स्थानिक प्रयोग करें। नोबोकेन का २% का घोल बनाकर पिचकारी से मूचीवेष्ट के द्वारा विद्व के आम-नाम प्रक्षिप्त कर देने से वहाँ की नावेदनिक नाड़ियाँ सज्जाहीन हो जाती हैं और वेदना की प्रतीति नहीं होती।

४ तारपीन का तेल, स्पिरिट, टिक्चर आयोडीन एवं सरसों के तेल का मिश्रण कर मालिश करने से वेदना का शमन होता है।

५ अमोनियम फोर्ट के फाहे का प्रतिसारण करना (वार-वार पोछना) लाभप्रद होता है।

६ पोटीशियम परमैग्नेट और साइट्रिक एसिड का चूर्ण अलग-अलग ले। विद्व स्थान पर पट्टे पोटीशियम परमैग्नेट का थोड़ा चूर्ण बुरक दे, बाद में उसके ऊपर नाइट्रिक या टार्टरिक एमिड का चूर्ण डाले, फिर उस पर दोन्तीन बूँद जल डाले। इससे वहाँ एक उभार-सा बनेगा और विष का असर जाता रहेगा।

७ विद्वस्थल पर पोटाश के कुछ दाने रखकर उस पर एक-दो बूँद नीबू का रस टपकाने से भी विष-वेदना का शमन होता है।

८ आशिक सज्जाहरण के लिए ब्लोरोफार्म सुंघाना भी लाभकर है। इससे रोगी को पीड़ा की अनुभूति जाती रहती है।

९ उत्तेजक औषध के रूप में स्पिरिट अमोनिया एरोमेट, ब्राण्डी अथवा कोरामीन का प्रयोग किया जा सकता है।

१० तिर्यक् (Tiryak) और लेक्सिस (Lexis) के प्रयोग लाभकर हैं ।

११ हल्दी, सेधानमक, सोठ, मरिच, पीपर और शिरीप के फल या फूल के समभाग के चूर्ण का विद्ध स्थल पर घर्षण करना चाहिए ।

१२ तुलसीपत्र को गोमूत्र में पीसकर लेप करे ।

१३ चीनी का मीठा शर्बत, अधिक चीनी डाला हुआ दूध अथवा गुड़ के गाढ़े शर्बत में दालचीनी, छोटी लाइची, नागकेशर, तेजपात के चूर्ण का (३ ग्राम की मात्रा में) प्रक्षेप डालकर पिलाना हितकर है ।

१४ मोर और मुर्गे का पख, सेधानमक, तिल का तेल और धी सभी को एक में मिलाकर विद्ध स्थान का धूपन करना लाभप्रद होता है ।

१५ अपराजिता या अपामार्ग की पत्ती पीसकर गरम कर लेप करे ।

१६ जमालगोटा या निर्मली पत्थर पर घिसकर लेप लगाये ।

१७ गुलाबजल में सेधानमक घोलकर आँखों में डाले ।

१८ मदार के दूध का या उपके पंत्रस्वरस का नस्य दे ।

१९ अमोनिया गैस सुँघाना चाहिए । अथवा—

२० कट्टफल की छाल का वारीक चूर्ण कर उम्का नस्य देना चाहिए ।

अलर्क पिष

(Rabies)

पर्याय और परिचय—इसे रेबीज, हाइड्रोफोविया, जलसत्रास और अलर्क विष, श्वानविप आदि नामों से जाना जाता है । यह एक तीव्र सक्रामक रोग है, जो पागल कुत्ता, गोदड आदि प्राणियों के काटने से मनुष्यों को हो जाता है ।

निदान

कुत्ता, सियार, बन्दर, लोमड़ी, भेड़िया, बिल्ली, सूअर तथा रीछ आदि प्राणियों के काटने से यह रोग होता है । विशेषकर मनुष्यों में कुत्ते या सियार के काटने से यह देखा जाता है । जब कुत्ता या सियार आदि पागल हो जाते हैं तो उनके लाला में इसके विषाणु होते हैं, और वह जब मनुष्यों को काटता है, तब दश के क्षत द्वारा कुत्ते की लार का विषाणु मनुष्य के शरीर में पहुँच जाता है । क्षत जितना ही गम्भीर द्वेष, रोग के उतना ही गम्भीर होने की सभावना होती है ।

सम्प्राप्ति

इस रोग के कीटाणु क्षत द्वारा देह में प्रविष्ट होकर नाड़ी-तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँच जाते हैं और वहाँ जाकर मस्तिष्क के कोशों में तथा उनके चारों ओर शोथ उत्पन्न करते हैं । सुषुम्नाकाण्ड, लालाग्रन्थि और सम्पूर्ण अशु-ग्रन्थियों में ये कीटाणु स्थित होकर विकृति उत्पन्न करते हैं ।

गुप्तावस्था—दो सप्ताह से दो मास तक यह अवस्था रहती है । सामान्यत वारह दिन से एक वर्ष तक गुप्तावस्था का काल है ।

पागल कुत्ते के लक्षण

कुत्ते में जब नीनों दोपो का प्रकोप होता है, तो कुत्ते के शरीर की रसादि धातुएँ कुपित हो जाती हैं, जिसमें कुत्ते के शिर में वेदना होती है, उसके मुख से लार ट्यकती रहती है, वह हमेशा शिर को नीचे झुकाए रहता है। कुत्ते के अतिरिक्त नियार, विल्ली, बन्दर आदि हिम्मक प्राणियों के काटने से जबर, शरीर में जकड़ाहट, प्यास और मूर्छां आदि लक्षण होते हैं (च० च० २३) ।

कुत्ता अन्धा और बहङ्ग हो जाता है और चारों ओर दौड़ लगाता रहता है। पूँछ नीचे किये, गरदन लटकाये, कन्धा शुकाये वेचैन और व्यानुल होकर काट खाने को दौड़ता है। अल्कॉन-विपाक्रान्त अन्य हिम्मक प्राणियों के वायु और कफ दूषित होकर सज्जा और चेप्टा को विकृत कर देते हैं ;^१

अधूनातम चिकित्सा-विज्ञानी दृष्टिकोण—अल्कॉन्विप (Rabies) से आक्रान्त पागल कुत्ते रोगान्नमण ने दन दिनों के भीतर ही प्राण त्याग देते हैं। उनकी पेशियाँ दुर्वल हो जाती हैं, उनके भूयने की आवाज बदल जाती है, उनके मुख से लालास्ताव होता रहता है, जिसमें विपाणु निकलते हैं। ये विपाणु कुत्ता काटे हुए व्यक्ति के दशस्थान में लाला द्वारा आते हैं और दृष्ट व्यक्ति के नाड़ीमण्डल द्वारा मस्तिष्क को आक्रान्त कर देते हैं।

अल्कॉन्विप लक्षण

दशस्थान पर पीड़ा और दाह होता है। यहाँ सूई चुभाने जैसी वेदना और सकोच होता है। मन्द-मन्द जबर, शिर शूल, निद्रानाश, वेचैनी और गले की पेशियों में विचाव होता है। जल पीने का प्रयात करने पर गले की मासपेशियाँ सिकुड़ जाती हैं और रोगी जल नहीं पी पाता है। भय, व्याकुलता और कम्पन होने से रोगी निःत्तेज और क्षीण होने लगता है। तृष्णाधिक्य, लालास्ताव और वमथु होता है। नाड़ी कभी तीव्र और कभी क्षीण होने लगती है। कदाचित् शरीर का ताप अधिक बढ़ने और प्रवल्ल आक्षेप होने पर श्वासावरोध होकर रोगी वेहोश और मरणामन्त्र हो जाता है।

जलसंत्रास

(Hydrophobia)

मत्त कुत्ते, सियार आदि के काटने से होनेवाले अल्कॉन्विप से एक विलक्षण स्थिति यह होती है जब कि दृष्ट व्यक्ति जल का नाम सुनकर, उसे देखकर या स्पर्श कर भयाकुल हो जाता है और उसे रोमाञ्च एवं सत्रास होता है। इसे जलसंत्रास कहते हैं। यह धातक लक्षण है।

अरिष्ट लक्षण

कुत्ता आदि के विना काटे ही किसी व्यक्ति को जलसंत्रास होना अरिष्ट का लक्षण है। ऐसे रोगी को चुल्लूभर पानी से भी भय लगता है। उसे ऐसा आभास

^१ चरक० च० २३ तथा सु० क० ८ एव अ० ह० उ० ३८।

होता है, कि वह उस जल में डूब जायेगा। रोगी काटनेवाले जन्तु की तरह चेष्टा या शब्द करता है, कुत्ते से दब्ट व्यक्ति भो-भो करता है और कुत्ते जैसा रोता है। शीशे में या जल में उसे उसी जन्तु की परछाई दिखलाइ देती है। कुत्ता के काटे या अनकाटे दोनों ही स्थिति में जलसत्रास घातक होता है।^१

स्थानिक चिकित्सा

१ काटे हुए स्थान को कार्बोलिक साबुन से अच्छी तरह धो दे। फिर हाइड्रो-जन-पर-ऑक्साइड डालकर प्रक्षालित करे या पोटैशियम परमैग्नेट के घोल से व्रण को स्वच्छ करे। तत्पश्चात् काटे हुए स्थान को पाष्ठकर रक्त निकालकर तीव्र बल नाइट्रिक एसिड से जला दे। अथवा—

२ किसी विसक्रामक द्रव से प्रक्षालन कर प्याज के कल्क का लेप करे। अथवा—

३ कुचले को घिसकर गाढ़ा प्रलेप लगाना चाहिए। अथवा—

४ काटे हुए स्थान के चारों ओर त्वचा में, एण्टी-रैबीज सीरम (५-१० मिली०) का सूचीवेध करे। अथवा—

५ तप्त लौहशलाका से दाह कर विषधन द्रव्यों का लेप करे।

आम्यन्तर चिकित्सा

१ एण्टी-रैबिक वैक्सीन (Anti-rabic vaccine) की १४ सूचीवेधों का पूरा कोर्स लगवाना चाहिए। यह सूई उदरभित्ति (Abdominal wall) को टिक्कर आयोडीन से साफ कर देना चाहिए। १४ दिन तक नित्य १० मिली० का सूचिका-भरण करना चाहिए। कुत्ता काटने के बाद जितना शीघ्र हो सके इसे लगवाना चाहिए। बच्चों को आधी मात्रा में दे। इसे शिरामार्ग से कभी नहीं लगाना चाहिए।

२ पुराना धृत पिलाना चाहिए।

३ अकोल के मूल का क्वाथ धृत मिलाकर पिलाये।

४ धूतूर के कच्चे फल को उचित मात्रा में पुनर्नवा स्वरस से दे।

५ शुद्ध कुचला चूर्ण १ रक्ती प्रान-पाय दूध के साथ दे।

६ सरफोका (शरपुखा) मूल ६ ग्राम और धूतूरपत्र कल्क ३ ग्राम चावल के धोवन के साथ प्राय-साय दे।

प्रतिषेध

१ शराब आदि मादक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

२ पहाड़ एवं उच्ची सीढ़ी पर नहीं चढ़ना चाहिए।

३ शीत से बचना चाहिए और मलावरोध नहीं रहना चाहिए।

^१ योऽद्भ्यस्त्रस्येददृष्टिं शब्दस्पृशंदर्शनैः।

जलमत्रासनामानं दृष्टं तमपि वर्जयेत् ॥ ८० ३८१५ ॥

४. गेल-गूद और ज्यायाम एवं भन ने जगना चाहिए ।

५. मुट, मैल, गरम भमाजा और मट्टे पदार्थ नहीं गाना चाहिए ।

विषजन्तु-वंश वोर उपचार

स्लेट—विर्टे लभ्युओं के काटने से दमधान में गुजारी, गूर्द नुभाने-जैती बीदा, विषजन्तु, शूमापन, दाढ़, लालिमा, पां जाना, शोष, यन्त्र बन जाना, अगो में मंजोष, एटन, विस्तोट, भकुर निराजना, पार्ते निराजना और जर होना—ये विषजन्तु होते हैं ।

स्पानीय चिकित्सा

१. इसी ज्यायाम ने गर्वदम जी चिकित्सा में बतायां गए ३५ प्रकार के उपचारों में से इंग दी अदरका और भारत्यवता के अनुगार (दो-चार-छह या और पचिंच प्रत्याम में) चिकित्सा होते ।

२. दमधान पर लाइनर एनोनिमा फ्लोट, मोडबार्कियां या कोई वन्ध-प्रदाताकारों से माहुन पियारे रहायें ।

३. केन्गर्ड श्रीम, तोषेष्टान जैसी या फैलाइन दोषन रहायें ।

४. बर्नाल, लिलोलीन, हीम नामक गल्हन या टिक्कर आयोदेनिन रहायें ।

५. येदला अधिक हो तो २% प्रोसेन का घोण २-३ मी० मी० की मात्रा में दृश्य के चारों ओर त्वचा में लगायें ।

६. यदि उपइयम्बक्ष्य शीतपित्त (जुलपित्ती के चक्कते) उभठ आये, तो केन्गर्ड एण्टीस्टीन का १०० मिलीग्राम अधम्यहू सूचीयेद करे ।

आवस्थिक चिकित्सा

१. दृश्य में दाह और पुष्ट से क्लालाकाव होने पर रुग्ण के शरीरवल के अनुसार तीछ यमन और विरेचन करायें और बाद में नसर्जनक्राम (पेथा-विलेपी-अकृत-कृत यूप आदि) के प्रयोग में अग्नि को सम्मुखित कर विषनाशक अगद औषधों का सेवन कराये ।

२. शिरोगत विष-प्रभाव में काली तुलसी की जड़ का अथवा शिरीय बीज के चूर्ण का नस्य देना चाहिए ।

३. नेत्रगत विष-प्रभाव में पिष्पत्यादि अजन (च० चि० २३।१८३) लगाना चाहिए ।

४. पवानाशयगत होने पर हल्दी, दारुहल्दी और मजीठ पीसकर ३ से ६ ग्राम तक की मात्रा में पिलाना चाहिए ।

५. सम्बंधातुगत हो तो बरियार, ककही की जड़, महुगा का फूल, मुलहठी और तगर के मध्यभाग का चूर्ण ६ ग्राम जल में पीसकर पिलायें ।

६. कफप्रधान विकार हो तो पीपर, सोठ और जवाखार के सम्माग चूर्ण में मक्खन मिलाकर दशस्थान पर धीरे-धीरे मल्जना चाहिए ।

७. का० त्र०

७ शोथ आदि हो तो मास्यादि योग (च० चि० २३।१९०) का पान, नस्य, अजन और लेप मे प्रयोग करे ।

८ सर्वविष विष-प्रभाव मे लाल चन्दन, तगर, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, दालचीनी, शुद्ध मैनसिल, सुर्ती की पत्ती, शोधिर पारद, नामकेशर और नखी, इनको समझाग मे लेकर चावल के पानी मे पीसकर पिलाने से सभी प्रकार के विषो के प्रभाव नष्ट होते हैं ।

कीटदंश और उपचार

कीटो की उत्पत्ति—सर्पों के शुक्र, मल, मूत्र एव शव के सड़ने एव अण्डो के विनाश से कीटो की उत्पत्ति होती है ।

भेद—चरक के अनुसार सक्षेप मे कीट दो प्रकार के होते हैं—१ दूषीविष कीट और २ प्राणहर कीट । सुश्रुत ने दोषो की अधिकता के अनुमार इसके ४ प्रकार कहे हैं—१ वातोल्बण, २ पित्तोल्बण, ३ कफोल्बण और ४ सान्निपातिक । इनके अवान्तर भेदो की सख्या ६७ बतलाई है । जिनका विस्तार सुश्रुतसहित-कल्प० अ० ८ मे द्रष्टव्य है ।

दूषीविष कीटदंश के लक्षण

दशस्थान लाल, श्वेत, कृष्ण या श्याव वर्ण का हो जाता है, वहाँ फुन्सर्या निकलती हैं और खुजली, दाह, वीर्सर्प, पाक तथा कोय होता है ।

प्राणहर कीटदंश के लक्षण

दश मे सर्प के काटने के समान शोथ, वहाँ के रक्त मे भयङ्कर गन्ध, नेत्र मे भारीपन, मूर्छा, शरीर मे वेदना और श्वास लेने मे कष्ट, प्यास की अधिकता और भोजन मे असुचि होती है ।

कीटविष दंश-चिकित्सा

१ पूर्वोक्त जन्तुविषदश की स्थानीय चिकित्सा की तरह दशस्थान का उपचार करना चाहिए । रोगी को वमन-विरेचन करा कर शोधन करे और ससर्जन क्रम से पथ्य दे ।

२ कीटदश स्थल पर क्षीरी वृक्षो (वट-पीपर-पाकड-गूलर-महुआ) की छाल को बारीक पीसकर लेय लगाये ।

३ शोथ, दाह, वेदना और ज्वर हो तो दश पर मोती घिसकर लगाये ।

लूतादंश और उपचार

लूता मकड़ी को कहते हैं । मकड़ी का विष अति भयानक और कठिनाई से जाना जाता है । जिस प्रकार अकुर देखकर वृक्ष की जाति नहीं जानी जाती, उसी प्रकार शरीर मे अल्प मात्रा मे फैला मकड़ी का विष दुर्विज्ञेय होता है ।^१

^१ प्रोदमिद्यमानन्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्तजाति प्रविभाति वृक्ष ।

वद्ददुरालक्ष्यतम हि तामा विष शरीरे प्रविकीर्णमात्रम् ॥ सु० क० ८।७९

आचार्य चरक ने लूता के दो प्रकार कहे हैं—१ दूषीविष लूता और २ प्राणहर लूता। आचार्य सुश्रुत ने लूताओं के सोलह प्रकार वरलाये हैं, जिनमें आठ साध्य और आठ असाध्य होती हैं। सुश्रुत ने जिन्हे साध्य माना है, उन्हे ही चरक ने दूषीविष लूता माना है और सुश्रुत की असाध्य लूता को चरक ने प्राणहर लूता माना है।

लूताओं के विष का प्रसार

लूताएँ दष्ट प्राणियों में सात प्रकार से विष का प्रसार करती हैं। जैसे—
१ लाला, २ नख, ३ मूत्र, ४ दण्डा, ५ रज, ६ मल और ७ शुक्र से। सुश्रुत ने इसके विष को उग्र, मध्य और हीन भेद से तीन प्रकार का कहा है और चरक ने दूषीविष और प्राणहर भेद से दो प्रकार का माना है।

लूता विष का सात दिनों में भावी लक्षण

प्रथम दिन—दशस्थान अल्प कण्डूयुक्त, फैलनेवाला, कोठ (चकता) युक्त और त्वचा के रग का होता है।

द्वितीय दिन—किनारों पर शोथयुक्त, मध्य में दबा हुआ और स्पष्ट लक्षणों वाला होता है।

तृतीय दिन—उक्त लक्षण और अधिक प्रकट होता है।

चतुर्थ दिन—विष प्रकुपित होता है और शरीर में फैलने लगता है।

पञ्चम दिन—पहले से अधिक कुपित होकर फैलता है।

षष्ठ दिन—सम्पूर्ण शरीर में फैलकर हृदय, मस्तिष्क, फुफ्फुस आदि मर्मदेशों को धेर लेता है।

सप्तम दिन—पुन बढ़कर शरीर में व्याप्त होकर भारक हो जाता है।

दूषीविष लूता का दंश-लक्षण

दशस्थान का काला या श्याव होना, वहाँ शिराओं का जाल बनना, आग से जलने जैसा होना, दश का पाक, क्लेद और शोथयुक्त होना तथा ज्वर होना, ये दूषीविष लूता के दंश के लक्षण होते हैं।

प्राणहर लूता दंश-लक्षण

दशस्थल में शोथ तथा श्वेत, काली, रक्त अथवा पीली पिंडकाये उत्पन्न हो जाती हैं। शरीर ज्वराक्रान्त हो जाता है, श्वासकष्ट की अधिकता होने पर प्राण जाने की स्थिति हो जाती है, दाह, हिचकी और शिर में जकड़न होती है।

लूताविष में चिकित्सासूत्र

लूताविष में सुश्रुताचार्य ने दश प्रकार की चिकित्सा का विधान बतलाया है—
जैसे—१ नस्य, २ अञ्जन, ३ अभ्यङ्ग, ४ पान, ५ धूम, ६ अवपीड, ७ कवल-ग्रह, ८ तीक्ष्ण वमन, ९ तीक्ष्ण विरेचन और १० सिरामोक्षण।

चिकित्सा

- १ दशस्थान को पोटेशियम परमेंगनेट के घोल से धोना चाहिए। अथवा—
- २ मधु-सैन्धव का लेप लगाये या मुलहठी के चूर्ण में घृत मिलाकर लेप करे।
- ३ पचक्षीरी वृक्षो (वट-पीपर-नूलर-पाकड़-महुआ) की छाल को पीसकर लेप लगाये।

४ पान-नस्य-अंजन-लेप-भृष्ट आदि में लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, शिरीष-बीज, सिन्दुवार की पत्ती, क्षीरविदासी, तगर, कूठ, पाटला, सुगन्धबाला और अनन्त-मूल की छाल, सब समझा लेकर लिसोडा की पत्ती के स्वरस में पीसकर प्रयोग करे।

५ महुआ, मुलहठी, कूठ, शिरीष का फूल, सुगन्धबाला, पाटला की छाल, नीम की छाल और अनन्तमूल—इन्हे समझा लेकर चूर्ण बनाकर जल में घोलकर मधु मिलाकर पीने से लूताविष का नाश होता है।

६ मालकागनी, अर्जुन की छाल, शिरीष की छाल, लिसोडे की छाल, क्षीरी वृक्षो की छाल—इनके कदाच का पान करने से, कल्क का लेप करने से तथा चूर्ण को खाने से लूतादशज द्रवण नष्ट हो जाते हैं।

७ कर्णिकापातन योग—लूतादशस्थान में जो मास के अकुर हो जाते हैं, उनके पारन के लिए बर्टे का फूल, गाय का दाँत, सत्यानाशी (भडभाड) की जड़, कबूतर का बीट, दन्तीमूल, निशोथ, सेधानमक—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर जल में पीसकर लेप करने से लूताविष या कीटविष से कर्णिका (मासाकुर) का पतन हो जाता है।

लाक्षणिक चिकित्सा की दृष्टि से वेदना को दूर करने के लिए मौखिक या सूचीवेद्ध से औषधे दी जाती हैं। जैसे—नोवालजीन, सिवाल्विन, कोडोपायरिन आदि। यदि इनसे सन्तोषप्रद लाभ न हो, तो पैथिडीन तथा मार्फिया का प्रयोग करे। केलसील्यूवीन (Calciluvina) का शिरामार्ग से प्रयोग उत्तम लाभकारी है। इसके साथ-साथ २०% शक्ति का २ सी० सी० की मात्रा में मैगसल्फ का मासपेशीगत सूचीवेद्ध करते हैं।

मूषक दंश और उपचार

चूहे को मूषक कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१ दूषीविष चूहा और २ प्राणहर चूहा।

दूषीविष मूषकदंश और उपचार

दूषीविष वाले चूहे के काटने के स्थान से पाण्डुवर्ण का रक्त निकलता है। वहाँ चकत्ते हो जाते हैं। दष्ट व्यक्ति ज्वर, अरुचि, रोमाञ्च और दाह से पीड़ित रहता है।

प्राणहर या असाध्य मूषकदंश

यदि चूहे के काटने पर मूच्छा, अगो में शोथ, शरीर में विवर्णता, दशस्थान में

क्लेद, बहरापन, ज्वर, शिर मे भारीपन, लालासाव और वमन होता हो, तो उस दश को प्राणहर जाने ।

साध्यासाध्यता

यह चिरकालानुवन्धी होता है और समुचित चिकित्सा के अभाव मे कुछ महीनों या वर्षों तक वार-न्वार आक्रमण करता रहता है । यह दूषीविष की तरह वर्षा ऋतु मे कृपित होकर ज्वरादि लक्षणों को उत्पन्न करता है । धीरेधीरे रोग की तीव्रता घटकर वह अच्छा हो जाता है । कदाचित् वार-न्वार पुनरावर्तक ज्वर होने से क्षीणता बढ़ जाती है, जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

चिकित्सा

१. अग्निकर्म—दशस्थान पर सबसे पहले दग्धकर्म करे, तत्पञ्चात् पाठकर रक्त को बाहर निकाले, फिर उस स्थान पर शिरीष, हल्दी, कूठ, कुकुम और गुरुच पीसकर लेप लगायें ।

२. वमन—मदनफल, बच, देवदाली और कूठ इन द्रव्यों को गोमूत्र मे पीसकर पिलाकर वमन कराये ।

३. विरेचन—पचसकार या निशोथ चूर्ण ४-६ ग्राम खिलाकर विरेचन कराये ।

४. नस्य—चरकोक्त अपामार्ग तण्डुलादि नस्य या शिरीष फल एवं त्रिकटु चूर्ण का प्रधमन नस्य दे ।

५. अञ्जन—भैंस के गोवर के स्वरम मे छोटी पीपर को धिसकर अञ्जन करे ।

६. स्थानिक उपचार मे शोधनार्थ जीवाणुनाशक घोल का प्रयोग करे और रोपणार्थ व्रणवत् उपचार करे ।

आम्यन्तर प्रयोग

१. कूठ, त्रिकटु, रसीत, मुलेठी, सेधानमक, कालानमक, चमेली की पत्ती, नागकेसर और काकोल्यादिगण की ओषधें कैथ के रस मे पीसकर मधु और चीनी से दे ।

२. कैथ और गोमय स्वरस मधु से दे ।

३. रसीत, हल्दी, इन्द्रजी, कुटकी, अतीस, इनके कल्क को प्रतिदिन प्रात काल दे ।

४. बनचौलाई की जड के कल्क और क्वाथ से सिद्ध धूत का प्रयोग करे ।

५. कैथ के पञ्चाङ्ग से सिद्ध धूत का सेवन कराये ।

६. 'आखुविषान्तक रस' का रुग्ण के वलाबल के अनुसार उचित मात्रा मे ३ सप्ताह पर्यन्त प्रयोग करे ।

७. अपामार्गस्वरस १ चम्मच और आधा चम्मच मधु, मिलाकर प्रात-साय सेवन कराये ।

विषयुक्त भक्षिका एवं वर्ते या पिषेलिका दशा एवं उपचार

विषेली भक्षिका के दश में उम ग्राहन से गारा होने गए हैं एवं शोष, लाली, पीड़ा और गुजली होती है। यदि दो नीट गर्दन के लिख्च दाँत मारने हैं तो देगम नाडी (Vagus nerve) पर अनाना अनगारक प्रभाव पड़ता है और वह व्यक्ति बेहोश होकर गिर पड़ता है।

वर्ते (हाथी) दश के बाद अगला उम नाना में नहीं होती, जब कि मधुमासी अपनी विषय की घैली के साथ टक तो दश के अन्दर छोड़ देती है, जिसमें वह पिष अन्दर गामपेशियों से प्रगारित होता रहता है। ऐसी विषय में उम को अगुच्छो से न निकालार चिकित्सी आदि अन्य माध्यों में निकालें।

चिकित्सा

१ स्थानिक दृष्टि में दश पर गोडावार्डार्ब या गपड़ा धोने का सावन रगड़ना चाहिए। प्याज-हन्ती पीसकर लगायें।

२ फेनरेंल फीम, कैलाड्रिल लोगन आदि का प्रयोग करना चाहिए।

३ काली वास्त्री मिट्टी (गुण वत्तीक-मृत्तिका) या गोमूत्र में पीसकर लगाना चाहिए। यह प्रयोग हड्डा, नीटी या गमुमासी आदि के दश में नेप में लाभ-प्रद होता है।

४ सोठ, भरिच, मुगन्धगार, नागफेणर—ठन्टे दशस्थान पर गोमूत्र में पीसकर लगाना चाहिए।

कृकलास (गिरगिट) दंश एवं उपचार

दूसीविष गिरगिट के काटने से शरीर का वर्ण इयाव एवं अनेक वृण्युक्त हो जाता है, मोह और पुरीप भेद होता है।

— गिरगिट का एक प्रकार विषखोपड़ा होता है। इसके काटने पर शोघ्र ही मृत्यु हो जाती है। इसका विष इतना तीव्र होता है कि चिकित्सा करने का अवसर ही नहीं मिलता।

चिकित्सा

जन्तुदश-चिकित्सा में निम्नलिखित प्रकार से चिकित्सा करें—

पश्चिमी अगद—शिरीप के फल, मूल, छाल, फूल और पत्ती को समझाग में लेकर पीसकर गोदृत मिलाकर पान करने से और दश पर लेप करने से लाभ होता है।

गृहणोषिका (छिपकली) का दंश और उपचार

छिपकली के दंश के स्थान में दाह, सूचीवेघनवत् पीड़ा, स्वेद और शोथ होता है और रोगी के शरीर से बहुत पसीना आता है। विषेली छिपकली के काटने पर पक्षाधात (Paralysis) होता है। यह बहुत विषेली और अशुभ जीव मानी जाती

है। इसका दश, मूत्र, स्पर्श या किसी अग पर गिरना धातक होता है। इसके दश से श्वासकष्ट होता है और मासपेशियों में आक्षेप (Convulsions) शुरू हो जाते हैं, जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसके विष का मुख्यत हृदय पर प्रभाव पड़ता है। हृदय विस्फारित (Dilated) हो जाता है तथा आम्यन्तरिक अवयवों में रक्ताधिक्य हो जाता है।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा में स्थानिक रूप से लाइकर अमोनिया फोर्ट या सोडा-बाई-कार्ब को लगाना चाहिए। विषध्न लेप लगाना चाहिए एवं अगद औषध-पान आदि का प्रयोग करे।

लेप का योग— कैथ, सेम, मदार का वीज, सोठ, मरिच, पीपर, करञ्ज, हल्दी, दाढ़हल्दी—इन्हे समझाग में लेकर जल से पीसकर दशस्थान पर लेप करने से विष-प्रभाव नष्ट हो जाता है।

शतपदी (गोजर) दंश और उपचार

गोजर के काटने से विषेला प्रभाव होता है। इसका शरीर ३ से ६ इच्छ लम्बा और कई खण्ड या पर्व में विभक्त होता है। इसके सैकड़ों जोड़ी पैर होते हैं। यह लाल रंग का होता है और कोने-अंतरे या किसी सामान में या नीचे दुबका रहता है।

लक्षण— दशस्थान पर शोथ होता है और वहाँ तीव्र वेदना होती है। सार्वदैहिक लक्षणों में चक्कर आना, पसीमा होना, शिर शूल और वमन होना—ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सा

१ दशस्थान पर सोडाबाईकार्ब लगाना चाहिए अथवा लाइकर अमोनिया के घोल से धोना चाहिए।

२ वेदना-निवारणार्थ पैथेडीन या भार्फिया का सूचीवेद्ध करे।

३ सज्जीखार और बकरी की भींगी को जलाकर बनाया हुआ क्षार लगाना चाहिए।

४ तुलसीपत्र या मूल और श्वेतशिष्ठी पीसकर मध्य मिलाकर लेप करे।

शङ्काविष के लक्षण

गाढ़े अन्धकार में पैर आदि में किसी काटे आदि के धौंस जाने से यह शक्ता हो जाती है कि किसी विषेले जन्तु ने काट खाया, जिसके परिणामस्वरूप अवर मन के व्यक्ति में विषोद्देशजन्य लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उसे ज्वर, वमन, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि, मोह और अतिसार हो जाता है। इसे शंकाविष कहते हैं।

चिकित्सा

१ रोगी का परीक्षण करके निश्चित करे कि क्या दण असत्य है ? और यदि आशका मात्र हो, तो रोगी को पूर्ण रूप से आश्वस्त करे कि सब कुछ ठीक है, घबड़ाने की बात नहीं है ।

२ रोगी के विश्वास के अनुसार भन्द्रो से जलप्रीक्षण करे और भन्द्र पढ़कर कुश से उसके अगो का स्पर्श कर झाड़-फूँक दे एवं इष्टदेव का स्मरण करावे ।

३ आम्यन्तर प्रयोग—क्षीरकाकोली २ ग्राम, मुलहठी १ ग्राम, मुनक्का १० ग्राम, शुद्धगन्धक द्रै ग्राम और चीनी १० ग्राम मिलाकर भधु से दिन मे ३-४ बार दे ।

पथ्य

अगहनी चावल, साठी चावल, टागुन, सेंधानमक, चौलाई, बैंगन, परवर, लौकी, पपीता, मूग, अरखर की दाल, आंवला, खट्टा अनार तथा विष्वन आहार-विहार का सेवन करना हितकर है ।

अपथ्य

उचित उपचार से विष-लक्षणो का शमन हो जाने के बाद भी विरुद्ध भोजन, पूर्वभोजन के बिना पचे पुनः भोजन, क्रोध करना, भूखा रहना, मद्यसेवन, श्रमजनक कार्य, स्त्री-प्रसङ्ग और दिन मे सोना अपथ्य और अहितकर है ।

सप्तम अध्याय

व्याधिक्षमित्व, प्रतिजन तथा प्रतियोगी, लसीका रोग एवं अनूर्जिता व्याधिक्षमित्व (Immunity)

‘व्याधिक्षमित्व वह शक्ति है, जो व्याधि के बल को घटाती है और व्याधि की उत्पत्ति को रोकती है’। व्याधिक्षमित्व आयुर्वेद का प्राचीन शब्द है, जिसे पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र में इम्युनिटी (Immunity) कहते हैं।

वातावरण में सक्रमणशील रोगों के अगणित जीवाणु व्याप्त हैं, जो श्वासमार्ग से शरीर में प्रविष्ट होते रहते हैं। रस और रक्त में इन जीवाणुओं के विषों को नष्ट करने का अपूर्व सामर्थ्य है, जिससे इन जीवाणुओं का विष नष्ट हो जाता है तथा उनसे होने वाले रोगों से शरीर सुरक्षित बना रहता है। इस स्वाभाविक शक्ति का नाम व्याधिक्षमित्व है।

रक्त में ल्यूकोसाइट नाम के जो क्षत्रकण हैं, वे जीवाणुओं का भक्षण कर उन्हे नष्ट किया करते हैं। इन कणों को श्वेतकण कहा जाता है। शरीर में रोगोत्पत्ति करने वाले जीवाणुओं तथा उनके विषों के भक्षण और विनाश का कार्य रक्तान्तर्गत क्षत्र या श्वेतकणों के अधीन है। इस क्रिया को अग्रेजी में फैगोसायटोसिस (Phagocytosis) कहते हैं। जीवाणुओं और विषों के भक्षण की यह क्रिया शरीर की रोगप्रतिबन्धक शक्ति—व्याधिक्षमित्व का प्रमुख व्यापार है।

रक्त के श्वेतकण अपनी किसी विशिष्ट कल्पना से जीवाणुओं को स्वादिष्ट बना लेते हैं, जिससे ल्यूकोसाइट इनकी ओर सहज ही आकृष्ट हो जाते हैं। जिस पुरुष में रक्त की यह कल्पनशक्ति जितनी ही अधिक होगी, वह पुरुष जीवाणुओं के आक्रमण से उतना ही अधिक सुरक्षित रहेगा। यह शक्ति उत्तम आहार और शुद्ध वायु से उपलब्ध होती है। जो मनुष्य पुष्टिदायक भोजन करता है और उसको अच्छी तरह पचा लेता है, उसके श्वेतकण और अन्य सेल्स इन रोगकारी जीवाणुओं का मुकाबला अच्छी तरह कर सकती है। निर्बल और क्षुधा-पीड़ित को रोग अधिक सराते हैं। हमारे आत्मिक बल का भी हमारे स्वास्थ्य पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जीवनीय युक्त आहार के सेवन से उत्तम और स्थिर रूप की व्याधिक्षमता उपलब्ध होती है।

१. व्याधिक्षमित्व व्याधिवलविरोधित्व व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्। च० स० २०१६ पर चक्रपाणि-टीका।

ल्यूकोसाइट्स के अतिरिक्त रक्त के लिम्फोसाइट नामक घवेतकण भी जीवाणुओं के प्रतिरोध का कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति रमग्रन्थियों, टाँन्सिल्स, पच्चमानाशय के अन्त में स्थित ग्रन्थिसमूह तथा प्लीहा से होती है।

रक्त के द्रवभाग में भी जीवाणुओं के सहार करने की शक्ति है। इसमें स्थित जो द्रव जीवाणुओं का सहार करते हैं, उनका नाम जीवाणुसूदन (Bacteriolysins) है।

जीवाणुओं के प्रतिरोध का अन्य साधन रक्त की समसनी शक्ति (एग्लुटिनेटिंग पावर—Agglutinating power) है। जीवाणुओं का प्रवेश होने पर रक्त में समसन नाम के द्रव्य उत्पन्न होते हैं। उनके समागम से जीवाणु गतिशूल्य होकर एक दूसरे से जुड़ जाते हैं।

शरीर में प्रविष्ट जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न विष को निप्पिय करने के लिए रक्त प्रतिविष रुंयार करता है। सोडा आदि क्षार जिस प्रकार अम्लों के समर्ग में आने पर उन्हें उदासीन कर देते हैं, वैसे ही प्रतिविष भी अपने प्रभाव से जीवाणुजन्य विषों को अभिभूत कर निर्विर्य कर देते हैं।

व्याधिक्षमित्व के दो भेद

रोगज क्षमता और कृत्रिम क्षमता के भेद से व्याधिक्षमता के निम्न दो प्रकार होते हैं—

रोगज क्षमता

(Acquired Immunity)

किसी रोग के होने पर एवं उस रोग से छुटकारा पा जाने के पश्चात् उस रोग के पुनराक्रमण से बचने की जो शक्ति शरीर में उत्पन्न हो जाती है, उसे रोगज क्षमता कहते हैं। यदि किसी रोग का नाश होकर शरीर रक्षित रहती है, तो यह नीरोगता रोगोत्पादक जीवाणुओं पर शरीर की क्षमता की विजय का प्रतीक है। इसके बाद शरीर में जीवाणुसहार की विशिष्ट शक्ति चिरकाल तक बनी रहती है। अतएव मसूरिका, आन्त्रिक ज्वर आदि रोगों का एक बार आक्रमण हो जाने पर पुन दुबारा आक्रमण प्राय नहीं होता।

शरीर पर जीवाणुजन्य किसी रोग का आक्रमण होने पर उन रोगजनक जीवाणुओं के प्रतिकार या सहार के लिए शरीर में यथोचित कल्पन प्रभृति द्रव्यों तथा ल्यूकोसाइट्स की अधिकाधिक उत्पत्ति होती है। प्रत्येक जीवाणु के लिए ल्यूकोसाइट तो एक ही होते हैं, परन्तु कल्पन, जीवाणुसूदन, प्रतिविष और समशन भिन्न होते हैं। यदि शरीर की रोग-प्रतिरोधक क्षमता प्रभावी होती है, तो जीवाणु-जन्य विकार नहीं उत्पन्न होते हैं। यदि धातक रूप से रोग प्रबल होता दीख पड़े, तो शरीर की क्षमता का हास समझना चाहिए।

कृत्रिम या युक्तिकृत व्याधिक्षमता (Artificial Immunity)

कृत्रिम उपाय से भी शरीर में व्याधिक्षमता उत्पन्न की जा सकती है। विशिष्ट जाति के जीवाणु अथवा उनके विष को उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रा में सूचीवस्ति (Injection) के द्वारा घोड़ों के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। परिणाम में घोड़ों के रस-रक्त में उस जाति के जीवाणुओं के विष का प्रतिरोधी विष उत्पन्न हो जाता है। इन घोड़ों का रक्त निकालकर उनकी लसीका (Serum) छोटी-छोटी प्रणालियों में सग्रह करके रखी जाती है। अनागत रोग के प्रतिबन्ध तथा आगत रोग के प्रतिकार के लिए इस लसीका की सूचीवस्ति दी जाती है। इस चिकित्सा-पद्धति का नाम लसीका-चिकित्सा (Serum therapy) है। मसूरिका प्रतिबन्ध के लिए गोभमसूरिका (Cow-pox) से आक्रान्त बछड़ों के स्तनों से निकले स्राव की सूचीवस्ति दी जाती है। इस पद्धति का नाम 'टीका' (Vaccination) है। इसे ही युक्तिकृत व्याधिक्षमता कहते हैं।

व्याधिक्षमता और शरीर

व्याधिक्षमता की दृष्टि से 'दो प्रकार के शरीर होते हैं—१ व्याधिक्षम शरीर और २ अव्याधिक्षम शरीर।

व्याधिक्षम शरीर

जिनका शरीर न तो अतिस्थूल हो, न अतिकृश हो, जिनके शरीर में रक्त, मास और अस्थियों का उचित प्रमाण में सगठन हो, जो बलवान् हो, जिनके शरीर का पोषण हितकर तथा पौष्टिक आहार से हुआ हो, जिनके आहार द्रव्य और उनकी मात्रा समृद्ध हो और जो उच्च मनोबल-सपन्न हो, ऐसे व्यक्तियों का शरीर व्याधिक्षम होता है।

जिनके शरीर में मास का प्रमाण शरीर के प्रमाणानुसार सम हो, इन्द्रियाँ दृढ़ हो, उनका शरीर व्याधिक्षमत्व शक्तियुक्त होता है और उन पर रोग का आक्रमण कदाचित ही होता है। ऐसे व्यक्ति भूख, प्यास के वैगों को और धूप को सहन करनेवाले होते हैं। वे जाडा-गरमी-वरसात के अतियोग को, परिश्रम को सहनेवाले होते हैं। उनकी जठराग्नि सम होती है। नियमत प्रकृति और सांत्म्य के अनुसार जो भी भोजन करते हैं, उनका पाचन अपने समय पर उचित रूप में होता है।

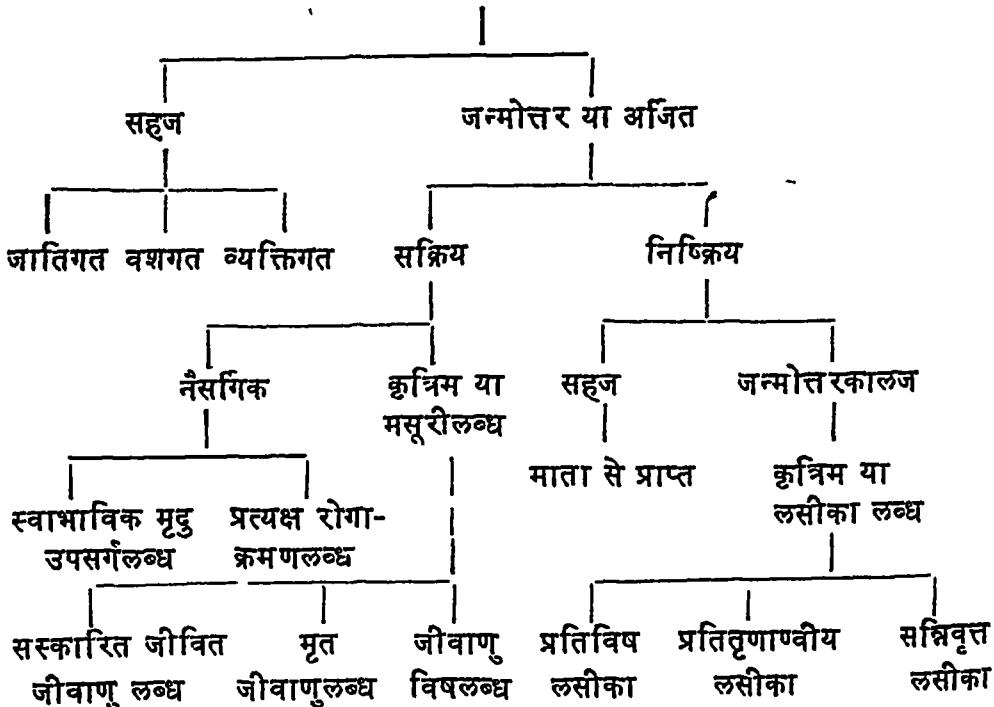
जो व्यक्ति स्थौल्यकर एवं काश्यकर आहार-विहारों को छोड़कर साधारण सर्व रस युक्त एवं सांत्म्य आहार करते हैं, उनके शरीर की धातुएँ सम होती हैं। उनका शरीर मध्यम श्रेणी का होता है। वे सब कार्यों के करने में समर्थ होते हैं और बलवान् होते हैं। ऐसे व्यक्ति व्याधिक्षम शरीर के होते हैं।^१

^१ सममासप्रमाणस्तु समसंहननो नर।।
दृढेन्द्रियो विकाराणा न बलेनाभिभूयते ॥

अव्याधिक्षम शरीर

जिन व्यक्तियों का शरीर अतिस्थूल या अतिक्षण होता है, जिनके शरीर में रक्त-मास और अस्थियाँ सुसग्ठित नहीं होती, जो दुर्बल होते हैं, जिनका शरीर अहित-कर आहार से पालित होता है, जो अल्पाहारी और हीन मनोवल के होते हैं, उनका शरीर रोगों के आक्रमण को बदास्त नहीं कर पाता और वे साधारण परिस्थितियों में भी रोगी हो जाते हैं, ऐसे लोगों के शरीर अव्याधिक्षम^१ होते हैं।

रोगक्षमता : व्यापक सन्दर्भ में

रोगक्षमता-सारणी^२

(क) सहज रोगक्षमता

गर्भावस्था में अपरा के द्वारा माता के शरीर की रोग-प्रतिकारक शक्ति बच्चे में सवाहित होती है। बहुत-सी जातियों में एक प्रकार का रोग नहीं होता, शेष में दूसरे प्रकार का रोग नहीं होता। इस सहजक्षमता के जाति, वश और व्यक्तिगत भेद से ३ विभाग किये जाते हैं—

क्षुतिपासातपसह शीत-व्यायामसंसह ।

समपक्ता समजर. सममासचयो मरत ॥ च० स० २११८-१९

१ शरीराणि-चातिस्थूलानि अतिकृशानि अनिविष्टमास-शोणितास्थीनि दुर्बलानि असात्म्य-इतरोपचितानि अल्पाहाराणि अल्पसत्त्वानि न भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधि-सहानि । च० स० २११६

२. यह शीर्षक 'कायचिकित्सा' लेखक—टॉ. गंगासहाय पाण्डेय के अन्धानुसार सामार सगृहीत है।

१. जातिगत—जैसे —फिरग, कुछ, विसूचिका, रोहिणी आदि औपसर्गिक रोग केवल मनुष्यों को होते हैं। कुछ रोग पशु-पक्षियों को ही होते हैं। प्लेग, राजयक्षमा, जलसत्रास और रिकेट्स प्रभृति रोग मनुष्य, पशु या पक्षी को समानरूप से होते हैं। वकरी को राजयक्षमा नहीं होता। सहज रोगक्षमता जीवन भर स्थायी रहती है और सतति में भी प्रायः सक्रान्त होती है।

२. वंशगत—यहूदियों को क्षयरोग बहुत कम और नेपालियों को अधिक होता है। अफ्रीकी हन्डियों को पीतज्वर कम, यक्षमा अधिक तथा गौराङ्गों को यक्षमा और पीतज्वर दोनों अधिक होता है।

३. व्यक्तिगत—लम्बे और चपटे वक्षवाले लोग राजयक्षमी हो जाते हैं। निरन्तर पोषक एवं सन्तुलित आहार-विहार वाला तथा व्यायामशील व्यक्ति रोगक्षमतायुक्त होता है। व्यवसाय रोगक्षमता को घटान्वढ़ा सकता है। बाहर से त्वचा का दृढ़ आवरण औपसर्गिक रोगों का प्रतिरोध करता है। श्लेष्मलक्ला का शोधन करते रहने से इस मार्ग से जीवाणु प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं। त्वचा, मुख, नासिका एवं श्वास-पथ को शोधित करना आवश्यक है। पाचक रस की अम्लता एवं मूत्र की अम्लता अनेक जीवाणुओं का विनाश करती रहती है।

सहज क्षमता के ह्रास के कारण

अतिशीत या अति उष्ण जलवायु या शीतोष्ण विषय, अनियमित एवं विषम आहार-विहार, अल्पाहार या उपवास, दूषित अन्नपान आदि क्षमता को घटाते हैं। दूषित वातावरण, मद्यपान, रक्तक्षय एवं मधुमेह आदि जीर्ण रोग क्षमता का ह्रास करते हैं। सहज रोगक्षमता का ह्रास होने एवं औपसर्गिक जीवाणु-विष की प्रबलता से रोगोत्पत्ति की सभावना अधिक होती है।

(ख) जन्मोत्तर या अर्जित रोगक्षमता

औपसर्गिक जीवाणु या उनके विष धीरे-धीरे जब शरीर में सचित होते हैं तो शरीर उनके प्रति सहिष्णु होकर उनसे होनेवाले रोग के प्रति भी रोगक्षमता अर्जित कर लेता है और शरीर में एकत्रीभूत विष की पर्याप्त मात्रा के कारण अधिक उपसर्ग होने पर भी रोगाक्रान्त नहीं हो पाता। यही अर्जित क्षमता के उपार्जन का मूलाधार है। इसके निम्न विभाग किये जाते हैं—

(१) सक्रिय क्षमता—जब जरीर में स्वयं सक्रिय रूप से क्षमता की उत्पत्ति होती है, तो इसे सक्रिय क्षमता कहते हैं। यह स्थायी और अस्थायी, दो प्रकार की होती है।

(२) मृदु उपसर्गलब्ध—वचपन से ही शरीर में अल्प मात्रा में औपसर्गिक जीवाणुओं का प्रवेश होता रहता है, किन्तु वह अव्यक्त रहता है। उस उपसर्ग से शरीर में क्षमता उत्पन्न हो जाती है। उपसर्ग के मृदु होने से तथा सहज क्षमता सम्पन्न होने से कुछ बच्चे रोगाक्रान्त होते हैं और अन्य नहीं होते, जो भविष्य के

लिए रोगक्षम हो जाते हैं। अतएव युवावस्था में वे उन रोगों से आक्रान्त नहीं होते। यही कारण है कि बाल्यावस्था में रोहिणी, तुण्डीकेरीशोथ, श्वकास, कर्ण-मूलशोथ, रोमान्तिका आदि का प्रकोप अधिक होता है और युवावस्था में नहीं होता है।

(ख) प्रत्यक्ष रोगाक्षमण्डब्ध—कुछ रोगों से पीड़ित होने के पश्चात् शरीर में लम्बे समय तक उस रोग की प्रतिरोधक क्षमता उपस्थित रहती है और कुछ में बहुत थोड़े समय तक। मसूरिका, रोमान्तिका, कर्णमूलशोथ, रोहिणी, श्वकास आदि से आक्रान्त होने के बाद प्राय जीवन भर या कम से कम १०-१२ वर्ष तक क्षमता बनी रहती है और ये रोग नहीं होते। आन्त्रिक ज्वर, श्वेषमोत्वण सन्नियात और प्लेग में क्षमता केवल १-२ वर्ष रहती है। उमलिए बाल्यावस्था में इनमें पीड़ित होने पर भी आगे चलकर व्यक्ति पुन उनसे आक्रान्त हो जाता है।

(ग) सक्रिय कृत्रिम क्षमता—रोगकारक जीवाणुओं का शरीर में संस्कारित रूप में प्रवण करने पर रोगोत्पत्ति के बिना क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिसके निम्नलिखित ३ प्रकार हैं—

१ संस्कारित जीवित जीवाणुलब्ध—जीवाणुओं की ठीक्रता मर्यादित कर या विपरीत परिस्थितियों में उनका सवर्धन कर तथा दूसरे संस्कारों द्वारा उनकी रोगोत्पादक शक्ति नष्ट कर दी जाती है, जिससे शरीर में उनका अन्त रोपण होने पर रोगोत्पत्ति तो नहीं होती, किन्तु रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। जलसत्रास, मसूरिका तथा तन्द्रिक ज्वर की मसूरी (Vaccination) का प्रयोग इस रूप में होता है।

२ मृत जीवाणुलब्ध—सर्वधित जीवाणुओं को ५५ से २० सेण्टीग्रेड तापक्रम पर ३० मिनट तक गरम करते हैं। बाद में इनको फार्मेलीन, फेनोल आदि के घोल में सुरक्षित कर प्रयोग किया जाता है। प्लेग, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर और श्वकास के जीवाणुओं का इस रूप में उपयोग होता है। जिन जीवाणुओं का विष उनके शरीर में केन्द्रित रहता है, उन्हीं की मसूरी इस रूप में उपयोगी होती है।

३ जीवाणुविषलब्ध—धनुर्वार्ति तथा रोहिणी इस श्रेणी के प्रमुख रोग हैं, जिनके प्रतिकार के लिए रोगक्षमता उत्पन्न करने हेतु जीवाणुविषों या उनके विषाश द्रव्यों (Toxins or toxoids) का प्रयोग होता है। इनके प्रयोग से शरीर में प्रतिविष का निर्माण होता है, जिससे विषजन्य औपसार्गिक रोगों की लाक्षणिक निवृत्ति होती है। इसी क्रम से घोड़े में जीवाणुविषों का शनै-शनै प्रयोग कराकर प्रतिविष उत्पन्न किया जाता है और प्रतिविषयुक्त घोड़े की लसीका का धनुर्वार्ति तथा रोहिणी की चिकित्सा में प्रयोग होता है।

(२) निषिक्षय क्षमता—रोग से सक्रान्त हो जाने पर सक्रिय क्षमता के प्रयोग से रोग के बढ़ जाने की सभावना रहती है। ऐसी स्थिति में रोगशमनार्थ बनी-बनाई क्षमता का प्रयोग किया जाता है। शरीर की कोपाएँ इसकी उत्पत्ति में सक्रिय

साक्षय आर नायक्य धमता म भव

गतिश्च धमता

१. उमी इफिक के जगीर म प्रतियोगी शो उत्पत्ति होनी है।
२. दीर्घालिका।
३. प्रनवध रोग से समान गोप्य रप्ताय के उदाहरण उत्पन्न।
४. मनुषी के प्रयोग के ८-१० दिन वार प्रारंभिक धमता हो उत्पन्न।
५. उगका प्रयोग दीर्घकालानुबन्धी मृदु स्वभूत के गोगो की निर्धारणा में होता है।

निधिश्च धमता

१. अन्य व्यक्ति के जगीर में प्रतियोगी को उत्पत्ति।
२. अलाकालिका।
३. एर्ट प्रतिक्रिया नहीं।
४. सक्षम इमीका के प्रयोग से शोप्ता धमता उत्पन्न।
५. उग्र व्याधि के सशमनार्थ प्रयोग।

प्रतिजन तथा प्रतियोगी (Antibodies)

जो द्रव्य शरीर की कोषाओं में प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न करने में प्रेरक होते हैं, उन्हें प्रतिजन कहते हैं।

विजातीय द्रव्य और विजातीय प्रोटीन (Proteins) आदि के प्रयोग से शरीर में व्यापक प्रतियोगी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यदि प्रतिजन विशिष्ट श्रेणी के होते हैं अर्थात् किसी एक व्याधि के ही प्रेरक होते हैं, तो उनसे विशिष्ट प्रतियोगी द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, अन्यथा सामान्यरूप से शरीर की प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है।

प्रतियोगी द्रव्य—प्रतिजनों की क्रिया के फलस्वरूप आक्रान्त व्यक्ति के शरीर में कोषाओं के द्वारा जो रक्षक द्रव्य उत्पन्न होते हैं तथा जो प्रतिजनों के साथ सयुक्त होकर उनके विषेले परिणाम को नष्ट कर देते हैं, उन्हें प्रतियोगी द्रव्य कहते हैं।

व्यापक क्षमता-उत्पादक द्रव्य

१ प्रोटीन वर्ग—दुध प्रोटीन (Milk proteins), पेप्टोन (Pepton), लसिका प्रोटीन (Serum proteins), मसूरी (Vaccines), रक्त (Blood)।

२ धातु तथा उपधातु (Heavy metals)—मैग्नीज, रजत, सुवर्ण, आयोडीन (Iodine), कैल्सियम (Calcium)।

३ तेलजातीय द्रव्य—क्षोभक तेल (Oils with tissue irritant properties), जैसे—तारखीन का तेल, कपूर, जैतून के तेल से मिला क्रियोजोट, तुवरक तेल इत्यादि।

बक्तव्य—सुवर्ण, रजत आदि धातु तथा तेल द्रव्यों का प्रयोग किये जाने पर शरीर की प्रतिकारक शक्ति सामान्यतया पहले की अपेक्षा प्रबल हो जाती है।

रोगक्षमता के क्षास या हीनता जन्य रोग

पूर्व के अवशाधिक्रम शरीर शीर्षक में यह कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति कृष्ण, दुर्वल और हीन मनोवल के होते हैं, उनमें रोगक्षमता अल्प होती है और वे अल्प कारण की उपस्थिति में ही रोगक्रान्त हो जाते हैं। आचार्य चरक ने आठ निन्दित पुरुषों में कृष्ण की गणना की है और कृष्ण व्यक्ति रोगक्षमता-विहीन होता है, जिससे वह प्लीहारोग, कास, राजयक्षमा, श्वासरोग, गुलम, अर्श, उदररोग और प्रहृष्टरोग से सहज ही में आक्रान्त हो जाता है।^१

१. प्लीहा कास क्षयः श्वासो गुलमोऽशास्त्रुदराणि च ।

कृष्ण प्रायोऽभिषादवन्ति रोगाश्च ग्रहणीगता ॥ चरक० सूत्र० २१।१४

कृष्टानाशक सूत्र—

स्वप्नो इर्षः सुखा शथा मनसो निर्वृति. शम. । चिन्ताव्यवायव्यायामविराम. प्रियदर्शनम् ॥
अचिन्तनाच्च कार्याणां भ्रुव सन्तर्पणैन च । स्वानप्रमङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्टि ॥
च० स० २१।२९,३४

रोगक्षमता की कमी से सक्रामक रोग भी धर दबोचते हैं। जैसे ३ वर्ष से १० वर्ष की आयु के बच्चों में स्कालॉट फीवर हो जाता है। बच्चों को अक्सर ही हूपिंग कफ (Whooping cough) घेर लेता है। विसर्प (Erysipelas) और रोहिणी (Diphtheria) भी सहज ही हो जाते हैं। इसी तरह वयस्कों में आन्त्रिक ज्वर (Typhoid fever), अतिसार (Dysentery), वैसिलरी डिसेण्ट्री, उणवात (Gonorrhoea), उपदश (Syphilis), चेचक आदि सक्रामक रोगों का आक्रमण हो जाना है।

वक्तव्य—प्राथमिक और द्वितीय व्याधिक्रमित्व हीनता-जनित विकार एवं उपचार के लिए नव्य चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।¹

1 Primary acquired agammaglobulinaemia has been found equally in males and females. They have an unusually high incidence of auto-immune disease, such as pernicious anaemia, haemolytic anaemia etc. A prominent and frequent complication is a sprue-like syndrome and giardia lamblia infection is common. Another distinguishing feature of the variable form is the frequent occurrence of non-caseating granulomas, especially in lungs, liver, spleen and skin.

As the different immunoglobulins have different functions, deficiencies might be expected to produce different clinical pictures. This IGM deficiency is possibly associated with meningococcal meningitis and lack of IGA with gastro-intestinal or respiratory infections. In the absence of IGA the lowered resistance would permit invasion of the normally sterile upper gut by bacteria, some of which would produce decomposition of bile salts and thus affect the absorption of fat causing malabsorption with steatorrhoea.

Secondary immuno-deficiency

Immunoglobulin deficiency may arise also in adults as a result of abnormal metabolism of serum proteins as occurs in uraemic patients in whom susceptibility to infection is increased. Diseases such as sarcoidosis and Hodgkin's disease are associated with a depression mainly of cell mediated hyper sensitivity.

Treatment of immuno-deficiency

Immunoglobulin injections (0.250 g/kg body weight per week, consisting mainly of Ig G) can provide effective protection against severe, recurrent pyogenic infections in patients with various types of hypo or agammaglobulinaemia.

—Principles and Practice of Medicine John Macleod
12th ed , p 6-37

रक्त-रस या लसीका चिकित्सा (सीरम थिरेपी Serum Theraphy)

शरीर को किसी रोग से आक्रान्त होने और उत्पन्न रोग के विनाश से बचाने में लसीका की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लसीका रोगप्रतिबन्धक और रोगविनाशक दोनों हैं। लसीका के प्रयोग से रोगक्षमता की वृद्धि होती है।

लसीकासाध्य रोग

१. रोहिणी, धनुर्वाति और वातकर्दम (Gas gangrane) में प्रतिविष लसीका प्रयोग,

२. मलाशयी दण्डाणुजन्य उपसर्ग (B Coli infections) में प्रतिरूपाणवीय (Anti bacterial) लसीका का प्रयोग,

३. विसर्प, विसूचिका, मस्तिष्क सुपुम्ना ज्वर, श्लेष्मोल्वण सन्निपात तथा दण्डाणवीय अतिसार इत्यादि में मिश्रित लसीका का प्रयोग;

४ रोमान्तिका एवं शैशवीय अग्धात में सन्निवृत्त लसीका का प्रयोग किया जाता है। और—

५ रक्तस्रावी रोगों में रक्तस्तम्भक लसीका का प्रयोग किया जाता है।

६ मर्पदण में प्रतिविष लसीका का प्रयोग किया जाता है।

प्रयोग-मार्ग—लसीका का प्रयोग अधिकतर पेशीमार्ग से किया जाता है। आवश्यक होने पर सिरा द्वारा भी देते हैं।

मात्रा—रोग की स्थिति के अनुसार मात्रा का निश्चय किया जाता है। सामान्यतया पहले अत्यर्थ मात्रा में देरुर सहनशीलता एवं अनुकूलता की परीक्षा करते हैं। सहा होने पर प्रारम्भ से ही उच्च मात्रा का प्रयोग अधिक लाभप्रद होता है।

फलथुति या उपलब्धि—लभीका के प्रयोग से सद्य रोगक्षमता की उपलब्धि होती है, जिसमें शरीर में सचित विपो का विनाश होकर रोग की तत्काल निवृत्ति होती है। अत उपयोगिता के अनुमार प्रारम्भ में ही पर्याप्त मात्रा में लसीका का प्रयोग करना चाहिए। रोग के बढ़ जाने पर लसीका के प्रयोग से जीवाणु-विपो का नाश होने पर भी उनके द्वारा उत्पन्न शारीरिक विकृति का परिष्कार नहीं हो पाता। रोहिणी में अग्धात, हृदयनिपात तथा धनुर्वाति में अनुव्यताजनित व्रण, मूल व्याधि के ठीक होने पर भी बहुत समय तक कष्ट देते रहते हैं।

लसीका के प्रयोग से सावधानी—कई बार लभीका-प्रयोग से असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न हो जाने हैं। अत प्रयोग के पहले निम्ननिर्दिष्ट सावधानी बर्तनी चाहिए।

१ अनुर्जताजनित (Allergic) रोगों में भरसक लसीका को प्रयोग नहीं उन्ना चाहिए क्योंकि उनमें गश्मनेदनता (Sensitiveness) होती है।

२ पूर्व मे किसी लसीका-माध्य रोग मे लसीका का प्रयोग किया गया हो, तो उन लसीका न दे, क्याकि इससे सूक्ष्मवेदनता के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

३ अधस्त्वगीय एव पेशीगत की अपेक्षा सिरान्तर्गत मे प्रतिक्रिया होने की सभावना अधिक होती है।

४ जिन रोगो मे बार-बार लसीका देने की आवश्यकता हो, जैसे—रोहिणी या धनुर्वाति, उनमे प्रयोग के पहले ही नेत्र एव त्वचा कसौटियो द्वारा सूक्ष्मवेदनता का निर्णय कर लेना चाहिए।

नेत्रं-कसौटी—रुग्ण के नेत्र मे १ बूँद लसीका डालने पर ३० मिनट के भीतर कण्डू, अशुस्त्राव और रक्तिमा उत्पन्न होकर सूक्ष्मवेदनता की पुष्टि होती है। यदि एक घण्टे के भीतर कोई कष्ट न हो, तो लसीका का प्रयोग किया जा सकता है।

त्वचा-कसौटी—अधस्त्वगीय मार्ग से १ बूँद लसीका देने पर ५ से २० मिनट के भीतर मूचीवेध के स्थान पर शीतपित के सदृश चकत्ता उत्पन्न हो जाता है।

यदि चकत्ता न उत्पन्न हो तो पूर्ण मात्रा मे केवल क्रजु लवण जल (Hypotonic saline) मे मिलाकर प्रविष्ट करना चाहिए।

लसीका रोग

(Serum Sickness)

चिकित्सा मे लसीका का उपयोग करते समय विजातीय प्रोभ्रूजिन (Proteins) की प्रतिक्रिया के समान असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसे लसीका रोग कहते हैं।

सूक्ष्म सवेदनशील (Sensitive) व्यक्तियो मे पूर्वोक्त मावधानी का पालन न करते हुए लमीका का प्रयोग किये जाने पर निम्नलिखित दुष्परिणाम होते हैं—

(क) तात्कालिक—जिनमे पहले लसीका का प्रयोग हो चुका है या जो एलजिक रोगो से पीडित है, उनमे पहले से ही असहनशीलता विद्यमान रहती है। ऐसे रोगियो मे औपध-प्रयोग के २-४ मिनट बाद से आधे घण्टे के भीतर अधोलिखित स्वरूप के भयानक लक्षण उत्पन्न होते हैं—भासकृच्छ्र, प्राणावरोध, श्यावाङ्गता, श्लेष्मकलाज्ञीय, शीतपित्त चकत्ते या विस्फोट, आक्षेप, निपात तथा मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है।

(ख) त्वरित—यदि प्रतिक्रिया तत्काल न उत्पन्न होकर २४ घण्टे मे ७२ घण्टे के बीच उत्पन्न हो और लक्षण पूर्ववत् मिले तो उभे भी लसीकाजनित प्रतिक्रिया ही माना जाता है। अत लमोका प्रयोग के बाद रोगी को त्वरित प्रतिक्रिया-प्रतिपेध के लिए कुछ औपविधा पहले मे दे देनी चाहिए।

(ग) विलम्बित या सामान्य लसीका रोग—लमोका का प्रयोग मिन द्वारा करने के ६ मे १४ दिन के भीतर यह नियति होती है। पूर्व लसीका-प्रयुक्त व्यक्तियो मे पुन प्रवृक्त होने पर जिस एवार प्रतिक्रिया होती है, उसी एवार महज गूदवेदा निकिया भी मी पाए गाह एवार म्बन त्रांक्र प्रतिक्रिया हो नहीं।

लक्षण—हृत्तलाग, वगन, गन्धियोग, सन्धिशोय, शीतपित, ज्वर, लसग्रन्थिशोथ, मूत्राल्पता, शिर शूल, प्रारम्भ में एवं तकायाणुओं की वृद्धि किन्तु अन्त में अपकर्प, ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सा

लमीकारोग-प्रतिपेध के लिए आवश्यक होने पर निम्नलिखित क्रम में लगीका का प्रयोग करना चाहिए—

१ रोगी को अल्पतम मात्रा १ बूँद लमीका को १० बूँद लवणजल में मिलाकर अधस्त्वक् भार्ग से देफर धीरे-धीरे प्रतिक्रिया जान्तु होने पर, क्रम से १-१ घण्टे पर १-१ बूँद बढ़ाना चाहिए।

२ यदि सभब हो तो प्रतियोगी भकेन्द्रित लमीका (Globulin antibody concentrate) काम में लायी जाय। इसमें अत्प लमिका में ही अधिक गत्ति होती है तथा इससे लमीकारोग अपेक्षाकृत कम होता है।

३ लमीकारोग में प्रारम्भिक प्रयोग के ७-१० दिन बाद प्रतिक्रिया होती है। अत जिन रोगों में केवल एक मात्रा के प्रयोग में ही चिकित्सा पूर्ण हो जाती हो, उनमें भी आवश्यकता के बिना ही मात्र दिन के पूर्व एक बार और लमीका का प्रयोग करना चाहिए।

औषध-प्रयोग—१ एट्रोपीन (Atropine) १५० म्रेन, एड्रीनलीन (Adrenalin) $\frac{1}{2}$ मे १ सी० सी० या एपीनेफिन (Apinephrine) $\frac{1}{2}$ से १ सी० सी० मिलाकर तुरन्त पेणीगत सूचीवेध के रूप में प्रयोग करें।

२ अनुर्जतानाशक (Anti-histaminic—Antihistin, Benadryl etc.) योग तथा जीवतिक्ति (Vitamin) 'सी' के साथ कैलशियम के योगों का पेशीभार्ग से उपयोग प्रथम प्रयोग के आधा घण्टा बाद करना चाहिए।

३ कैलशियम ग्लूकोनेट (Cal gluconate vitamin 'C') १०% १० सी० सी० का सिरा द्वारा प्रयोग सख्ता १ के प्रयोग के चार घण्टे बाद करना चाहिए।

४ हृदयदीर्घत्य में हृदयोत्तेजक औषध का प्रयोग करें।

५ हाइड्रोकार्टिजोन (Hydrocortisone) १०० मिं ग्रा० की मात्रा में मिरामार्ग से दे।

अनुर्जता

(Allergy)

परिचय—कुछ लोग स्वभावत किन्ही परिस्थितियों, आहार-विहारों, औषध-द्रव्यों, रोजमर्री की जिन्दगी में प्रयुक्त किये जानेवाले खाद्य-पेय पदार्थों, सामान्य ऋतु-परिवर्तनजनित वातानरण, जनसमागम, मम्मेलन, गोप्ठी और सहज जीवन समस्याओं के समाधान-चर्चा में उद्विग्न, क्षुब्ध और असहनशील जैसे दीखते हैं। वे प्रातो व्रश्चगत अवर मन में जोने हैं तथा मामाजिकता में गृन्थ होते हैं।

छोटी-सी बात को लेकर तिल का टाड बना देते हैं और आधी डिग्री टेम्परेचर बढ़ जाने पर सिर पर पहाड़ उठा लेते हैं। यदि उन्हे एक ग्रेन विवनीन का सेवन करा दिया जाय, तो कानों में आवाज, शिर में चक्कर, वैचैनी, वमन आदि विषये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। वे रक्त की कुछ वौद देखकर घबड़ाने लगते हैं।

ऐसे व्यक्ति को असहिष्णु या एर्लिंजिक कहते हैं। कौन व्यक्ति किस आहार-विहार या औषध के प्रति असहिष्णु है, यह तो उन द्रव्यों के प्रयोग काल में अल्प-मात्रा में सेवन कराकर ही जाना जा सकता है। अत बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि किसी नवीन औषध का प्रयोग करते समय प्रारम्भ में अल्पमात्रा में ही प्रयोग करे। कई बार विना प्रकृति-परीक्षण किये औषध-प्रयोग से रोगी की जीवनलीला समाप्त हो जाती है। पेनिसिलीन में अनजाने किरणे लोग यमलोक मिधार गये।

ध्यान देने योग्य कुछ बातें

१ अनूर्जता में कुलज प्रवृत्ति होती है, जो एक सहज स्वभावगत मानसदीर्घत्य है। मन्त्रति में उमकी अभिव्यक्ति अनेक लक्षणों के रूप में हो सकती है। यदि माना-पिता नामा-परिस्त्राव या अपरस से पीड़ित हैं, तो सन्तान श्वास का रोगी हो सकती है अर्थात् कुलज रोग या उससे मिलते-जुलते रोग सन्तान में देखे जाते हैं। उक्वत (विचरिका) रोग कई पीड़ियों तक की सन्तानों में होता रहता है।

२ विषम मात्रा में असात्म्य द्रव्यों का सेवन करने से अनूर्जता उत्पन्न हो सकती है। यदि क्रमवृद्धि से असात्म्य द्रव्यों का सेवन कराया जाय, तो वे द्रव्य मात्र्म हो जाते हैं।

३ मध्यी समय, किसी व्यक्ति में अनूर्जता के लक्षण एक जैसे न होकर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

४ वातावरण में परिवर्तन होने पर त्वचा या श्लेष्मलक्ला में क्षोभ या शोथ के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

५ त्वचा, श्वसनमार्ग या महास्रोत मार्ग से या मूचीवेध के द्वारा अमात्म्य द्रव्यों द्वारा शरीर में प्रवेश होने पर प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। वसन्त क्रतु आने पर या शरद के आगमन पर प्रतिक्रिया लक्षित होती है।

अनूर्जता की बूद्धि

१ जान्तव वन्यों का यथा—गिलहरी की रोयेदार खाल, रेयन, रवर आदि के विभिन्न उपयोग; पश्यों के पंखों या गदानविया, ऊन आदि का प्रयोग, जन्तुओं, जैसे—पिल्ली-कुत्ता-गिलहरी-योड़ा के नम्रकं—इन सबसे अनूर्जता की बूद्धि होनी है।

२ कुकज प्रवृत्ति—यह एक प्रमुख अनूर्जता घा बान्धक है।

३ यातावरण—जीत या उपज नौनम का हेर-फेर होना—कुछ नम्र गर्भ, पिर नर्दी पूना, प्रवैदेन, धूल और धूलद्युक्त यातावरण से नियास नया कुम्भ-गर्भी गोमानिया, उन्नुग्रन्थि ने आज्ञालृ होना ये नव अनूर्जतावर्धक जान्त हैं।

४ आहार में विटामिनों की कमी से यह बढ़ती है ।

५ औषध अनुर्जता—जैसे वारावरण में फैले हुए विविध वस्तुओं के मूक्षम कण जब नासामार्ग, मुखमार्ग, श्वासपथ, न्यूचना या आभ्यन्तर महाल्लोतम् में शरीर में पहुँचकर अपनी एण्टेजेनिक शक्ति से विशिष्ट प्रकार के शरीर-प्रतियोगी (Antibodies) तत्त्वों की उत्पत्ति को प्रोत्साहन देते हैं, उभी प्रकार औषधें भी (यथा -- Aspirin और P A S) शरीर में पहुँचकर अनुर्जतामूलक प्रतिक्रिया को उत्पन्न करती हैं, जो शरीर-कोपों की क्रिया को अस्त-व्यस्त कर विकृतिजन्य लक्षणों को जन्म देती हैं ।

अनुर्जता जनित रोग

(Allergic Diseases)

सामान्यतः होनेवाले रोगों में नासाशोथ, नासापरिस्थाव और क्षवथु (Watery nasal discharge and sneezing), नासापाक (Rhinitis), शीतपित्त (Urticaria), त्वक्शोथ, दन्तपक्किशोथ या दाँतों में खोड़ला होना (Alveolitis), तृणगन्धजवर, श्वसनिका-श्वासरोग (Bronchial asthma), फुफ्फुसीय दमा (Pulmonary asthma) और अपरस आदि प्रमुख हैं ।

अनुर्जता की प्रकृतिवाले व्यक्तियों में समय-समय पर इन रोगों का पुनरावर्तन होता रहता है । जो व्यक्ति अपरस से पीड़ित होकर रोगमुक्त हो जाय, तो उसे श्वासरोग होते देखा गया है ।

चिकित्सा—पूर्वलिखित त्वक्-कसीटी के द्वारा असात्म्य वस्तु के निर्णय के पश्चात् अल्पतम मात्रा में उसका सेवन प्रारम्भ कर क्रमिक रूप से मात्रा बढ़ानी चाहिए । धीरे-धीरे सात्म्यरा (अनुकूलरा) उत्पन्न करने से असात्म्य द्रव्यों के प्रति अनुकूलरा या सहनशीलरा उत्पन्न हो जाती है ।

अनुर्जताजनित रोगों का उपचार उन-उन रोगों की चिकित्सा में निर्दिष्ट प्रकार से करना चाहिए ।

चिकित्सक प्रेरित विकारों के प्रकार, उनका सामान्य परिचय और प्रतिकार

चिकित्सा-कर्म एक पुण्यतम कार्य है और किसी रोगी की वेदना को दूर कर उसे आरोग्य प्रदान करनेवाला चिकित्सक चिकित्सा में कारण कहा गया है । उसका यह नीतिक कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम यह विचार करे कि क्या मैं रोगी को वर्तमान व्याधि से मुक्त करने में समर्थ हूँ, अथवा नहीं? यदि वह अपने को असमर्थ समझे, तो रोगी को उस रोग के विशेषज्ञ के पास चिकित्सा करने के लिए जाने को कहे ।

स्वगुण-सम्पन्न चिकित्सक ही रोग का निराकरण करने में समर्थ हो सकता है । चिकित्सक में—(१) शास्त्र का परिष्कृत ज्ञान, (२) प्रत्यक्ष चिकित्सा-कर्माभ्याम,

(३) कुशलता—सकट को दूर करने की क्षमता, (४) पवित्रता, (५) हस्त-कीशल, (६) चिकित्सा के उपकरणों की सम्पन्नता, (७) सर्वेन्द्रिय-सम्पन्नता, (८) रुग्ण और रोगी की प्रकृति का ज्ञान और (९) किसी आत्मयिक स्थिति में सकट को झटपट दूर करने की सूझ-वूझ, ये गुण होने चाहिए। इन गुणों से युक्त चिकित्सक अपने कर्तव्य का यथोचित पालन करने में समर्थ होता है।

उक्त के विपरीत कुछ ऐसे भी (रोगाभिसर) चिकित्सक देखे जाते हैं, जो शास्त्रज्ञान और क्रियाज्ञान से शून्य होते हैं, किन्तु अपनी वेशभूषा, आडम्बरपूर्ण वाग्-व्यवहार के चलते अपने को कुशल चिकित्सक ख्यापित करते हैं। रोगियों का पता लगाकर उनके सगे-सम्बन्धियों की चापलूसी कर, उन्हे अपने पक्ष में कर अपनी चिकित्सा-सफलता की डीग हाँककर, रोगी की चिकित्सा का अवसर प्राप्त कर लेते हैं। न तो उन्हे शारीर, न शरीर-क्रिया और न ही विकृति-विज्ञान का ज्ञान होता है। न तो वे सही निदान कर सकते हैं और न रोगानुकूल औषध की व्यवस्था कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में अपने स्वल्प ज्ञान के भरोसे जैसे-तैसे समय विताते हैं। यदि रोगी की दशा विगड़ती देखते हैं, तो सिर पर पाँव रखकर पलायित हो जाते हैं। ऐसे लोगों की चिकित्सा अटकलपच्चूवाली होती है—‘लहा तो तीर नहीं तो तुक्का’। वे अनजाने में ही सब कुछ करते हैं, उन्हे अजाम से कोई मतलब नहीं—

‘यस्य कस्य तरोमूल येन केनापि मिश्वितम् ।
यस्मै कस्मै प्रदातव्य तद्वा तद्वा भविष्यति’ ॥

यही उनका लक्ष्य होता है। ऐसे अज्ञ जनों के हाथ में अपने जीवन-रथ की रास थमा देना खतरा मोल लेना है।

अस्तु, कदाचित् योग्य चिकित्सक भी असावधानीवश भूल कर वैठते हैं, जिससे निम्न प्रकार की अनेक विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं—

१ कभी रोग का वास्तविक निदान न हो पाने के कारण उचित चिकित्सा व्यवस्था नहीं हो पाती और अनुचित औषधे खिला दी जाती है, गलत सूचीवेद्ध लगो दिया जाता है अथवा अवाञ्छित शल्यक्रिया कर दी जाती है।

२ कभी औषध की अधिक मात्रा दे देने से उपद्रव उठ खड़े हो जाते हैं और कभी अत्प मात्रा में देने से कोई लाभ नहीं हो पाता।

३ कभी गर्भ को गुल्म समझकर भ्रूण की हत्या हा जाती है या किसी अवाञ्छित अग की शल्यक्रिया हो जाती है।

४ कभी आवसीजन का गलत प्रयोग एवं कभी एनीस्थीसिया का अनुचित प्रयोग कर दिया जाता है।

५ कभी शिरावेद्ध या कटिवेद्ध की क्रिया गटवड हो जाती है।

६ कभी पञ्चकर्म का अति-दीन-मिथ्यायोग होने से सकट उपस्थित हो जाता है और विविध सकट आ पड़ते हैं।

७ कभी स्नेहन-स्वेदन या ससर्जन क्रम के व्यतिक्रम से होनेवाली प्रतिक्रिया की विषदा झेलनी पड़ती है—

‘गच्छत सखलन क्वापि भवत्येव प्रमादत्।’

यह उक्ति सत्य है। बहुत सावधानी बरतने पर भी किरनी अनहोनी घटनाएँ हो जाती हैं या चिकित्सक और उसके सहयोगी जनों के प्रमाद से त्रुटिपूर्ण चिकित्सा का विधान या शल्यकर्म में त्रुटि हो जाती है। कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि आपरेशन की छुरी भीतर ही छूट गयी और ब्रण का सीवन कर दिया गया।

अत चिकित्सक के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के निर्वाह में रचमात्र भी असावधानी जानलेवा हो सकती है। इसलिए पूर्ण निष्ठा और जागरूकता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

किसी औषध के प्रयोग के समय सम्भावित प्रतिक्रिया (Reaction) तथा उसके निराकरण का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार शल्यकर्म के समय समग्र उपकरण तथा योग्य सहायकों का होना आवश्यक है। किसी भी प्रकार के उपद्रव का तत्काल शमन करने के लिए पहले से ही उपयोगी सामग्री तैयार रखनी चाहिए।

कतिपय उदाहरण

फुफ्फुसावरण से द्रव निकालना (Plural tapping)—

फुफ्फुसावरणशोथ में सूचीबेध द्वारा द्रव का निष्कासन किया जाता है, जिसके प्रयोग से व्यवधान या बाधा उपस्थित हो सकती है। जैसे—

वायु का प्रवेश होना (Air embolism)—

यह सम्भव है, कि फुफ्फुसीय तरल निकालते समय सूचीबेध करने में सूची का भाग हार्दिकी धमनी अथवा फुफ्फुसीय सिरा में पहुँचकर वायु का भरण कर दे। हार्दिकी धमनी में वायु का सभरण होने पर वेहोशी, श्वास, मूच्छा, हृदयकाय-विरोध आदि भयकर लक्षण हो सकते हैं।

चिकित्सा—(१) तरल निकालने का कार्य तत्काल बन्द करे। (२) रोगी का शिर नीचे कर दे। (३) शर-प्रतिशर आँकसीजन चिकित्सा आरम्भ करे। (४) मार्फिया के किसी इञ्जेक्शन का प्रयोग न करे। (५) श्वासक्रिया-केन्द्र को अवसादित करने की क्रिया करे।

फुफ्फुसावरण की कलाजन्य व्यापत् (Plural shock)—

फुफ्फुसावरणकला से द्रव निकालते समय वेधनकाल में वेगस नाड़ी की क्रिया-हानि होने से मूच्छा (Syncop) हो सकती है एवं बाहरी वायु के प्रवेश से भी मूच्छा हो सकती है।

चिकित्सा—१ १० से १५ मि० ग्रा० मार्फिन का मासगत सूचीबेध से प्रयोग करना चाहिए।

२ श्वासक्रिया को कम करने के लिए निकेथामाइड का शिरागत इञ्जेक्शन देना चाहिए।

३ वेगस नाड़ी के प्रभाव को कम करने के लिए १ मि० ग्रा० एट्रोपीन और ५० मि० ग्रा० पेथीडीन मिलाकर प्रयोग करे। इससे रोगी की स्थिति सुरक्षित रहती है।

अनुचित वायु-प्रवेश या फुफ्फुसीय सक्रमण—

फुफ्फुसावरण से द्रव निकालने में यन्त्र का ठीक टग से प्रयोग न करने से भीतर प्लूरा या उसके अन्य भाग में संक्रमण हो सकता है। ऐसी स्थिति में सक्रमण विरोधी या पूयभरण विरोधी उपचार करना चाहिए।

आमाशय में नली डालना—

वेहोश रोगियों में नासिका द्वारा आमाशय तक नली डालकर द्रव-आहार पहुँचाया जाता है। होश रहने पर श्वासनली में ट्यूब जाने पर रोगी को इतना कष्ट होता है कि वह छटपटाने लगता है। कभी-कभी द्रव-आहार भरने से बड़ी विपर्य परिस्थिति हो जाती है और द्रव जब फुफ्फुसों में चला जाता है तो श्वास की अधिकता और तीव्र शोथ एवं वेदना होती है। कदाचित् रोगी वेचैन हो उठता है और प्राणनाश का सकट आ पड़ता है। आमाशय-प्रश्नालनार्थ ट्यूब डालने में यह त्रुटि हो सकती है।

चिकित्सा— १ यह ध्यान दे कि ट्यूब डालते समय नली आमाशय में पहुँची या नहीं।

२. प्रति बार द्रव-आहार डालने से पूर्व ट्यूब को चेक कर लेना चाहिए।

३ एक बार में ६ अौंस तक द्रवाहार धीरे-धीरे डाले।

४ शिर को ६ से ९ इच्छ तक ऊँचा उठाकर ट्यूब में द्रव डाले।

५ यदि द्रव श्वासप्रणाली में चला जाता है, तो रोगी को पसीना छूटने लगता है। ऐसी हालत में भीतर का सब द्रव बाहर निकाल दे। आवश्यकता पड़ने पर यन्त्र द्वारा चूसना चाहिए (By bronchoscopy and suction)।

६ एण्टीवायोटिक्स का प्रयोग कर फुफ्फुस को रुग्ण होने से बचाना चाहिए।

अष्टम अध्याय

क्षुद्र-रोग

‘क्षुद्र शब्द की निरूपि—१ ‘क्षुदिर् मम्पेषणे’ (र० उ० अ०) धातु से उणादि सूत्र से रक्त प्रत्यय होने पर क्षुद्र शब्द बनता है, जिसका शाविक अर्थ है—पीसनेवाला ।

२ ‘क्षुदिर् सञ्चूर्णने’ (र० उ० अ०) क्षुद्यते वा ।

पर्याय^३—दरिद्र, कृपण, निकृष्ट, अल्प, नृशस, कदर्य, क्षुद्र, अधम, क्रूर—ये सभी समानार्थक शब्द हैं ।

कुछ लोग क्षुद्र का अर्थ रौद्र और अन्य लोग बालक भी कहते हैं ।

आयुर्वेद के सन्दर्भ में ‘क्षुद्र’ की परिभाषा

(१) जिन रोगों का वर्णन सक्षिप्त निदान, लक्षण और चिकित्सा के साथ किया गया हो, उन्हें क्षुद्ररोग कहते हैं ।

(२) जिन रोगों को लघु समझकर स्वतन्त्र अध्यायों में वर्णित नहीं किया गया हो, ऐसे लघु रोगों के वर्ग को क्षुद्ररोग कहते हैं ।

(३) क्षुद्र का अर्थ भयकर और नीच भी है । जिस वर्ग में अन्निरोहिणी जैसे भयकर और पलित जैसे नीच रोगों का वर्णन हो, उसे क्षुद्ररोग कहते हैं ।

(४) छोटे और दोष-दूष्य आदि का विचार जिनमें नहीं किया गया हो, ऐसे रोगों को क्षुद्ररोग कहते हैं ।

(५) कुछ लोग क्षुद्र का अर्थ बालक से लगाते हैं और बालकों को होनेवाले रोगों को क्षुद्ररोग कहते हैं । किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि इनमें से अधिकाश रोग वयस्कों को भी होते हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ—(१) सुश्रुत (निदान० अ० १३) ने ४४ रोगों का, वाग्भट (उत्तर० अ० ३१) ने ३६ रोगों का, तथा माधव (क्षुद्ररोगनि०) ने ४३ क्षुद्र^४ रोगों का वर्णन किया है ।

(२) वाग्भट ने सुश्रुतोक्त कुछ रोगों को अन्य नाम दिया है, जैसे—इन्द्रविद्वा को विद्वा, अधालजी को अलजी, मषक को माप और न्यच्छ को लाञ्छन कहा है ।

इन्द्रलुप्त, पलित, दारुणक और अरूपिका का शिरोरोगाध्याय में तथा

१ ‘कदर्ये कृणक्षुदकिम्पचानमितम्पचा’ । अमर० ३।१।४८ पर रामाश्रमी टीका ।

२ ‘क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयो’ । हेमचन्द्र । रामाश्रमी अ० ३।१।४८ तथा ‘क्रूरेऽधनेऽल्पेऽपि क्षुद्र’ । अमर० ३।३।१७७ । एवं ‘क्षुद्र स्यादधनक्रूरकृपणाऽल्पेषु वाच्यवत्’ । विश्वकोष अमर० ३।३।१७७ रामाश्रमी ।

परिकर्तिका, अवपार्टिवा और निरुद्धप्रकश का गुस्सरोगाध्याय में एवं अहिपूतना का वालामय में वर्णन किया गया है।

अनुग्रामी, रक्तगा पाददार्जिका, वृषणउच्च और गुदध्रेश का उल्लेख नहीं किया है।

गदंभी, गन्ध, गन्धनामा, नाजिका प्रसुप्ति, इच्छेलिङ्गा, उत्कोठ और कोठ ना अधिक वर्णन किया है।

(३) सुश्रुत ने पामा और विच्चिका को क्षुद्ररोगों में और कुष्ठभेद में भी वरलाया है, जब कि यारभट और माधव ने उनका उल्लेख कुष्ठ में ही किया है।

(४) माधव ने मसूरिका और विरफोट ना पृथक् अध्यायों में विश्वार में वर्णन किया है, जब कि सुश्रुत एवं वारभट ने उन्हें क्षुद्ररोगों में गिना है।

(५) माधव ने उत्कोठ और कोठ का भी पृथक् अध्यायों में वर्णन किया है।

(६) माधव ने सुश्रुतोक्त रजना एवं वारभटोक्त राजिका और प्रसुप्ति को छोटवर नीलिका और वाराहदप्ट, उन दो गोगों का अविक उल्लेख गिया है।

(७) मूर्यिकाकर्ण, मुष्टिशोथ और फलाया आदि गुच्छ अन्य गोगों का भी गोज-सहिता आदि में उल्लेख मिलता है।

अत उन क्षुद्ररोगों की मरणा अधिक भी हो सकती है। इसी अभिप्राय से सुश्रुत ने मक्षेप में चौवालीम क्षुद्ररोगों को वरलाया है—‘समासेन चतुश्रत्वार्णित् क्षुद्ररोगा भवन्ति’। (नू० नि० १३)

१. अजगलिलका-लक्षण

यह कफ और वात दोष में वालकों में उत्पन्न होने वाली मृग के दाने के समान पिडका होती है, जो मिन्ध, त्वचा के समान वर्णवाली, गाँठदार और वेदनाविहीन होती है।

चिकित्सा—

१ अपवावस्था में जोक द्वारा रक्तनिर्हरण तथा सीप की भस्म, सज्जीखार, यवाखार को एकत्र पीमकर जल मिलाकर वारम्बार प्रलेप करे।

२ तरुणावस्था में कर्टिं में या सूची की नोक से वेद्ध करने से या तुतमलगा को पानी में भिगोकर लेप करने में पककर मूख जाती है।

३ खाने के लिए ‘इन्दुकला वटी’ (मै० २०) १०० मि० ग्रा०/१ मात्रा मवेरेणाम मधु या दूध से दें।

२. यवप्रख्या-लक्षण

कफ और वात से मास में होने वाली, यव के आकार की, स्पर्श में अधिक कठिन, गाँठदार पिडका को यवप्रख्या कहते हैं।

चिकित्सा—

१ मैदा लकड़ी, मुसव्वर और आमाहलदी का लेप लगावें।

२ खाने के लिए काञ्चनार गुरगुलु उचिन मात्रा म सवेरे-शाम देवे।

३. अन्धालजी-लक्षण

कफ एवं वात से उत्पन्न, कठिन, मुखरहित, उठी हुई, मण्डलाकार और अल्पपूय युक्त पिंडका को अन्धालजी कहते हैं।

चिकित्सा—इसमें स्वेदन करके देवदारु, मैनसिल और कूठ को पीसकर लेप करना चाहिए।

४ विवृता-लक्षण

पित्त से उत्पन्न खुले-फैले मुखवाली, दाहयुक्त, पके गुलर के फल के समान वर्णवाली और चारों ओर से घेरे में विरो पिंडका को विवृता कहते हैं।

चिकित्सा—

१ शतधीतधृत में सोनागेरु मिलाकर लेप करे अथवा लालचन्दन, मुलहठी, देवदारु, मजीठ और खश को समभाग लेकर पीसकर लेपु करे।

२ खाने के लिए 'नवकगुगुलु' (भै० २०) का प्रयोग करे।

५. कच्छपी-लक्षण

कफ तथा वात से उत्पन्न, मध्य में कछुए की पीठ के समान उन्नत, पाँच-छ सख्या में होने वाली, दारुण व्यथायुक्त पिंडका को कच्छपिका कहते हैं।

चिकित्सा—स्वेदन कर देवदारु, मैनसिल और कूठ पीसकर लेप करे।

६. वल्मीक

वात-पित्त-कफ से उत्पन्न, सूई चुभाने जैसी वेदनायुक्त, साव-दाह-कण्ठयुक्त, वल्मीक के स्वरूप की, धीरे-धीरे बढ़नेवाली, हाथ-पैर के तलवे में, ग्रीवा और जन्तु के ऊपर होनेवाली, व्रणों से व्याप्त गाँठ को वल्मीक कहते हैं।

चिकित्सा—वल्मीक को शस्त्र से चीरकर गाँठ को निकाल दे, फिर क्षोर या अग्नि में दब्ध करे। यदि मर्मस्थान में न हो तो रक्तमोक्षण करना चाहिए। तत्पश्चात् मन शिलादि तेल लगावे।

योग—मैनसिल, हड्डाल, भिलावा, छोटी इलायची, अगर, लालचन्दन और चमेली के पत्ते को भमभाग में लेकर पीमकर कल्क कर चतुर्गुण तिलतैल में, तेल से चौगुना पानी ढालकर तेल परावे। उसके प्रयोग में बहुलिंग्र युक्त गव सावयुक्त वल्मीक नष्ट हो जाता है।

७ इन्द्रवृद्धा-लक्षण

वात और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न और कमल की कणिका के आकार की छोटी फुन्सियोवाली पिंडका को इन्द्रविद्धा कहते हैं।

चिकित्सा—पञ्चवल्कल (वट, गूलर, पीपर, महुआ और पाकड़) की छाल को पीसकर लगावे और इनके ही क्वाय से परिपेक करे अथवा धृत मिलाकर दशाङ्ग लेप लगावे।

८. पनसिका

दोनों कानों पर या उनके चारों ओर अथवा पीठ पर कमलकन्द की आकृति की तीव्र पीड़ायुक्त कफ एवं वायु के प्रकोप से उत्पन्न पिंडका को पनसिका कहते हैं।
चिकित्सा—स्वेदन कर मैनसिल, देवदारु और कूठ पीसकर लेप करे।

९. पाषाणगर्दभ

कफ और वायु के प्रकोप से हनुमन्धि-प्रदेश में उत्पन्न पाषाणवत् कठिन, अल्प पीड़ावाले स्थिर शोथ को पाषाणगर्दभ कहते हैं।

चिकित्सा—पत्थर के टुकडे से स्वेदन करना चाहिए या लवग को पीसकर लगाना चाहिए अथवा देवदारु, मन शिला और कूठ पीसकर लेप करना चाहिए। यदि पक जाय तो चौर कर व्रणवत् उपचार करे।

१० जालगर्दभ

पित्त के प्रकोप से उत्पन्न, विसर्प के समान प्रसरणशील, दाह एवं ज्वर युक्त तथा अल्प पाकयुक्त शोथ को जालगर्दभ कहते हैं।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा पित्तज विसर्प की भाँति करनी चाहिए। पंचक्षीरी वृक्ष की छाल पीसकर लेग करे या मुलहठी का चूर्ण धी में मिलाकर लगावे अथवा जात्यादि चैल या घृत लगावे। मृडालादि लेप (शा० स०) लगावे।

११. कक्षा

पित्त के प्रकोप से वाहु, पाश्व, स्कन्धप्रदेश तथा कक्षा (काँख) में उत्पन्न कृष्ण वर्ण के फफोले को रक्षा करते हैं।

चिकित्सा—दण्ड लेप गरम कर वर्धना चाहिए अथवा शहतूत की पत्ती पीसकर गरम कर लगावे। यदि पक जाय तो व्रणवत् उपचार करे। शीघ्र पाक के लिए तुनमलगा पानी में भिंगोरर वाँधना चाहिए।

१२ विस्फोटक

रक्त तथा पित्त के प्रकोप से शरीर के किसी एक प्रवेश पर अथवा पूरे शरीर पर अग्नि के जलने जैसे फफोले उत्पन्न हो जाये और ज्वर भी हो, तो उन्हे विस्फोटक कहते हैं।

चिकित्सा—मिर्ग -ी छात, मुलहठी, तगर, लालचन्दन, छोटी इलायची, जटामगी, हरदी, दारुहलदी, कूठ, मुगन्धवाला —इन दम द्रव्यों को समझाग में लेन्ऱ, वारीक पीसकर घृत मिलाकर लेप करना चाहिए।

१३. अग्निरोहिणी : ग्रन्थिक ज्वर या प्लेग

कक्षा-प्रदेश में मास को विद्रीण करने वाले तथा अग्नि के समान अन्तर्दर्हि और ज्वरकारक फफोले उत्पन्न हो जाने हैं। ये फफोले सात दिनों में या दस दिनों में अथवा एक पक्ष में मनुष्य को मार डालने हैं। मन्त्रिपात से उत्पन्न उम असाध्य गंग को अग्निरोहिणी कहते हैं।

चिकित्सा—

खाने के लिए ४-४ घण्टे पर—

१ रत्नगिरि रस २०० मि० ग्रा०

आद्रेकस्वरस व मधु से । १ मात्रा

अथवा—३-३ घण्टे पर ५ बार—

२ चण्डेश्वर रस १२० मि० ग्रा०

आद्रेक स्वरस व मधु से । १ मात्रा

अथवा—दिन में ४ बार—

३ वेताल रस २०० मि० ग्रा०

आद्रेक स्वरस व मधु से । १ मात्रा

४ गाँठ पर आभाहल्दी, कूठ, देवदारु, तीसी, तुतमलगा, सहिजन बीज पीसकर गरम कर दो बार लेप करे और स्वेदन करे ।

१४. चिप्प-लक्षण

पित और वात प्रकुपित होकर नख के मास मे अधिपित होकर पीडा, जलन और पाक उत्पन्न करते हैं, उसे चिप्प रोग कहते हैं । इसे क्षतरोग और उपनख भी कहते हैं ।

चिकित्सा—चिप्प को गरम जल मे स्वेदन कर गते हुए मास को काट दे, फिर पचगुण तैल लगाकर राल के चूर्ण का अवचूर्णन करे । पश्चात् ब्रणवत् उपचार करे ।

१५. कुनख-लक्षण

चोट लगने से दूषित हुआ नख स्थक, झाला और कठिन तथा खुरदरा हो जाता है । इसे कुनख अथवा कुलीन कहते हैं ।

चिकित्सा—दूषित नख तो निकाल कर नख के भीतर चौकिया मोहागा का महीन चूर्ण भरना चाहिए अथवा जाखोटक (मिह्रोर) का दूध भरना चाहिए ।

१६. अनुशयी-लक्षण

कफ के प्रकोप मे गहरी धानुओ मे उत्पन्न, अल्प-शोययुक्त, त्वचा के समान वर्ण की गरीर के ऊर्ध्वमाग मे स्थित गृव भीतरी भाग मे पकनेवाली पिंडका को अनुशयी कहते हैं ।

चिकित्सा—कफज विद्धि के समान चिकित्सा करे । नीम के गरम जल से उपनाह स्वेद करे ।

खाने के लिए—प्रातः-नाय त्रिफला गुग्गुलु १-१ ग्राम जल मे दे ।

१७. विदारिका-लक्षण

वातादि तीनो दोपो मे उत्पन्न एव तीनो दोपो के लक्षणो मे युक्त, विदारीकन्द के नमान गोल और कदा एव वक्षग की गम्भीर मे स्थित तालग की पिंडका दो चिनागिरा ताते ।

चिकित्सा—विदारिका में पुन-पुन रक्तमोक्षण और स्वेदन करना चाहिए तथा सहिजन की छाल और देवदारु को वारीक पीमकर लेप करना चाहिए।

१८. शकंराबुंद-लक्षण

कफ, वार एवं मेद प्रदृष्ट होकर माम, मिरा और स्नायु में जाकर गाँठ उत्पन्न करते हैं, जो फूटकर मधु, घृत और चर्वों के समान न्याय करती हैं। उस विदीर्ण हुई गाँठ में प्रवृद्ध वायु माम को मुखाकर ग्रन्थियुक्त शकंरा को उत्पन्न कर देती है। फिर उसकी मिराएं दुर्गन्धित एवं अत्यधिक किळन्न और अनेक रग का अकस्मात् न्याय करती हैं। इसे शकंराबुंद कहते हैं।

चिकित्सा—अबुंद की तरह चिकित्सा करे। पिण्टतैल लगावे और खाने के लिए मदेरे-जाम कैशोरगुग्गुनु १-१ गाम देना चाहिए।

१९. पामा-लक्षण

कण्ठ, न्याय और दाहयुक्त छोटी-छोटी पिण्डकाओं को पामा कहते हैं। इसे साधारण बोलचाल में खुजली भी कहते हैं।

२० विचर्चिका-लक्षण

शरीर के हस्त-पाद आदि जगों में नर्म पर फटने जैसी जेहाओं का होना तथा उस स्थान में खुजली, पीड़ा और स्थना का होना, ये विचर्चिका के लक्षण हैं।

२१ रकसा-लक्षण

मम्पूर्ण शरीर में स्नावग्नहित किन्तु कण्ठयुक्त पिण्डकाओं की उत्पत्ति होने को रकसा या सूखी खुजली कहते हैं।

चिकित्सा—१९, २० और २१ इन तीनों सख्याओं में निर्दिष्ट रोगों की गुणवत् चिकित्सा करनी चाहिए।

मामान्यत निम्बपत्र यवाय से प्रक्षालन कर पानी मुखाकर महामरिचादि तेल या मोमराजी तैल या करञ्ज तैल लगाना चाहिए।

आम्यन्तर प्रयोगार्थ, दिन में ३ बार—

आरोग्यवधिनी	१ ड्रे ग्राम
गन्धकरसायन	१ ग्राम
गुडूचीसत्त्व	३ ग्राम
मधु में।	३ मात्रा
भोजनोतर २ बार—	
खदिरारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल में पीना।	२ मात्रा

२२. पाददारी-लक्षण

जो मनुष्य मदा धूमार-फिरा गृहा, उगने प्रत्यना तथा दोनों पां

के तलवों के आस-पास किनारों पर एड़ी में वायु पीडादायक दरारे उत्पन्न कर देती है, उसे पादवारी, विवाई या विपादिका कहते हैं।

चिकित्सा—

१ तलशोधिनी नामक सिरा का वेधन कर स्नेहन तथा स्वेदन करना चाहिए। तत्पञ्चात् मोम, चर्वी, मज्जा, धी और यवक्षार को एक में मिलाकर लेप करे।

२ गुड़, सेधानमक और इमली की छाल—प्रत्येक १ भाग तथा गोमूत्र ६ भाग मिलाकर पीस ले और कुछ सूखने पर यह लेप लगावे। अथवा—

३ राल, सेधानमक, मधु और धी को कडवे तेल में मिलाकर लेप करना चाहिए।

२३ कदर-लक्षण

चलते-फिरते नमय शर्करा (करण, गिट्टी, पत्थर) आदि से वार-वार टक्कर खाने पर अथवा कॉटे आदि से क्षत होने पर कुपित हुए दोप मेद तथा रक्त को दूषित कर पावों में जो पीडादायक गाँठ उत्पन्न करते हैं, उसे कदर कहते हैं। यह गाँठ कीलयुक्त तथा स्पर्श में कठिन, मध्यभाग में उन्नर एवं चारों ओर निम्न और बेर के स्वरूप की होती है।

चिकित्सा—कदर को शस्त्र द्वारा काटकर उपत रैल द्वारा दग्ध करे।

२४. अलस-लक्षण

जल-जमावाले स्थान में पानी और कीचड़ सड़ता रहता है, जब उसमें वार-वार पैर पड़ने से पांवों की अँगुलियों के बीच ब्रण होकर क्लेद, खुजली, पीड़ा और जलन होने लगती है, तो उसे अलस कहते हैं।

चिकित्सा—

१ कदर को नीम के पानी से माफ कर, उम पर पटोलपत्र, नीम की छाल, कासीस, आँवला, हरी, वहेड़ा, इनको पीसकर अँगुलियों के मध्य में लेप करे।

२ करञ्जबीज, हन्दी, कासीस, मुलहठी, मधु, गोरोचन और हरताल, इनको पीसकर लेप लगावे।

२५ इन्द्रलुम्प-लक्षण

वात के साथ मिला पित्त रोमकूपों में जाकर वालों को गिरा देना है, तदनन्तर रक्त से मिला हुआ कफ रोमकूपों को बन्द कर देता है, जिससे उस स्थान में दूसरे वाले नहीं उत्पन्न होते हैं, इसे इन्द्रलुप्त, खालित्य या रुज्या कहा जाता है।

चिकित्सा—

१ हाथीदाँत के बुरादे को लोहे की कडाही में रखकर मिट्टी की परई से ठीक से बराबर ढँककर चूल्हे पर चढ़ाकर अन्तर्धूम राख बनावे और उसके बगवर रसीत मिलाकर दूध में पीभकर लेप करे। यह निश्चित रूप में लाभकारक है।

२ मुलहठी, नीलकमल, मूर्वा की जड़, काला तिल, भृज्ञराज —इन्हे समभाग लेकर पीसकर गोधृत मिला दूध से पीसकर लेप करे ।

३ मैनसिल, हीराकसीस और तूतिया का समभाग में कल्क बनाकर लेप करे ।

४ शिर में महाभृज्ञराज चैल लगाये ।

२६. दारुणक-लक्षण

कफ तथा वायु के प्रकोप से केशों का स्थान कठिन (दारुण), खुजलीयुक्त, रुक्ष और फटनयुक्त हो जाता है, उसे दारुणक कहते हैं ।

चिकित्सा—

१ स्नेहन, स्वेदन कराकर शिर की सिरा का वेधकर रक्तमोक्षण करे । शिरोवस्ति और शिरोअध्यग करे ।

२ नीलोफर, नागकेशर, मुलहठी, कालातिल और आँवले के फल का वक्कल समभाग लेकर पानी में पीसकर शिर पर लेप करे । या—

३ आम की गुठली का गूदा और बड़ी हरें का वक्कल समभाग लेकर गोदुग्ध में पीसकर शिर पर लेप करे ।

२७ अरूषिका-लक्षण

कफ रक्त तथा कृमि के प्रकोप से मनुष्यों के शिर में अनेक छोटे-छोटे मुखबाली तथा अत्यधिक स्वावयुक्त पिडकाएँ हो जाती हैं, उन्हे अरूषिका कहते हैं ।

चिकित्सा— अरूषिका में स्नेहन-स्वेदन कर सिरावेघ करके दूषित रक्त निकाल दे और निम्बवक्वाथ से प्रक्षालन कर निम्नलिखित लेप लगावे—

१ छोड़े की लीद का रस सेधानमक मिलाकर लगावे । या—

२ खेर, नीम और जामुन की छाल समभाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर लेप करे । या—

३ शाढ़गंधरोक्त काशीसादि धृत लगावे ।

४ त्रिफला के कल्क एवं व्याथ से सिद्ध चैल लगावे ।

२८. पलित-लक्षण

क्रोध, शोक, चिन्ता और परिश्रम से उत्पन्न शरीर की उष्णता और पित्त शिर में जाकर बालों को पकाकर मफेद बना देते हैं, उसे पलित कहते हैं ।

चिकित्सा—

१ लेप—पुराने मण्डूर का चूर्ण, अडहुल का फूल और आँवले का वक्कल समभाग में लेकर, पीसकर शिर पर रगड़कर लेप करे । अथवा—

२. आँवले का फल २, हरड का फल २, बहेड़ा का फल १, आम की ५ गुठली का गूदा और पुराना मण्डूर १० ग्राम लेकर, पानी में पीसकर रातभर लोहे की कड़ाही में रख छोड़े । सबेरे इसका शिर पर लेप कर कुछ घण्टे रखे । अथवा—

३ महानील चैल या महाभृगराज चैल (च० द०) का शिर में अध्यग करे ।

२९. मसूरिका-लक्षण

सम्पूर्ण शरीर में तथा मुख और गले के भीतर पीलापन लिये हुए रक्तवर्ण के स्फोट या पिड़काएँ निकल आती हैं, उन्हें मसूर के समान आकार और वर्ण होने के नाते मसूरिका कहते हैं। इसमें शरीर में दृष्टि, ज्वर और पीड़ा होती है।

वक्तव्य—सुश्रूत, चरक तथा वारभट ने इसे क्षुद्र रोगों में गिना है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके काल में इसका प्रकोप अत्यधिक रहा होगा। माधवकर और भावमिश्र ने अपने ग्रन्थों में इसका स्वरूप रूप से वर्णन किया है।

चिकित्सा—

१ रुद्राक्षचूर्ण और कालीमिर्च आधा-आधा ग्राम पीसकर पीने से शीघ्र आरोग्य-लाभ होता है।

२ खदिराष्टक क्वाथ—खेत की लकड़ी, आँवला, हरड़, बहेड़ा (तीनों निर्बीज), नीम की छाल, परवर के पत्ते, गुरुच और अडूम की छाल समझाग में लेकर क्वाथ बनाकर पिलावे।

३ सर्वरोभद्र रस १२० मि० ग्रा०/१ मात्रा मधु से ३ बार दे।

३० यौवनपिड़का-लक्षण

कफ, वात और रक्त-विकार के कारण युवा मनुष्यों के मुख पर सेमल के काँटे के समान पिड़काएँ उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें यौवनपिड़का या मुखदूषिका कहते हैं।

चिकित्सा—

१ लोध्रादि लेप—लोध, धनियाँ और वच को पानी में पीसकर मुख पर लेप लगावे। अथवा—

२ सेमल के काँटे और मसूर की दाल को गोदुग्ध में पीसकर मुखालेप करे।

३ चिरौजी, पीली सरसों और मसूर की दाल समझाग में लेकर पीसकर चेहरे पर लेप लगावे। यह अनुभूत योग है।

३१ पचिनीकण्टक-लक्षण

कफ और वात से उत्पन्न, कमलिनी के काँटों जैसे काँटों से भरा हुआ गोल, कण्डूयुक्त एवं पाण्डुवर्ण के मण्डल को पचिनीकण्टक कहते हैं।

चिकित्सा—

१ नीम की छाल का क्वाथ पिलाकर वमन कराना चाहिए।

२. नीम की छाल के क्वाथ से पिछ्ठे घृत का मधु से सेवन कराये।

३ नीम की छाल और अमलतास के पत्ते का कल्क बनाकर उबटन और लेप लगाना चाहिए।

३२. मषक-लक्षण

मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों पर वात के कारण उत्पन्न पीड़ारहित, भ्यंकर और उड़द के समान काले वर्ण के उभार को मषक कहते हैं।

चिकित्सा—मषक की चिकित्सा शस्त्र, अग्नि या क्षार से दग्ध करना है।

३३. जतुमणि-लक्षण

कफ और रक्त के कारण उत्पन्न, वेदनारहित, समान उमारवाले लालवर्ण के चिकने, जन्मजात मण्डल को जतुमणि कहते हैं।

चिकित्सा—इसकी निकित्सा मषक के समान करे।

३४. तिलकालक-लक्षण

वात, पित्त और कफ के उद्रेक से शरीर के किसी अग में तिल के वर्ण और आकारवाले, वेदना रहित चिह्न को तिलकालक कहते हैं।

चिकित्सा—शस्त्रकर्म या अग्नि या क्षार से इसका उपचार किया जाता है।

३५. न्यच्छ-लक्षण

शरीर के इसी भाग पर छोटा या बड़ा, श्याव अथवा श्वेत, पीड़ारहित, जन्म-जर चिह्न को न्यच्छ कहते हैं।

चिकित्सा—यौवनपिटका की तरह उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

३६. चर्मकील-लक्षण

प्रकृष्टिव्यानवायु कफ के साथ सयुक्त होकर त्वचा के बाह्य प्रदेश पर कील के समान अर्ण उत्पन्न करता है, उसे चर्मकील कहते हैं।

चिकित्सा—इसका उपचार शस्त्रकर्म है।

३७. व्यञ्ज-लक्षण

क्रोध से कुपित पित्त और परिश्रम से कुपित वायु सयुक्त होकर मुख-प्रदेश में आकर अकस्मात् मण्डल उत्पन्न करते हैं, जो पीड़ारहित, अल्प तथा श्याव वर्ण का होता है, उसे व्यञ्ज कहते हैं।

३८. नीलिका-लक्षण

व्यञ्ज के समान लक्षणोवाले किन्तु वर्ण में काले तथा मुख के अतिरिक्त अन्य भागों में भी होने वाले मण्डल को नीलिका कहते हैं।

चिकित्सा—इसकी न्यच्छ और नीलिका के समान चिकित्सा है। इसमें—

१. मूली के बीज को गोदुग्ध में पीसकर उबटन और लेप करे।

२. जायफल को पानी में पीसकर लेप करना चाहिए।

३. कलमीसोरा और हेला हड्डताल समभाग लेकर पीसकर नेप करे।

४. हल्दी और जायफल को मदार के दूध में पीसकर लेप करे।

५. बट के पके पीले पत्ते, चमेली की पत्ती, लालचन्दन, असली कूठ, पीलाचन्दन और लोध समभाग में लेकर पानी से पीसकर लेप करना चाहिए।

६. किंशुकादि तैल (सिं० यो० स०, यादवजी) का अभ्यञ्ज करे।

३९. परिवर्तिका-लक्षण

हाथ आदि से मर्दन करने, अधिक दवाने तथा मैथुन के समय झगड़ा-फसाद हो

जाने के कारण अधिक आघात होने से, सर्वशरीर-सञ्चारी व्यान वायु लिङ्ग के अग्र चर्म भाग में प्रविष्ट होती है। तब वायु से आक्रान्त हुआ वह चर्म ऊपर की ओर चढ़ जाता है तथा मणि (सुपारी) के नीचे ग्रन्थि रूप में होकर लटकता है। कभी-कभी उसमें पीड़ा, दाह और पाक भी होता है। इस प्रकार वायु तथा अभिघात आदि आगन्तुक कारण से उत्पन्न हुए इस रोग को परिवर्तिका कहते हैं।

यदि उसमें खुजली और कठिनता प्रतीत हो तो उसे कफज परिवर्तिका जानना चाहिए।

चिकित्सा— पीड़ित स्थान में सहन होने लायक गरम धूत लगाकर स्वेदन करे। मुलहठी चूर्ण में धूत मिलाकर उपनाह स्वेद करे। डशारे से शिशनमुण्ड को दबावे और चर्म को धीरे-धीरे उतारे। जब मणि चर्म के भीतर प्रविष्ट हो जाय, तो चर्म पर चार-पाँच दिन तक हल्का स्वेदन करे। स्निग्ध वारहर वस्ति दे और स्निग्ध आहार दे।

३९ अवपाटिका-लक्षण

जब कोई मनुष्य अल्पयोनि छिद्रवाली वाला स्त्री के साथ वेगपूर्वक मैथुन करता है, या तिला लगाते समय या हस्तमैथुन करते समय हाथ के अभिघात से चर्म ऊपर चढ़ जाता है अथवा शिशन के मर्दन और पीड़न से एवं उपस्थित शुक्रवेग को रोकने से शिशनमणि के ऊपर का चर्म फट जाता है, तो उसे अवपाटिका कहते हैं।

चिकित्सा— इसकी चिकित्सा परिवर्तिका की तरह करनी चाहिए।

४० निरुद्धप्रकश

प्रकुपित वात से दूषित शिशनचर्म मणि को पूर्णरूप से आच्छादित कर देता है एवं मूत्र निकलने के छिद्र को भी अवरुद्ध कर देता है। जिस कारण मूत्र मन्द धार में अल्पपीड़ा से साथ निकलता है, किन्तु मणि नहीं खुलती है। इस वातज पीड़ादायक रोग को निरुद्धप्रकश कहते हैं।

वक्तव्य : भेद—यह १ जन्मजात और २ जन्मोत्तर भेद से दो प्रकार का होता है। प्रथम का कारण गर्भवृद्धि-दोष है। जन्मोत्तर वच्चों में शिशनचर्म के वार-बार खुजलाने अथवा पकड़कर खीचने से, युवाओं में पूयमेह होने से तथा वृद्धों में वस्तिगत अश्मरी, मूत्रमार्ग-सङ्कोच एवं अष्ठीलावृद्धि के कारण खुजलाने और मसलने से उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—

१. इसमें शल्यकर्म यथोचित रीति से करना चाहिए।

२. यदि अल्पविकार हो तो सूअर की चर्दी से स्नेहन कर परिसेचन करना चाहिए।

३. शिशन-छिद्र को शलाका का प्रवेश कराकर धीरे-धीरे खोलना चाहिए।

४. स्नेहनार्थ वातज्ञ तैल का प्रयोग करना चाहिए।

५. स्निग्ध आहार एवं अन्नपान देना चाहिए।

वक्तव्य—इसकी चिकित्सा दो प्रकार की बतलायी गयी है—

(क) द्विमुखी नाड़ी का प्रयोग—रोगी के मूत्रद्वार में लौहमयी या काष्ठमयी दो मुख्याली नाड़ी को घृताभ्यक्त कर प्रविष्ट करे। तदनन्तर प्रत्येक तीसरे दिन पहले की अपेक्षा स्थूलतर नाड़ी को प्रविष्ट करे। स्नेहन के लिए वातनाशक तैल का प्रयोग करे। इस प्रकार मूत्रस्रोत का व्यास बढ़ जाता है।

यदि इस कर्म में सफलता न मिले, तो शस्त्रकर्म किया जाता है।

(ख) शस्त्रकर्म—यदि द्विमुखी नाड़ी के प्रयोग द्वारा स्रोत न फैले, तो पाटन-कर्म द्वारा मूत्रस्रोत के सकोचक कारण अग्रत्वचा को काट दिया जाता है और सीवन आदि संघोत्रण विधि द्वारा निरुद्धप्रकश की चिकित्सा की जाती है।

४१. सन्निरुद्धगुद-लक्षण

अपानवायु तथा मल-मूत्र के वेगों को रोकने से प्रकुपित वाल गुदा में जाकर महास्रोत का अवरोध करके उसके नीचे गुदमार्ग सकुचित और छोटा कर देती है। इस तरह मार्ग के छोटा होने से उस मनुष्य का मल कठिनता से बाहर निकलता है। इस कष्टसाध्य रोग को सन्निरुद्धगुद कहते हैं।

चिकित्सा—

१ रोगी को प्रारम्भिक अवस्था में पैराफीन आदि मृदुरेचन द्रव्यों के प्रयोग से मलत्याग नियमित होता रहे, यह उपाय किया जाता है। एतदर्थं वस्ति का भी प्रयोग किया जाता है।

२ आहार में घृत की प्रधानता हो, जिससे रुक्षता न होने पावे और मल का सचय न हो।

३ निरुद्धता को हटाने के लिए निरुद्धप्रकश की तरह नाड़ी-प्रवेश द्वारा गुदमार्ग को बढ़ाया जाता है। क्रमशः तीसरे दिन अपेक्षाकृत बड़े आकार की नाड़ी का प्रयोग किया जाता है। नाड़ी के प्रयोग में हड्डबड़ी न करे, अपितु शनै-शनै नाड़ी को स्निग्ध करके प्रयोग करे।

रोग ठीक होने पर पुन हो सकता है, अतः दीर्घकाल तक उपचार और सावधानी अपेक्षित है। मलावरोध न होने पाये, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

४२. अहिपूतन-लक्षण

मलोत्सर्ग या मूत्रोत्सर्ग के पश्चात् पानी से गुदा का प्रक्षालन नहीं करने से या पसीना होने पर जल से स्नान न करने से बच्चे की गुदा में रक्त और कफ के कारण खुजली उत्पन्न होती है। उसको खुजलाने से स्फोट उत्पन्न होकर उनसे स्नान होता है। व्रणयुक्त इस रोग को अहिपूतन कहते हैं।

वक्तव्य—मल-मूत्र और स्वेद-से गुदा के सदा गन्दी रहने से यह रोग होता है। दुष्टस्तन्य पान से भी यह होता है।

चिकित्सा—

१. मारा के हूध का शोधन करने के लिए कफ-पित्तनाशक औषधों का क्राथ पिलाना चाहिए।
२. त्रिफला और खदिरसार के क्राथ से व्रण का प्रक्षालन करे।
३. हीराकसीस, गोरोचन, तूतिया, हडताल ढेला और रसीत समभाग में लेकर काञ्जी से पीसकर लेप करे।
- ४ पटोलादि धृत (भै० २०) पिलावे।

४३. वृषणकच्छू-लक्षण

स्नान तथा उबटन नहीं करनेवाले वच्चे के वृषणप्रान्त में जमा हुआ मल जब पसीने से गीला होता है, तब वह खुजली उत्पन्न करता है और वहाँ खुजलाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ निकल आती हैं तथा उनसे स्राव भी वहता है। इस प्रकार कफ और रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुए इस विकार को वृषणकच्छू कहते हैं।

चिकित्सा—

- कर्पूरादि लेप—कपूर, गन्धक और श्वेत चन्दन समभाग में लेकर पीसकर लेप करना चाहिए। अथवा—

गोमूत्र योग— ३५ लीटर गोमूत्र में १०० ग्राम सज्जीखार डालकर एक घडे मरख ३ दिन धूप में रखकर फिर वृषण पर उसका लगातार लेप करना चाहिए। गन्धक रसायन उचित मात्रा में प्रातः-साय खिलायें।

४४. गुदभ्रंशा-लक्षण

रुक्ष तथा दुर्बल शरीरवाले मनुष्य के प्रवाहण (कुन्थन) और अतिसार से गुदा बाहर निकल आती है, उसे गुदभ्रंशा कहते हैं।

भेद— इसके पूर्ण तथा अपूर्ण दो भेद होते हैं। पूर्ण गुदभ्रंशा अधिकतर वच्चों को होता है और इसमें गुदा की समग्र दीवार बाहर निकल आती है। अपूर्ण गुदभ्रंशा अधिकतर युवकों में होता है तथा इसमें गुदा की केवल श्लेष्मल त्वचा मलद्वार से बाहर निकलती है।

चिकित्सा—

- १ प्रक्षालन—५ ग्राम हीराकसीस ३५ लीटर जल में घोलकर नित्य गुद क प्रक्षालन करे।

२ चतु स्नेह या मूषकवभा से गुद का स्नेहन कर अन्दर प्रविष्ट करे।

३ धृत में भुने चूहे के मास की पोटली से गुदा का अल्प स्वेदन करे।

४ चाङ्गेरीधृत—प्रातः-साय २०-२० ग्राम २०० ग्राम मट्ठे के साथ पिलावे।

५ मूषिकादि तैल और चांगेरीधृत से अभ्यङ्ग करे।

६ काले तिल का कल्क ५० ग्राम प्रातः नित्य पिलायें।

७ गुलकन्द, ईसबबगोल की भूसी, मुनक्का तथा अगूर खिलायें।

८ स्निध्य और वातनाशक आहार-विहार का प्रयोग करे।

नवम अध्याय

मनोविज्ञान

मन का निरूपण

मन का ज्ञानेन्द्रियों से बहुत धनिष्ठ सम्बन्ध है। जब मन साथ होता है, तभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का सकल्प-विकल्प मन ही करता है और वही कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्य करता है। मन की गणना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों में होती है, क्योंकि वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपना-अपना व्यापार तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा अपना-अपना कर्म करता है। बिना मन के न ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों का ज्ञान कर सकती हैं और न कर्मेन्द्रियाँ अपनी क्रियाएँ कर सकती हैं। अतएव मन पुर सर इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं—‘मन पुर सराणि इन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति’ (चरक-सूत्र दा७)। अत मन ज्ञान-कर्मेन्द्रिय (उभयात्मक) है। इसकी उत्पत्ति अन्य इन्द्रियों की तरह ही होती है। मन की गणना अन्त करण में भी की गयी है।

मन का स्वरूप

आत्मा के चैतन्य में मन की प्रमुख भूमिका रहती है। जब आत्मा मन सयुक्त होता है और मन इन्द्रिय सयुक्त होता है एव इन्द्रिय अपने विषय से सयुक्त होती है तभी विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार मन की परिभापा है—‘सुख-दुःख आदि के साक्षात्कार की साधनभूत इन्द्रिय को मन कहते हैं’^१

मन का लक्षण

आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ का सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं होता है। यह ज्ञान का होना या न होना किसी ज्ञान-साधक कारण को सूचित करते हैं और यह ज्ञानसाधक कारण ‘मन’ है, एव ‘ज्ञान का भद्रभाव और ज्ञान का अभाव होना मन का लक्षण कहा गया है’^२

आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर भी एक काल में एक ही विषय का ज्ञान होना और दूसरे विषय का ज्ञान न होना मन की सिद्धि में प्रमाण है।

१ सुखाद्युपलब्धिसाधनामन्द्रिय मन।

—तर्कसग्रह

२ आत्मेन्द्रियार्थसञ्जिकर्णे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।

—वै० द० ३२१२

*

*

लक्षण मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति शात्मेन्द्रियार्थाना सञ्जिकर्णे न वर्तते ॥

वैवृत्यान्मनसो ज्ञान सान्निध्यात्तच्च वर्तते ।

—च० शा० ११८-१९

मन की निरुक्ति

‘मन्यतेऽनेन इति मन’ (मन ज्ञाने) ‘मनुते इति मन’ (मेनु अवबोधने) इन धातुओं से ‘मन’ शब्द बनता है। एवं जिससे ज्ञान होता है, उसको मन कहते हैं।

मन के भेद (सात्त्विकादि भेद से)

सिद्धान्तरत मन एक है, किन्तु उपाधिभेद से अनेकत्व की प्रतीति होती है। अनेकत्व प्रतीति के कई कारण हैं, जैसे—मन के विषयों की अनेकता, इन्द्रियों के विषयों की अनेकता और नाना प्रकार के सकल्प-विकल्प। इसके अतिरिक्त सत्त्व, रज, और तम के सयोग से भी मन अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।^१

मन जब धर्म की चिन्ता करता है, तब धार्मिक कहा जाता है और जब अधर्म की चिन्ता करता है, तब उसे अधार्मिक कहते हैं, एवं काम के चिन्तन में लगा हुआ मन कामुक कहलाता है। मन के एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का नाम व्यभिचरण है। अत जब वह रूप को ग्रहण करता है तो रूपग्राही होता है और जब वह रूप का व्यभिचरण करके गन्ध को ग्रहण करने लगता है, तब गन्धग्राहक कहलाता है। इसी प्रकार कभी उपकारक, कभी अपकारक, कभी गुणग्राही और कभी दोषग्राही होता है। जब मन में सत्त्वगुण की अधिकता होती है, तो वह धार्मिक एवं सत्य, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान तथा नियमव्रत सम्पन्न होने से सात्त्विक कहा जाता है। जब उसमें रजोगुण की अधिकता होती है तो काम, क्रोध, मान, ईर्ष्या, द्रेष, लोभ, मोह आदि होने से राजस, और तमोगुण की अधिकता होने पर मोह, शोक, अज्ञानादि से ग्रस्त होने के कारण तामस कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि सकल्प की विविधता, विभिन्न इन्द्रियार्थों में व्यभिचरण तथा त्रिगुणों का सयोग होने के कारण उसमें अनेकत्व का भ्रम होता है, परमार्थत मन एक है। अतएव एक काल में वह एक ही इन्द्रिय के साथ रहता है। जैसे—भिन्न-भिन्न कार्य करने के कारण एक ही व्यक्ति का अलग-अलग नाम पड़ जाता है, उसी प्रकार अनेक कार्यों में प्रवृत्त होने के कारण मन की भी अनेक सज्जाएँ हो जाती हैं, फलत वह राजस, तामस, सात्त्विक, धार्मिक, अधार्मिक आदि नाम धारण करता है।

आन्तर और बाह्य भेद से मन का विश्लेषण

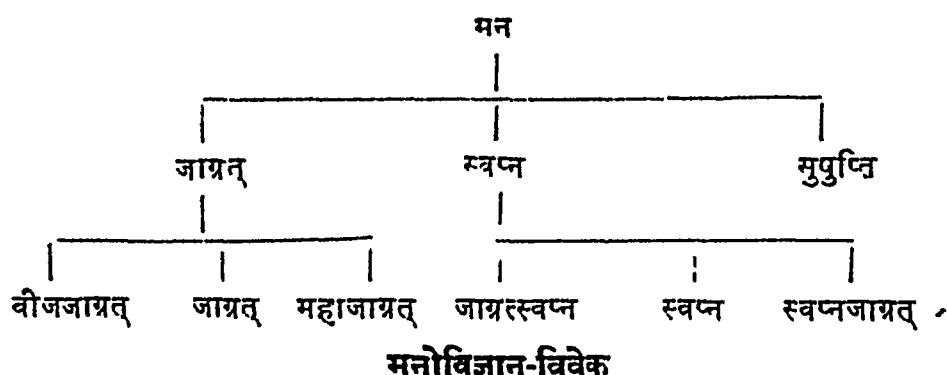
वैज्ञानिकों ने मन की तुलना समुद्र में तैरते हुए बर्फ की चट्टान से की है। जिस तरह बर्फ की चट्टान का आधकाश भाग पानी के नीचे रहता है और पानी की सतह के ऊपर रहने वाला भाग सम्पूर्ण चट्टान का थोड़ा-सा भाग ही होता है, इसी तरह हमारे मन का अधिक हिस्सा इतना छिपा हुआ है कि वह चेतन मन की पहुँच के बाहर है। मन का अधिकाश भाग अव्यक्त मन है। जिस प्रकार व्यक्त मन सक्रिय है, उसी प्रकार अव्यक्त मन भी सक्रिय है।

^१ स्वार्थेन्द्रथाथसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे मत्त्वं रजस्तम मत्त्वगुणयागच्च, न चातेकत्वम्, न शेकं शेककालमनेकेषु प्रवर्तने, तस्मान्नैककाला मर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः ।—च० म० ८५

व्यक्त और अव्यक्त मन को ममदाने के लिए नाट्यशास्त्र की व्यवस्था से तुलना की जाती है। जिस तरह अभिनय के ममस्त्र पात्र एक साथ मच पर नहीं आते, इसी तरह हमारे अव्यक्त मन की ममस्त्र भावनाएँ या वासनाएँ एक साथ व्यक्त मन के समक्ष नहीं आती। चेतन मन की क्रियाओं का मचालन भी अव्यक्त मन से होता है। जिन प्रकार नाट्यशास्त्र के तीन विभाग हैं—१ पर्दे के सामने वाले पात्र, २ पर्दे के पीछे वाले पात्र और ३ यूप्रधार। उभी तरह—१ चेतन मन, २ अचेतन मन और ३ नियन्ता मन—ये मन के तीन भाग किये जा सकते हैं। नियन्ता मन ही व्यवस्थान्क्रम ने उन-उन पात्रों को रगमच पर लाता है।

उन तीन भागों की कल्पना वैज्ञानिकों ने अलग-अलग प्रकार से की है। कुछ ने उन्हें चेतन, अधंचेतन और अचेतन नाम दिया है। इन्हीं वार्तों को 'योगवाशिष्ठ' में अतीव सुन्दर टग में विस्तारपूर्वक बहु गया है। उसमें बतलाया गया है कि मन एक होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न वृत्ति का होने के कारण अस्थय कहा गया है और उसकी प्रधान तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, जिसका विवरण नीचे नी भारणी में दिया जा रहा है।

वशिष्ठ ने मन के स्वरूप की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्मतम विवेचन किया है। उन सबका विस्तार जानने के लिए योगवाशिष्ठ का स्वाध्याय करना चाहिए।



'मन तथा मन की विभिन्न वृत्तियों के सम्बन्ध में विचार करने वाले ग्रास्त्र को मनोविज्ञान कहते हैं।' मन के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों में विशद वर्णन किया गया है, विशेषकर योगदर्शन में मन और मन की वृत्तियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। योगवाशिष्ठ में मन को सासारचक्र की नाभि कहा गया है 'चित्त नाभि किलस्येह मायाचक्रस्य सर्वत ।' मन के विषय में विचार करने वाले दर्शन को मनोविज्ञानशास्त्र कहते हैं। मन की परिस्थिति पर ही समार के आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक सभी विचार निर्भर करते हैं। इस प्रकार मन उस विराट्, अनन्त, और अगाध चैतन्य के सुजन कर्म के एक निश्चित स्पन्दन के समान है। आयुर्वेद में सत्त्वसज्जक मन को शुद्ध और निर्दोष माना गया है, किन्तु जब उसमें रज और तम

बढ़ जाते हैं, तो वह इस सासार की नाट्यशाला में विविध स्प और नाम को धारण कर अनेक प्रकार की लीलाएँ करने लग जाता है।

विमर्श—मनोविज्ञान एक स्वतन्त्र विषय है, जिसका सर्वाङ्गीण वर्णन उस स्वतन्त्रशास्त्र में ही सम्पूर्णतया हो सकता है। मन भारतीय दर्शनों का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। उन सभी दर्शनों का निचोड़ है—‘मन के हारे हार है, मन के जीते जीत’ क्योंकि मनुष्य का मन ही उसे सासार के विविध प्रपञ्चों से आवद्ध करता है और मनुष्य तब तक उन बन्धनों से छुटकारा नहीं पाता जब तक मन स्वयं उसे बन्धनमुक्त करना न चाहे। जब तक मन का विकल्प दूर होकर सत्सकल्प की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, तब तक मन मानव-कल्याण के पथ का पथिक नहीं बन पाता। ‘योगवाशिष्ठ’ मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए एक विशिष्ट ग्रन्थ है। उसमें कहा गया है कि मन ही समस्त विचारों का मूल है। मन सर्वशक्तिमान् विराट् चेतना की इच्छा का एक स्वरूप है। जब परमेश्वर एकान्त जीवन से ऊंचकर ‘एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय’ का सकल्प कर सृष्टि की ओर उन्मुख होता है, तो उसकी सकन्पशक्ति से ही मन का सृजन होता है—

‘अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मन ।

सङ्घल्पशक्तिरचित् यद्रूप तन्मनो विदु ॥

मन शुद्ध चेतना का स्फुरण मात्र (Vibration of pure consciousness) है, जो विषयों के सम्पर्क से पुण्यमय या पापमय आभासित होता है। यह चेतना का एक स्पन्दनशील और परिवर्तनशील रूप है। जो ज्ञान तथा कर्म दोनों के सम्पर्क में आता रहता है। ‘योगवाशिष्ठ’ का मन-विषयक सन्दर्भ मनन करने योग्य है—

‘सम्पन्ना कल्पना नाम्नी सङ्घल्पानुविधायिनी ।

सङ्घल्पन मनो बुद्धि सङ्घल्पात्मन भिद्यते ॥

परस्य पुस सङ्घल्पमयत्व चित्तमुच्यते ।

चित्ति स्पन्दो हि भलिन कङ्खविकलान्तरम् ॥

मन इत्युच्यते राम ! न जड न च चिन्मयम् ।

जडाजडदृशोर्मध्ये दोलारूप स्वकल्पनम् ॥

चर्चितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते ।

चित्ते यच्चेत्यकलन तन्मनस्त्वमुदाहृतम् ॥

मनो हि भावनामात्र भावना स्पन्दधर्मिणी ॥

अर्थात् मन परमात्मा की कल्पना का केन्द्र है, जिसके द्वारा इस जगत् का भाव होता है। किसी विषय की ओर प्रवृत्ति और उसका ग्रहण या ज्ञान मन के ही द्वारा होता है। मनन करते रहने के कारण वह मन कहलाता है और चिन्तन करते रहने के कारण उसे चित्त कहा जाता है। मन भावात्मक है और भावना, स्पन्दन धर्मवाली होती है। अत मन इस विराट्, अनन्त एव अगाध चैतन्य के मृजनकर्म के एक निश्चित स्पन्दन (Definite wave) के समान है।

आधुनिक दृष्टिकोण — रेसमंड मिस्ट्रीमिज्जम (Rational mysticism) नामक पुस्तक में मन के सिव्य में यह दाहा गया है कि 'मन एक निश्चित केन्द्र है, जिसमें आत्मा इन नगारों से निरेश देने के लिए जगते को केन्द्रित कर सकता है।'

'योगवादिष्ठ' में मन और आत्मा को एक भाष्य अनुसूत बतलाया गया है, किर भी दोनों का भिन्नत्व भी प्रदर्शित है। उसे 'भोजे के बने कट्टा-कुण्डल-केगुरादि बाघाज चाँचे ने भिन्न न होने पर भी गृहाद् नमज़े जाते हैं, उनी प्रकार मन भी आत्मा का एक निश्चित धरा नमज़ा आता है। विषय-वागना में रहित चेतन को चित्त नहीं है। जिस प्रकार वात नामा वात्स्यन्दर्शन, धूम्य तथा जाकाण में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार मन तथा शुद्ध चेतन (शश्व) में वर्तुत कोई भेद नहीं होता है।'

बौद्ध विद्वान् अभ्योग ने भी इसी तरह की चर्चा की है—सत्त्वमजक मन (विन्दू मन) निन्द्य, शुद्ध तथा दोष रहित होता है, परन्तु अविद्या का प्रभाव उसे संकुचित बना देता है। अविद्या के नाशन मन के नकुचित न होने पर मन अपने आप में शुद्ध, नवच्छ, नित्य तथा अपरिणामी है। यथापि वह स्वयं अप्रियोप (Free from personalisation) नहा अपरिणामी है, तथापि वह परिस्थितिवश भिन्न-भिन्न रूपों का धारण कर नहता है। (महायान ब्रह्मोत्पादणामत्र) ।

आयुर्वेद में भी आचार्य चरक ने शुद्ध-भास्त्वक मन को अदोष बतलाया है, स्पौदिक विकार का अज (रज-उम) न होने से वह कल्याणकारक होता है—'तत्र शुद्धमदोपमाल्यात् वल्याणाशत्यात्' (च० शा० ४।३६) ।

विशिष्ठ के अनुमार शुद्ध मन परमचेतनस्वरूप है, जो मृजन कर्म के रूप में अपने को व्यक्त करता है। यह पूर्ण ब्रह्म से भिन्न नहीं होता, किन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा जाता है। विशिष्ठ ने उसे चिदण् (An atom of consciousness or monad) कहा है। यह कथन आधुनिक परमाणु सिद्धान्त से साम्य रखता है। किंग्सलैण्ड² (Kingsland) नामक वैज्ञानिक का कहना है, कि वास्तविक अणु (परमाणु) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के बदले वह महान् से भी महान् है। क्योंकि प्रत्येक

1 The mind is, as it were a definite centre in which the self which in itself is universal and absolute can itself sees to particularise a world

2 यथा कट्टकेयूरैर्मनो हेम्नो विलक्षण । तथात्मनश्चितो रूप भावयन्त्या. रवमाशिकम् ॥

किंविद्वामृष्टस्वरूप यद् ब्रह्म तच्च स्थिर मन । चेत्येन रहिना यैषा नित्यब्रह्म मनातनम् ॥

नेत्येन महिता चैषा चित्तस्थेय कलनोच्यने । वातस्य वातस्यन्दस्य यथा मेदो न विद्यते ॥

शून्यत्वस्त्वोपमेयश्चिन्मात्राऽ यतस्त्वा ॥ —यो० वा०

3 The real atom instead of being smallest of the small, is the largest of large, for every so called atom is nothing less in substance than the one substance which the only thing in the universe which can not be divided or cut
—Rational Mysticism

तथाकथित परमाणु द्रव्यत्वस्थेण उस द्रव्य से किसी प्रकार न्यून नहीं है, जो विश्व में एक ही वस्तु के रूप में वर्तमान है और जिसका कोई विभाग नहीं हो सकता।

सर ओलिवर लोज (Sir Oliver Lodge) ने भी इसी वरह का विचार प्रस्तुत किया है कि परमाणु में अनन्त शक्ति का संचय है। वे कहते हैं—‘उच्चिक स्पेस के प्रत्येक क्यूबिक मिलीमीटर में इतनी शक्ति का संचय है कि करोड़ों अश्ववल (Horse-power) समूह चालीस करोड़ वर्ष तक उससे लगातार कार्य कर सकते हैं।’^१

वाहु एव आम्यन्तर समार की विविधता मन से विविध स्पो के फलस्वरूप है। इन्द्रियाँ भौतिक शरीर तथा मूक्षम शरीर मन के ही बिन्न-बिन्न स्प तथा नाम है। जिस प्रकार नर्तक नाट्यशाला में आवश्यकतानुसार विभिन्न स्प धारण करता है, वैसे ही मन भी विभिन्न कार्यों के अनुसार विभिन्न स्प धारण करता रहता है।

मन के दो गुण

अणुल्व और एकत्व मन के दो गुण कहे गये हैं।^२ यदि मन को भ्रह्म और अनेक माने तो व्यापक तथा अनेक इन्द्रियों में एक समय सम्पर्क होने के कारण एक समय में अनेक ज्ञान होने लगेगे, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः मन एक तथा अणुपरिमाण है। कभी-कभी मिठाई खाते समय उसके स्प, रस, गन्ध आदि का एक ही समय में ज्ञान होने से मन के भ्रह्म एव अनेक होने का भ्रम होता है, किन्तु सच यह है कि मन की गति चलता है, इसलिए एक ही काल में स्प, रस, गन्धादि का ज्ञान होने का आभास होता है। वस्तुत उस ज्ञान में क्रम है और एक के बाद ही दूसरा ज्ञान होता है। जैसे—कमल के सी पत्तों को ऊपर नीचे रखकर एक सुई से छेदे जाने पर ऐसा आभास होता है कि सभी पत्ते एक ही साथ छिद गये, किन्तु कमल के पत्ते क्रमशः छिदते हैं और उनके छिदने से समय का अन्तर सूक्ष्म होने के कारण उनके एक साथ छिदे जाने का भ्रम होता है एव मन एक बार में एक ही इन्द्रिय के साथ रहता है और चलता के कारण वह अतिसूक्ष्म काल में ही दूसरी-तीसरी इन्द्रियों के साथ हो जाता है। मन की क्रियाएँ क्रमशः होती हैं, भले ही काल की सूक्ष्मता के कारण मन की विविध क्रियाओं के एककालिक होने का आभास होता है।

मन के विषय

चिन्तन करना, गुण-दोष का विचार करना, तर्क, ध्यान, सकल्प तथा सुख, दुख, इच्छा, द्वेष आदि मन के विषय है। उन्हे ही मन का अर्थ भी कहते हैं।^३

1 In every cubic millimeter of etheric space there is so much energy as to furnish a million horse-power working continually for forty million years
—Oliver Lodge

2 अणुत्वगत चैकत्व द्वारा गुणी मनस स्थृतौ।

—चरक शा० ११९

3 चिन्त्य विचारमूद्य च ध्येय सङ्कल्पमेव च।

—चरक शा० १२०

यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेय नत्सर्वं द्यर्थमशक्तम् ॥

विमर्श—चिन्तन का अर्थ है—विषय के ग्राह्य या अग्राह्य होने के विषय में जोचना। विचार का तात्पर्य है—किसी भी कार्य के विषय में यह सोचना कि इस कार्य में क्या हानि या दया लाभ है। तरंगे का अर्थ है—किसी कार्य के सम्बन्ध होने की सम्भावना वा विचार करना। सकल्प का तात्पर्य है—गुण-दोष का विवेचन चरना और अच्छे कर्म की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा। मन में जो विषय है उनको ग्रहण करने के लिए उसे किसी उन्निय की सहायता नहीं अपेक्षा नहीं होती है।

काम-क्रोधादि मनोवृत्तियाँ

मुक्त्य हृप ने मनोवृत्तियाँ दो हैं—१. इच्छा और २. द्वेष।^१ जिन विषयों में अतिशय अभिलापा होती है, वे उच्छा के अन्तर्गत आते हैं। नाना वस्तुओं के प्रति अनेक प्रकार की विभिन्न इच्छाएँ—हृष्ट, काम, लोभ आदि इच्छा के ही प्रकार हैं। द्वेष में विषयों से अप्रीति होती हैं, क्रोध, गोक, भय, विपाद, ईर्ष्या, असूया और मात्स्य हृप के अन्तर्गत आते हैं। आचार्य सुश्रुत ने भानसिक भावों को बतलाते हुए क्रोध, गोक, भय, हृष्ट, विपाद, ईर्ष्या, असूया, दैन्य, मात्स्य, काम, लोभ आदि को इच्छा और द्वेष के भेदों से गिनतया है।

विमर्श—किन्नी अन्य के साथ द्रोह की भावना को 'क्रोध' कहते हैं। इष्ट, धन-सम्पत्ति, पुत्रादि वियोगजन्य चित्त की उद्विग्नता को 'शोक' कहते हैं। दूसरे प्राणियों से अहित होने की घारणा को 'भय' कहते हैं। मन के आनन्द की स्थिति को 'हृषि' कहते हैं। 'विपाद' उस स्थिति का नाम है जब अभीष्ट कार्यों में सफलता न मिलने के नारण कार्य करने की प्रवृत्ति में ह्लास हो जाता है। दूसरे की सम्पत्ति के प्रति अमहिष्णुता को 'ईर्ष्या' कहते हैं। दूसरों के गुणों में छिद्रान्वेषण करने को 'असूया' कहते हैं। मन की खिन्नता को 'दंन्य' कहते हैं। दूसरे के गुणों के प्रति जलन या क्रूर भाव होना 'मात्सर्य' कहलाता है। इन्द्रियों के विपय शब्द-स्पर्श आदि की अभिलापा को 'काप' कहते हैं। दूसरे के धन को प्राप्त करने की इच्छा को 'लोभ' कहते हैं। इसी प्रकार मान मद, दम्भ, भोग आदि भी मानसिक विकार होते हैं।

सन् के कर्म

डन्डियो में अधिष्ठित होकर उन्हे अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करना तथा अहित विषयों से उन्हे रोकना तथा स्वयं अपने को अहित विषयों में जाने से नियन्त्रित करना, किमी कार्य की सम्भावनाओं के प्रति तर्क-वितर्क करना और हित-अहित का विचार करना ये सब मन के कर्म हैं।¹

१ मानसास्तु—कामशोकमयहर्पविषादेष्याभ्यमृशदैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छादेवभेदे-
भेदवन्ति। —सू. सू. १३५/१३

२ इन्द्रियाभियह कर्म मनस स्वस्य नियह ।
जहो विचारश्च पर तत बुद्धि प्रवर्षते ।

विमर्श— उन्निद्रियाँ मन के गाथ होने पर अपने विषयों को ग्रहण करती हैं और मन ही उनका नियन्त्रण करता है। उस प्रकार उन्निद्रियों को वश में रखना और अपने को भी नियमित रखना मन का कार्य है। मन के नियन्त्रण के लिए धैर्य की आवश्यकता पड़ती है, बिना धैर्य के वह न तो अपना नियन्त्रण कर सकता है और न उन्निद्रियों का ही नियन्त्रण कर सकता है—‘विषयप्रवण चित्त धृतिभ्रणान् शब्दयते। नियन्तु महितादथादि धृतिहि नियमात्मिका’॥ (चरक० शा० ११००)। मन के विचार करने का अवसर यह है कि वह सोचता है कि यह वस्तु हानिकारक है या जाभकर, इसे ग्रहण करे या नहीं ? आदि। उस प्रकार के विचार के कारण चार प्रकार के माने जाते हैं—१ वाह्य उन्निद्रिय, २ मन, ३ अहकार और ४ बुद्धि। इन चारों में उन्निद्रियाँ निविकल्प रूप से विषय को ग्रहण करती हैं। मन यह विचार नहरता है कि यह वस्तु दोषयुक्त होने में त्याज्य है या उपादेय ? अहकार अपने प्रधिकार में त्याग करने या ग्रहण करने को सोचता है, तब बुद्धि यह निश्चय करती है कि यह दोषयुक्त है, अत उसे त्याग दूँ या गुणयुक्त है, अत उसे ग्रहण करें। उह नहरना वाह्य उन्निद्रियों का विषय है, फिर भी बिना मन की सहायता के ऊहापोह ही होता। एवं अन्त करण (मन और अहकार) के साथ बुद्धि सभी विषयों को ग्रहण करती है, अत प्रधान रूप से तीन ही करण होते हैं। वाह्य उन्निद्रियाँ अप्रधान सहायक) रूप ने होती हैं, इसी विषय को ‘मारुद्यकारिका’ में कहा गया है कि ये वाह्य उन्निद्रियाँ और अन्त उन्निद्रियाँ आपम में विलक्षण होती हुई गुणविशेषता से रोपक की तरह कार्य करती है। जैमे—दीपक से वर्ति स्नेह लेकर अग्नि को देती , जिससे प्रकाश होता है, उसी प्रकार वाह्य उन्निद्रियाँ विषय को लेकर मन को ती है, मन सरुल्प कर अहकार को देता है, अहकार अपना अधिकार स्थापित कर उसे बुद्धि को देता है—

‘एते प्रदी’, ‘पा परस्परविलक्षणा गुणविशेपा ।

कृत्स्न पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति’॥ (मा० का० ३६)

और तब बुद्धि अध्यवसाय (निश्चय) करके उन गृहीन ज्ञान का बोध करती तो फिर पुरुष की प्रवृत्ति होती है। ‘मन’-के मम्बन्ध में आचार्य चरकै ने कहा कि—‘मन अतीन्द्रिय है। मन का व्यापार अपने सुख-दुख आदि विषय और आत्मा की सम्पत्ति के अधीन है। मन सभी उन्निद्रियों की चेष्टाओं का प्रधान कारण, क्योंकि मन की प्रेरणा से, मन के साथ रहने पर ही उन्निद्रियों अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है।’^१ यहाँ मन अतीन्द्रिय कहा गया है। अतीन्द्रिय

१ इन्द्रियेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्णते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥

जायते विषये तत्र या बुद्धिनिश्चयात्मिका । व्यवस्थति तथा वक्तु कर्तु वा बुद्धिपूर्वकम् ॥

—चरक० शा० १२२-२३

२ अतीन्द्रिय पुनर्मन मत्त्वमज्ञ चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पत्तदायत्तचेष्ट चेष्टाप्रत्ययभूत-उन्निद्रियाणाम् ॥

—चरक० मूल० ८४

३. अतीन्द्रिय तु मन मर्वाथरन्वयात् तद्योगेन पञ्चेन्द्रियाणामर्थप्रवृत्ते बुद्धिकर्मेन्द्रियोभय-त्वाच्च ।

—अष्टाङ्गसंग्रह

शब्द के दो अर्थ है—१ इन्द्रियों का अतिक्रमण करने वाला और २ इन्द्रियों से अतिरिक्त, देखे—‘इन्द्रियातिक्रान्तमिन्द्रियातिरिक्त वा।’ आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक कहा गया है—‘भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते’। किन्तु मन को भौतिक नहीं कहा गया है। इस प्रकार मन में इन्द्रियों को अतिक्रान्त करने का उसका विशिष्ट धर्म है और उसमें इन्द्रियातिक्रान्तत्व स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है, जैसे—कान का शब्द, त्वचा का स्पर्श, नेत्र का रूप, रसना का रस और द्वाण का गन्ध, परन्तु मन का विषय नियत नहीं है। एवं मन अपने विषयों (चिन्त्य, विचार्य आदि) को तो ग्रहण करता ही है, साथ-साथ इन्द्रियों के विषयों को भी ग्रहण कर लेता है और इन्द्रियाँ^१ विना मन के अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती। इस दूसरे पक्ष के निरूपण से मन का उन्द्रियातिक्रान्तत्व स्पष्ट है। अथ च मन बुद्धीन्द्रिय ही नहीं कर्मन्द्रिय भी है, क्योंकि वह दोनों का प्रयोजक है। अत तीसरे पक्ष से भी वह उन्द्रियातिक्रान्तत्व सिद्ध हो जाता है।

चरकाचार्य ने मन को एक माना है, अनेक नहीं।^२ यद्यपि एक पुरुष में मन अनेक-सा दिखलायी देता है, क्योंकि मन अपने अनेक विषयों में, नेत्रेन्द्रिय आदि उन्द्रियों के नाना विषयों में, विविध सकल्पों तथा सत्त्व, रज और तम इन गुणों में दिखलायी पड़ता है, तथापि वास्तविकता यह है कि मन एक और अणु है। एवं अणु और एक होने से वह एक समय में अनेक विषयों को एक साथ नहीं ग्रहण करता है। अतएव नेत्र आदि सभी उन्द्रियाँ एक समय में एक ही साथ अपने-अपने विषयों को नहीं ग्रहण कर पाती हैं। मन एक और अणु परिमाणवाला है। यदि मन को महत् और अनेक माना जाय तो महत् (व्यापक) होने तथा अनेक होने से अनेक उन्द्रियों से एक साथ सम्पर्क होने पर एक ‘समय में ही अनेक ज्ञान होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। अत मन को अणु परिमाण वाला तथा एक माना जाता है। महर्षि गौतम ने भी इसी कारण से मन को एक माना है—‘ज्ञानायीगपद्यादेक मन’ (न्यायद० ३।१।६)। कणाद ने भी यही माना है—‘प्रयत्नायीगपद्याज्ञानायीगपद्याच्चैकमिति’ (वै० द० ३।२।३)। अर्थात् एक समय में एक ही प्रयत्न और एक ही ज्ञान होने के कारण मन एक है। इसी आधार पर आचार्यों ने मन का लक्षण भी किया है कि—‘एक साथ सभी ज्ञानों’ अर्थात् उन्द्रियों की प्रवृत्ति का न होना ही मन का लक्षण है। ‘युगपज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्’। यहीं बात योगवाशिष्ठ में भी कही गयी है—

‘यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्येकस्तथैव हि।

मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तर व्रजेत्’ ॥ (यो० वा०)

^१ चक्षु-पश्यति रूपाणि मनमा न तु चक्षुषा। मनसि व्याकुले चक्षु पश्यन्नपि न पश्यति ॥

^२ स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्व रजम्नम् सत्त्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वं, न ह्येक द्वेककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला मर्वेन्द्रियप्रवृत्ति ॥

मन के दोष

मानस दोष रज और तम होते हैं ।^१ इन दोषों में रज प्रधान होता है, क्योंकि रज ही प्रवृत्तिजनक है और विना रज के तम की प्रवृत्ति नहीं होती । शारीरिक दोषों में जो स्थान वायु का है, मानस दोषों में वही स्थान रज का है । अत रज का उल्लेख पहले करके तब तम की गणना की जाती है ।

विमश्च—सत्त्व को मन का गुण कहा गया है, क्योंकि वह निर्दोष और हितकर होता है । वह प्रकाशरूप ज्ञान का विकास करने वाला एव सुख देने वाला होता है—‘सत्त्व सुखे सञ्जयति’ (गीता १४१) । सत्त्व निर्मल होने से प्रकाशक और आरोग्य देने वाला होता है ।^२

मन का इन्द्रियत्व और भौतिकत्व

आचार्य मुश्रुत ने मन को ज्ञान-कर्मेन्द्रिय^३ कहा है, क्योंकि वह इन दोनों (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) के साथ रहता है । इन्द्रियाँ अपने विषयों को तभी ग्रहण कर सकती हैं, या वे अपना कार्य तभी कर सकती हैं, जब मन उनके साथ हो । इसे प्रकार मन ज्ञानेन्द्रिय के साथ ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय का कार्य करता है ।

आचार्य चरक ने मन को अतीन्द्रिय^४ कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रियों का अतिक्रमण करने वाला या इन्द्रियों के अतिरिक्त है । वह इन्द्रियों की अपेक्षा विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न है । जैसे—इन्द्रियाँ प्रतिनियतविषयक होती हैं, जब कि मन के विषय सीमातीत और त्रैकालिक है । मन अपने विशाल कर्तृत्व के कारण, ज्ञान-कर्मेन्द्रिय दोनों का प्रयोजन होने के कारण तथा इन्द्रियों की अपेक्षा विशेषता रखने के कारण अतीन्द्रिय कहा जाता है । वस्तुत मन एक ‘उभयात्मक’ (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) इन्द्रिय है ।

मन का कर्तृत्व

शरीर में मन ही इन्द्रियों के साथ मिलकर सभी क्रियाएँ करता है । मन और इन्द्रियों की क्रियाओं में आत्मा की विद्यमानता मात्र है । चेतन होते हुए भी आत्मा निष्क्रिय है । अचेतन द्रव्यों में भी आत्मा के साम्राज्य होने पर क्रियाएँ होती हैं । इस शरीर में ज्ञान और कर्मरूप विविध कर्मों का कर्ता मन ही है । मन की क्रियाओं को जानने के कारण ‘सत्त्वसार’ का लक्षण तथा मन के सात्त्विक, राजस और वामस भेदों का वर्णन करना आवश्यक है ।

१. मानस पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

—च० श० १५७

२. तत्र सत्त्व निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुखमङ्गेन वव्वाति ज्ञानसङ्गेन चानव ॥

—गीता १४१

३. उभयात्मक मन ।

—सु० श० १६

४. अतीन्द्रिय पुनर्मन मत्त्वमङ्गक चेत इत्याहुरेके, नदर्थात्मसम्पत्तदायत्तचेष्ट चेष्टाप्रत्ययभूत मेन्द्रियाणाम् ।

—च० श० १४

सत्त्वसार^१ का लक्षण

‘ सत्त्व का अर्थ है—मन, और सत्त्वसार का अर्थ है—मनोबल-सम्पन्न व्यक्ति । जिस व्यक्ति का मन उत्तम कोटि का होता है, वह स्मृतिशक्ति-सम्पन्न होता है । वह भक्तियुक्त, कृतज्ञ, बातों को बारीकी के साथ समझने वाला, उत्साही, शूर, पराक्रमी, विवादरहित, कार्यों को दक्षता के साथ शीघ्र पूरा करने वाला और व्यवस्थित विचार का होता है । सत्त्वसार व्यक्ति अपने सभी कार्यों को यथासमय सम्पन्न कर लेता है । वह कल्याणकारी कार्यों में रुचि रखता है और पवित्र आचार वाला होता है । वह दुःख के क्षणों में भी गम्भीर और सयत रहता है ।^२

सात्त्विक मन

सात्त्विक मन का व्यक्ति दयालु होता है । उसमें अक्लरता होती है और वह भोज्य पदार्थों या उपभोग-योग्य वस्तुओं को बाँट कर खाता है या उपभोग करता है । वह क्षमाशील, सत्यवादी, प्राणियों का हित चाहने वाला, शरीर, मन तथा बाणी से उत्तम व्यवहार करने वाला, प्रतिभा-मम्पन्न, आस्तिक, मैधावी, स्मृतिमान्, धैर्यधर और नि स्पृह होता है ।^३

राजस मन

राजस मन का पुरुष दुखी स्वभाव का और घुमक्कड होता है । उसमें अहकार, मिथ्या भाषण, अधैर्य, निर्दयता और पाखण्ड की प्रवृत्ति होती है । वह कामुक, क्रोधी तथा मान-सम्मान के लिए उत्सुक रहता है ।^४

तामस मन

तमोगुणी व्यक्ति शोकग्रस्त, अधर्मचिरण करनेवाला, नास्तिक, बुद्धिहीन, अज्ञानी, आलसी, अकर्मण्य और निद्रालु स्वभाव का होता है^५ । मन के कार्य उसके सत्त्व-रज और तभ इन तीनों गुणों पर निर्भर करते हैं । मन ही सासार की सभी प्रवृत्तियों का जनक है । सुख-दुःख का कारण मन ही है । मन में सचित्र कर्मों

१. (क) स्मृतिभक्तिप्रशाशीचशीर्योपेत कल्याणाभिनिवेशिन सत्त्वसार विद्यात् ।

(ख) स्मृतिमन्तो भक्तिमन्त कृतज्ञा । प्राज्ञा शुचयो महोत्साहा दक्षा । धीरा समर-विकान्तयोधिनम्यक्तविपादा सुव्यवस्थितगतिगम्भीरबुद्धिचेष्टा कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वमारा ।

—च० वि० ८११०

२. सत्त्ववान् सहते सर्वं सस्तभ्यात्मानमात्मना । राजस स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामस ॥

—सु० न० ३६१३८

३. सात्त्विकास्तु—आनृद्धास्य मविभागरुचिता निनिशा मत्य थर्म भस्त्र भास्त्र तुद्धिमेधा न्यनिर्धृतिरनभिपद्धथ ।

—सु० शा० १

४. राजसास्तु—दुःखालताऽनशीलताऽधृतिरहद्वार-आनृनिकत्वमकाम्य दम्भो मानो दृष्टि काम क्रोपथ ।

—सु० शा० १

५. तामसास्तु—विपादित्व नास्तिक्यमधर्मशीलना ब्रह्मेनिरोधोऽनान दर्मेभवत्वमकमशीलना निद्रालुस्थ नेति ।

—सु० शा० ११४८

के अनुसार ही विविध योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है ।^१ शरीर में मन गर्भावस्था में पूर्वजन्म के सस्कारों के साथ प्रवेश करता है और मृत्यु के समय शरीर से अलग हो जाता है एवं शरीर में सब क्रियाएँ वस्तुत मन ही करता है ।

मन का अधिष्ठान

आयुर्वेदीय भत के अनुमार मन का स्थान हृदय है और यह हृदय दोनों स्तनों के बीच में उर कोष्ठ में स्थित है ।^२ इस हृदय से प्राणवह^३ धमनियाँ निकलती हैं । इसके दोनों ओर फुप्फुस और नीचे प्लीहा और यकृत हैं । यह रक्त परिचालक यन्त्र है, जो सुषिर, मासपेशीभय और अधोमुख कमल^४ के आकार का होता है । इसे अग्रेजी में हार्ट (Heart) कहते हैं । आयुर्वेद में वक्ष स्थ हृदय को बुद्धि, मन और चेतना का स्थान कहा गया है ।

आचार्य चरक ने सगुण आत्मा और चित्त (मन) का स्थान हृदय बतलाया है ।^५ सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दों में हृदय को चेतना का स्थान कहा है ।^६ अष्टाङ्गहृदय, शार्ङ्गधरसहिता,^७ काञ्चयपसहिता^८ एवं उपनिषदों^९ के वचनों से नि सन्देह वक्ष स्थ हृदय ही मन का अधिष्ठान है ।

उर स्थ हृदय को मन का स्थान मानने में अन्य भी अनेक मत हैं, जिन सबका उल्लेख विस्तारभय से नहीं किया जा रहा है, किन्तु हृदय से 'हार्ट' ही समझना चाहिए । इसमें करिपय युक्तियों का उल्लेख आवश्यक होने से किया जा रहा है—
१. आयुर्वेद में हृदय शब्द का एकवचन^{१०} में प्रयोग है, इससे शरीर में हृदय केवल एक है, यह अभिप्राय प्रकट होता है । २. शरीर के छ अग होते हैं, चार शाखाएँ, शिर और मध्य शरीर (धड़) इनमें से मध्य में (कोष्ठ में) हृदय की स्थिति

१. अक्ति खलु सत्त्वमौपपादुक, यज्जीव सृक्षशरीरेणाभिसम्बद्धनाति । यस्मिन्नपगमनपुरस्त्वते शीलमन्य व्यावतते, भक्तिविपर्यस्तते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्यायन्ते, यस्माद्वीन प्राणाङ्गाति, यदिन्द्रियाणाभिग्राहक च मन इत्यभिधीयते । —च० शा० ३।१९

२. सत्त्वादिधाम हृदय स्तनोर.कोष्ठमध्यगम् । —अष्टाङ्गहृदय, शा० ४

३. शोणितकफ्रसादज हृदय यदाश्रया हि धमन्य प्राणवहा । —सुश्रुत० शा० ४।३१

४. मासपेशीच्योरक्तपद्माकरमधोमुखम् । —अष्टाङ्ग० १२।१५, सर्वाङ्गसुन्दरी टीका

५. षट्क्षमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यथपञ्चकम् । —च० स० ३०

आत्मा च सगुणश्चेत्त्विन्त्य च हृदि स्थितम् ॥ —च० स० ३०

६. हृदय चेतनास्थानमुक्त सुश्रुतदेहिनाम् । —सुश्रुत० शा० ४।३३

७. नाभिस्थ प्राणपवनं सृष्ट्वा हृत्क्षमलान्तरम् । —शार्ङ्गधर

कण्ठाद्वहिर्विनियोति पातु विष्णुपदानृतम् ॥

८. नाभि प्लीहा यकृत क्लोम हृदवृक्की गुदवस्तय । —काञ्चयपसहिता

भुतान्त्रमय च स्थूलमामपवक्षाशयौ तथा । कोष्ठाङ्गानि ॥

९. स एष योऽन्नहृदय आकाश । तस्मिन्नय पुरुषो मनोमयः । —तैत्तिरीयोपनिषद् १।६

१०. तस्य पुन सङ्ख्यान—त्वच कला वानवो भला दोषा यकृतप्लीहानौ फुप्फुम उण्डुको हृदयमाशया । —सुश्रुत० शा० ४।४

कही गयी है ।^३ ३ अन्त सुपिर मासपेशीमये, अधोमुख कमलकलिकाकार हृदय का वर्णन किया गया है ।^४ इन सभी उल्लेखों से 'हाट' ही हृदय प्रमाणित होता है । ४ कोष्ठस्थ उपाङ्गों के साथ हृदय का वर्णन^५ करने से भी हृदय 'हाट' का ही बोधक प्रतीत होता है । ५. मर्मों के वर्णन में^६ हृदय के अलावे शिर के मर्मों का वर्णन किये जाने से यह सिद्ध होता है कि हृदय शिर में नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन से सर्वथा वक्ष स्थ रक्तवह-स्थान (रक्त-परिचालक यन्त्र) को ही हृदय कहते हैं, यह वात पुष्ट होती है और यही वात समस्त भारतीय वाऽमय में प्रतिपादित है । आयुर्वेद में कोष्ठस्थ हृदय को बुद्धि, अहकार और मन का स्थान होने से चेतन्य का स्थान माना गया है । हृदय^७ में आत्मा का निवास होने से आयुर्वेद हृदय को ही मन-बुद्धि का स्थान मानता है एव हृदय से निकले हुए सज्जावह, चेतनावह या मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर को चेतनता प्राप्त होती है और दोपो (वात-पित्त-कफ) के द्वारा हृदय तथा सज्जावह स्रोतसों की दुष्टि होने से हृदय या मन के विकारो (मानस रोगो) की उत्पत्ति होती है ।

मनोवहस्त्रोतस्

आचार्य चरक ने कहा है, कि 'हृदय'^८ में ही इन्द्रियाँ, उनके विषय, आत्मा, मन और मन के विषय आश्रित हैं ।^९ मन की क्रिया 'वात' के अधीन है^{१०} और वात का (प्राणवायु का) केन्द्र मस्तिष्क में है और उसका कार्य-क्षेत्र समस्त शरीर है । इन्द्रियाँ भी शिर स्थ वतलायी गयी हैं—'शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतामि' (चरक०) । वात की प्रेरणा से मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है^{११} और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं । यहाँ पर पूर्वकृत कथन से मन का स्थान हृदय और कार्यालय मस्तिष्क तथा कार्यक्षेत्र समूचा शरीर समझना चाहिए ।

मन और इन्द्रियों के कर्म वायु की सहायता पर निर्भर है । सुश्रुत ने ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों द्वारा ज्ञानार्जन अथवा कार्य-सम्पादन में रक्त-सचार की क्रिया को

१. पञ्चदश कोषाङ्गानि, तथा—नाभिश्च हृदयञ्च क्लोमञ्च यकृच्च प्लीहा च ।

—भेल० शा० ७

२. मासपेशीमयो रक्तपचाकारमधोमुखम् । —अष्टाङ्गहृदय १२।१५ पर सर्वाङ्गसुन्दरीटीका

३. 'हृदयस्याधो वामत प्लीहा दक्षिणतो यकृत' । —सुश्रुत० शा० ५

४. सप्तोत्तर मर्मशत यदुक्त शरीरसङ्ख्याभिकृत्य तेषु ।

मर्माणि वस्तिन्द्रिय शिरश्च प्रधानभूतानि भवन्ति देहे ॥ —चरक० चि० २६।३

५. अर्थे दश महामूला समासका महाफलाः । महच्चार्थश्च हृदय पर्यायैरुच्यते वृथै ॥

पठङ्गमद्विज्ञानमिन्द्रियाण्यथंपञ्चकम् । आत्मा च सुगुणश्चेतश्चिन्त्य च हृदि मन्त्रितम् ॥

—चरक० सूत्र० ३०।३-४

६. पठङ्गमद्विज्ञानमिन्द्रियाण्यथंपञ्चकम् । आत्मा च मुण्डश्चेतश्चिन्त्य च हृदि सस्थितम् ॥

—चरक० सूत्र० ३०।४

७. नियन्ता प्रणोना च मनम् ।

—च० मू० १२।८

८. मर्वेन्द्रियाणामुद्घोजक ।

—च० मू० १२।८

विशेष महत्त्वपूर्ण कारण बतलाया है।^१ इसी प्रकार मद, मूर्च्छा और सन्यास रोगों की सम्प्राप्ति मे कहा गया है—‘वात आदि दोषों से सज्जावाही नाडियों के आवृत्ति हो जाने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है और वह छिन्नमूल वृक्ष की तरह निरवलम्ब होकर धराशायी हो जाता है’।^२

चरक ने नाड़ी शब्द का अर्थ किसी विशेष वस्तु के लिए न करके धमनी, सिरा, स्रोत, रसायनी, मार्ग, छिद्र, आशय प्रभृति को नाड़ी शब्द से समानार्थक कहा है।^३ अन्यत्र भी नाड़ी से धमनी-सिरा का ग्रहण किया गया है—‘नाड़ी तु धमनी सिरा’।

चरकसहिता मे मद-मूर्च्छा-सन्यास रोगों का वर्णन ‘विधिशोणितीय’ अध्याय मे किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि रक्तसवहन की क्रिया मे व्यतिक्रम या अन्य रक्तविकारों से ही ये रोग होते हैं। इन रोगों की गणना मानस रोगों मे की जाती है, क्योंकि इनमे सज्जानाश की स्थिति हो जाती है और मनुष्य किसी भी प्रकार की वेदना का अनुभव नहीं करता। चरक^४ ने कहा है, कि रस-रक्त तथा चेतनावाही स्रोतों मे अवरोध के कारण चित्त के दुर्बल स्थान को वायु आक्रान्त करके तत्रस्थ मन को क्षुब्ध कर सज्जा का सम्मोहन कर देता है। इस तरह मूर्च्छा का विशेष सम्बन्ध रक्तसवहन और मस्तिष्क दोनों से ही सिद्ध होता है। हृदय के यथावत् स्वाभाविक रूप से रक्त-सवहन के व्यापार पर ही सम्पूर्ण शरीर और मस्तिष्क की क्रियाएँ ठीक से होती रहती हैं।^५

स्पर्शज्ञान का आधार सुश्रुत ने रक्तसवहन को बतलाया है और स्पर्शनेन्द्रिय सभी इन्द्रियों मे प्रधान और व्यापक कही गयी है,^६ क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रियाँ स्पर्श

१ धातूर्नां पूरण वर्णं स्पर्शज्ञानमसशयम् । स्वा सिरा सञ्चरदक्त कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥
—सु० शा० ७।१४

२ सज्जावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः । तमोऽस्युपैति सहसा सुखदुखव्यपोहवृत् ॥
सुखदुखव्यपोहाच्च नर पतति काष्ठवत् । मोहो मूर्च्छेति तामाहु ॥
—सुश्रुत० उ० ४।६।६

३ ऋतासि भिरा धमन्य रसायन्य रसवाहिन्य । नाट्य पन्थान , मार्ग शरीरचिन्द्राणि सवृत्तासवृत्तानि स्थानानि आशया निकेताश्चेति गरीरधात्ववकाशाचाला लक्ष्यालक्ष्याणा नामानि भवन्ति ।
—चरक० विमान० ५।९

४ यदा तु रक्तवाहीनि रससज्जावहानि न । पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतासि कुपिता मला ॥
मलिनाद्वारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः । प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥
मदमूर्च्छाय सन्यासास्तेषा विद्यादिचक्षण । यथोत्तर वलाधिक्य हेतुलिङ्गोपशान्तिपु ॥
दुर्बल चेतस स्थान यद् वायु प्रपथते । भनो विक्षोभयन् जन्तो मज्जा सम्मोहयेत्तदा ॥
—च० मू० २।४।५-८

५ देहस्य रुधिर मूल रुधिरेणैव धार्यते । तस्माद्यत्नेन सरक्ष्य रक्त जीव इति स्थिति ॥
—सुश्रुत० सूत्र० १।४।४४

* * *

तद्विशुद्ध हि रुधिर वलवर्णसुखायुषा । युनक्ति प्राण शोणित शनुवर्तते ॥
—चरक० मूत्र० २।४।४

६. नत्रैक स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापक चेत मपवायि स्पर्शनव्याप्तेव्यापकमपि न
चेतः ।
—चरक० मूत्र० १।३।८

करके ही रूप आदि विषयों का ज्ञान करती है। जब इन्द्रियों का अपने विषयों से स्पर्श नहीं हों पाता तो उनके विषय का ज्ञान नहीं होता—‘तास्पृष्टो वेत्ति वेदना’। स्पर्शनेन्द्रिय में वायु की प्रधानता होती है और मन को भी प्रेरणा देने वाला वायु ही है। इससे स्पर्शनेन्द्रिय और मन दोनों का प्रेरक वायु है। यह स्पष्ट है एवं मन और स्पर्शनेन्द्रिय का समवायसम्बन्ध है, अर्थात् जहाँ-जहाँ स्पर्शनेन्द्रिय से रूप आदि किसी भी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वहाँ-वहाँ मन तथा वायु की उपस्थिति अवश्यमेव रहती है। मन भी अपने चिन्त्य आदि विषयों का ज्ञान तभी कर पाता है जब मन का अपने विषयों से मानस स्पर्श होता है।^१

इन्द्रियों मन पुर सर होकर ही अपने विषयों का ज्ञान करती है।^२ वायु के प्रयत्न से ही मन और इन्द्रियाँ अपने व्यापार में प्रवृत्त होती हैं। इस तरह मन और इन्द्रियों के व्यापार में वायु की प्रधान भूमिका होती है।^३

आयुर्वेद में जो ‘वात’ के कर्म कहे गये हैं, आधुनिक क्रियाशारीर के विद्वान् उन कर्मों को नाड़ी-स्थान या भस्त्रपक का कार्य मानते हैं। नाड़ी-स्थान के दो कार्य हैं—शरीर में होने वाली समस्त क्रियाओं का सचालन और परिस्थिति के अनुसार उन क्रियाओं में विविध परिवर्तन करना। प्रथम प्रकार की नाड़ियाँ वाह्य सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान को तथा शरीरावयवों में होने वाली शुभ-अशुभ वेदनाओं को अपने केन्द्रों तक पहुँचाती हैं। दूसरे प्रकार की नाड़ियाँ केन्द्रों की ओर से यथायोग्य चेष्टाओं का आदेश अवयवों की ओर ले जाती हैं। इनमें पहले प्रकार की नाड़ियाँ ‘सज्जावह’ और दूसरे प्रकार की नाड़ियाँ ‘मनोवह’ कहलाती हैं। यद्यपि सज्जा और चेष्टा दोनों क्रियाओं में मन का वहन होता है, क्योंकि बिना मन के क्रिया नहीं होती है, तथापि आत्मा-स्थित इच्छा को शरीरावयवों तक पहुँचाने के कार्य में चेष्टाओं को उन-उन अगों तक मवहन कर उन-उन चेष्टाओं के सम्पादन में मन का व्यापार विशेष परिलक्षित होता है। इसलिए चेष्टावह को मनोवह की सज्जा दी जाती है।

आयुर्वेद में इन्द्रियों के दो विभाग किये गये हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। इन दोनों ही का कार्य वात से प्रेरित मन द्वारा होता है।^४

आधुनिक क्रियाशारीरविद् नाड़ी-स्थान के दो कार्य अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के वेगों का वहन करना बतलाते हैं। प्राचीन आचार्यों ने ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का विभाग इसी वात को ध्यान में रखकर किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

१. अर्थात् निद्रमस्पर्श स्पर्शों मानस एवं च। द्विविध सुखदुःखाना वेदनानो प्रवर्तक। ॥

—चरक० शा० १२३३

२. मन पुर सराणीनिद्रायाण्यर्थग्रहणमर्थानि भवन्ति।

—चरक० सूत्र० ८७

३. मर्वेन्द्रियाणामुद्योजक, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोदा।

—चरक० सूत्र० १२१८

४. मनश्चेष्टापुर. मरमेव विषयप्रवृत्ते मनसोऽपि वाताप्रयत्नाद्विनाऽभाविनो प्रवृत्तिः ॥
वातप्रयत्नादात्ममन पुर मराणीनिद्रायाणि अर्थोपादानार्थमभिप्रवर्तन्ते।

—सुश्रुत० नि० १२५ पर गयदास

निष्पक्ष यह है कि शरीर की सज्जा-चेष्टा का कार्य मन करता है और वह सम्पूर्ण शरीर मे जहाँ तक सज्जा या चेष्टा का व्यापार है वहाँ तक उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार 'वायु'। इसी बात को आचार्य चरक ने कहा है कि—'सम्पूर्ण शरीर मे चलने वाले वात-पित्त-कफ के लिए सभी स्रोत अयन (मार्ग) भूत हैं, उसी प्रकार अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से अग्राह्य) मन आदि मम्पूर्ण चेतना से युक्त शरीर मार्ग और आश्रय है'।^१

सुश्रुताचार्य ने ऊर्ध्वग धमनियों के कार्य बतलाते हुए कहा है कि—'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, प्रश्वासोच्छ्वास, जम्भाई, ठीक, हँसना, बोलना इत्यादि विशेषों का वहन करती हुई धमनियाँ शरीर को धारण करती हैं'।^२

धमनियों की क्रिया वायु से सम्बद्ध है। जब प्रत्येक अग की रक्तवाहिनी मे अविकृत वायु सचरण करती है तब उसका कार्य ठीक से होता रहता है। धमनियों के जो कार्य बतलाये गये हैं, उन सबका सम्बन्ध इन्द्रियों से है—इस कथन से सिद्ध होता है कि शरीर के जितने भाग मे रक्त-सवहन होता है, उतने भाग मे इन धमनियों की क्रिया होती रहती है और रक्तसवहन मे व्यतिक्रम होने पर रोग उत्पन्न होने लगते हैं और ऐसे रोग मानस या बात रोग की सीमा मे गिनाये गये हैं। इससे बात, मन और धमनियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस मान्यता को सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है और इन्द्रियों तथा मन के कार्य को धमनी के आश्रित बतलाया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण वह श्लोक है जिसमे यह कहा गया है कि—'पच ज्ञानेन्द्रियों मे फैली हुई धमनियाँ मन के साहचर्य से पञ्चेन्द्रिय पुरुष को क्रमशः पाँच इन्द्रियार्थों मे सयोजित करती हैं और वे धमनियाँ जीवन-पर्यन्त पञ्चेन्द्रिय पुरुष या जीवात्मा को इन्द्रियार्थों का ज्ञान कराती रहती हैं और विनाशकाल मे शरीर से आत्मा के निकल जाने पर स्वयं पञ्चत्व को (विनाश को) प्राप्त हो जाती हैं'।^३

इस श्लोक मे धमनियों के बारे मे दो महत्वपूर्ण बाते बतलायी गयी हैं। पहली बात यह है कि आत्मा के ज्ञान की साधन जो इन्द्रियों हैं—'आत्मा ज्ञ करणैर्योगात् ज्ञान त्वस्य प्रवर्तते' (चरक० शा० १) —उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने का काम धमनियाँ ही करती हैं; आत्मा हृदय मे रहता है। (यह पहले कहा जा चुका है) और मन का भी स्थान हृदय है। वह हृदय मे निकलने वाली धमनियों मे

१. वातपित्तश्लेषणा पुनः मर्वशरीरचराणा सर्वाणि स्रोतास्थयनभूतानि तद्वदतीन्द्रियाणा पुनः मत्त्वादीना केवल चेननावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठातभूत च। —चरक० वि० ५।६

'मनोवहस्रोतांसि यद्यपि पृथग् नोक्तानि, तथापि मनसः केवलमेवेद शरीरमयनभूतम्' इत्यमिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्णन्ते। —चरक० इन्द्रिय० ५।४। परं चक्रपाणि

२. ऊर्ध्वगा शाब्दस्पर्शरूपरमगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृभितक्षुद्धसितकथिनदितादीन् विशेषान् भिवहन्त्यः शरीर धारयन्ति। —सुश्रुत० शा० १।४

३ पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वं पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।

पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥

—सुश्रुत० शा० १।०

से होकर इन्द्रियों तक पहुँचता है और उसके साथ होने से इन्द्रियाँ अपने इन्द्रियार्थ को ग्रहण कर आत्मा को उसका ज्ञान कराती है।

इसलिए ये धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं। इस सन्दर्भ में चक्रपाणि का निमाङ्कित उद्धरण मननीय है—

‘मनोवहानि स्तोत्रासि यथपि पृथग् नोक्तानि, तथापि ‘मनस केवलमेवेद शरीर-मयनभूतम्’ इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्तोत्रासि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वाभ्यन-स्तदाश्रया दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते’ (चरक० इन्द्रिय० ५।४१ पर चक्रपाणि) अर्थात् यथपि मनोवह स्तोत्रस् अलग नहीं कहे गये हैं, फिर भी ‘मन का शरीर ही स्रोत या मार्ग है’ इस कथन से शरीर के सभी स्रोतों का ग्रहण हो जाता है, विशेषकर मन के हृदय में आश्रित होने से हृदय से निकलने वाली दस धमनियाँ मनोवह स्तोत्रस् कही जाती हैं।

दूसरी बात यह है, कि शरीर के विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। जीवनभर धमनियों की स्पन्दन-क्रिया होती रहती है। जब धमनियों की स्पन्दन-क्रिया बन्द होने लगती है, तो विनाशकाल का ज्ञान हो जाता है। जैसा कि चरक ने इन्द्रियस्थान में कहा है कि—लगातार स्पन्दनशील अगो में स्पन्दन न होना एवं श्रीवा स्थित मन्या धमनियों का स्पर्श करने पर यदि स्पन्दन न मालूम पड़े, तो उस व्यक्ति को मृत समझना चाहिए—‘तस्य चेन्मन्ये परिभृश्यमाने न स्पन्दयाता, परासुरिति विद्यात्’ (चरक० इन्द्रिय० ३।६)।

इस प्रकार हृदय को चेतना का स्थान, ओज और प्राण का एवं चैतन्य का स्थान कहा गया है^१। इस हृदय से धमनियों द्वारा समस्त शरीर के समस्त धातुओं के अग-प्रत्यग को प्राणयुक्त (चैतन्ययुक्त) जीवरक्त मिलता है, जिससे कि सम्पूर्ण शरीर चैतन्ययुक्त हो जाता है। हृदय के एक-दो सेकेण्ड काम न करने से आँखों के सामने चिनगारियाँ आ जाती हैं, चक्कर आता है, शरीर में कम्पन होने लगता है और प्राण के निकल जाने का भय होने लगता है। इन बातों को ध्यान में रखकर ही हृदय को प्राणादि का स्थान माना गया और वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण यन्त्र है। चेतना की दृष्टि से भी विचार करने पर पूर्वोक्त तथ्य स्पष्ट होते हैं।

एवं उपर्युक्त सन्दर्भों से शरीर के समस्त स्रोतों में मनोवह स्तोत्र मानने पर भी हृदयस्थ धमनियाँ विशेषरूप से मनोवह स्तोत्र कही जाने योग्य हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के अभिप्राय से चेतना का अधिष्ठान बतलाते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—केश, लोम, नखों का अग्रभाग, अन्न, मल, मूत्र और शब्दादि विषयों को छोड़कर इन्द्रियों समेत समस्त शरीर चेतना का अधिष्ठान है—

‘वेदनानामधिष्ठान मनो देहश्च सेन्द्रिय ।

केशलोमनखाग्रान्मलद्रवगुणेविना’ ॥ —चरक० शा० १।१३६

१. यद्ध तस्पशविज्ञान धारि तत्त्र संस्थितम् ॥

तत्परम्यौजस् स्थानं तत्र चैतन्यसङ्ग्रह ।

हृदय महदर्थश्च तस्मादुक्त चिकित्सकै ॥

—चरक० सत्र० ३।०।६-७

सज्जावह स्रोत और मनोवह स्रोत के भेद से वेदना का ज्ञान करानेवाली दो प्रकार की नाड़ियाँ मानी गई हैं। सज्जावह स्रोत के शादि के अतिरिक्त शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। इनका रूपादि विषयों से स्पर्श होता है।^१ इन सज्जावहाओं में बात सदैव स्थित रहता है। उसकी प्रेरणा में मन सज्जावहों द्वारा आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति कराता है।

मन का पोषण—मन एक इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, क्योंकि किसी भी इन्द्रिय का कार्य विना मन के सहकार के नहीं होता है। दूसरी बात यह है, कि इन्द्रियों के जो दो विभाग किये गये हैं—१ ज्ञानेन्द्रिय और २ कर्मेन्द्रिय, इनमें दस इन्द्रियाँ आती हैं और सभी दसों इन्द्रियाँ किसी निश्चित विषय को ग्रहण करती हैं या किसी निर्धारित कर्म को करती हैं, किन्तु मन इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों के समस्त व्यापार के साथ रहता है। इसके अतिरिक्त मन के व्यापार की अन्य सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। मन त्रैकालिक विचार, चिन्तन, ऊहापोह करने के लिए स्वतन्त्र है। मन के इस महत्व के ही कारण आयुर्वेद में किसी व्यक्ति को तब तक स्वस्थ नहीं माना जाता, जब तक वह शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से स्वस्थ न हो—

‘समदोष समग्निश्च समधातुमलक्रिय ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ —सु० स० १५।४४

दशविध परीक्ष्य (चरक० विमान० अ० ८) के वर्णन के प्रसङ्ग में ‘चरक’ ने जो धातुसाम्य के लक्षण गिनाये हैं, उनमें भी मानसिक स्वस्थता की बात कही गयी है। ‘मन, बुद्धि और इन्द्रियों का सभी तरह से कष्ट रहित होना’ धातुसाम्य का लक्षण कहा गया है—

‘कार्य धातुसाम्य, तस्य लक्षण विकारोपशम । परीक्षा चास्य रुगुपशमन् । सर्वकारर्मनोबुद्धीन्द्रियाणा चाव्यापत्तिरिति ।’ (च० वि० ना० ९)

शरीर और मन का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब दोनों में से कोई एक रोगी होता है तो दूसरे पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और वह भी रुग्ण हो जाता है—‘शरीरमनुविधीयते सत्त्व, सत्त्वञ्च शरीरम्’। (चरक)

शरीर के पोषण के लिए जिन आहारद्रव्यों को श्रेष्ठ बतलाया गया है, वे

^१. ज्ञानोत्पत्ति का यह प्रकार आधुनिक क्रियाशारीर से सामज्ञस्य रखनेवाला है, देखें—

The sense of touch may be regarded as a modification of common sensation, and all parts of the body which are supplied with sensory nerves are to a certain extent organs of touch.

—Human Physiology, p 251

मनी ज्ञानेन्द्रियों के स्पर्शात्मक होने से स्पृत में विषयों का एक नाम स्पर्श भी है। जैसे—

‘वाहस्पर्शेऽव्यसक्तात्मा ।’

‘ये हि स्पर्शंजा योगा ।’

‘मात्रास्पर्शास्तु यौन्तेय शीतोष्णसुखदु यदा ।’

—गीता

ही आहारद्रव्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के भी पोषण कहे गये हैं। आहार से जैसे शरीर की धातुओं का पोषण होता है, उसी तरह मन का भी पोषण होता है।

मनोनुकूलता आहार का एक विशेष गुण है, क्योंकि आहार की उपयोगिता तभी है जब वह सम्यग् विपक्व होकर शरीर की उन-उन धातुओं का पोषण कर सके और मानसिक प्रभाव भी अनुकूल हो। मन से ईर्ष्या-मय-क्रोध-लोभ और द्वेष की भावना होने की स्थिति में किया हुआ भोजन नहीं पचता है^१।

आहार का मन पर प्रभाव पड़ता है और मन के तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम भी आहार से प्रभावित होते हैं। जब मनोनुकूल वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श से युक्त आहार को ग्रहण किया जाता है तो वह आहार मन को पोषित कर उसे बल प्रदान करता है और इन्द्रियों को भी सबल, स्वस्थ और प्रसन्न बनाता है^२। जब मन को प्रिय लगनेवाला आहार ग्रहण किया जाता है, तो उस अन्नपान से मन में सन्तोष, बल और रुचि की वृद्धि होती है साथ ही शरीर का बल, आरोग्य और आयु बढ़ती है—

‘मनसोऽर्थानुकूल्यादि तुष्टिरूजा रुचिर्बलम् ।
सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्ष्य’ ॥

(चरक चि० ३०।३३३)

सत्त्व-रज-तम को प्राण कहा गया है—‘अग्नि सोमो वायु सत्त्व रजस्तम पञ्चे-निद्र्याणि भूतात्मेति प्राणा’ (सु० शा० ४।३)। डल्हण ने कहा है कि सत्त्व-रज-तम ये मन के रूप हैं—‘सत्त्व रजस्तमश्च मनोरूपतया परिणतम्’ (सु० शा० ४।३)। इस प्रकार मन की प्राण सज्जा भी है और प्राण अन्न पर निर्भर होने से मन की स्थिति भी अन्न के ऊपर है एव मन का भी पोषण उसी आहार से होता है, जिससे शरीर की सभी धातु आदि का पोषण होता है। अतएव चरक ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रसन्नता, प्रतिभा, सुख, बुद्धि इन सबकी उपलब्धि अन्न से ही होती है^३। शरीर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भी अन्न द्वारा ही पोषित होते हैं और इन्द्रियों का भी पोषण अन्न से ही होता है^४।

१. ईर्ष्यांभयक्रोधपरिष्टुतेन लुब्धेन रुद्धैन्यनिर्पिण्डितेन ।

प्रदेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्त्रे न सम्यक् परिपाकमेति ॥ —माधवनिदान

२ इष्टवर्णगन्धरमन्पर्शं त्रिभिविहितमन्नपानं प्राणिना प्राणिमङ्गकाना प्राणमाचक्षते कुशला-, प्रत्यक्षफलदर्शनात्, तदिन्धना द्यन्तरन्ने मिथि, तत् सत्त्वमूर्जयति, तच्छ्रीरधातुव्यूहवलवर्णे-निद्र्यप्रसादकर यथोक्तमुपसेव्यमान, त्रिपरीतमहिताय सम्पदते । —चरक० सत्र० २७।३

३ प्राणा प्राणभूतामन्नमन्न लोकोऽभिधावति । वर्ण प्रसादं सौम्वर्य जीवित प्रतिभा सुखम् ॥

तुष्टि पुष्टिर्बलं मेधा मर्वमन्त्रे प्रतिष्ठितम् । लौकिक कर्म यद् वृत्तौ म्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥

कर्मापवर्गे यच्चोक्त तन्त्रात्यन्ते प्रतिष्ठितम् ॥ —च० म० २७।३४०-५९

४ अन्नमिष्ट हयुपकृतमिष्टेर्गन्धादिभि पृथक् । देवे प्रीणानि गन्धादीन् ग्राणादीनिन्द्र्याणि च ॥

—व० चि० १५।१२

आहार की तरह औषध द्रव्य या कल्पित औषधि-योग भी मन का पोषण करते हैं और मन को कर्मठ बनाते हैं। आसवों के गुण-वर्णन के प्रसङ्ग से कहा गया है कि आसव मन, शरीर और अग्नि के बल को बढ़ाने वाले और अनिद्रा, शोक तथा अरुचि को नष्ट करने वाले एवं मन को प्रसन्न करने वाले होते हैं।^१

मन में सचित तमोदोष से मन बुद्धि के आवृत्त हो जाने पर सज्जानाश की स्थिति हो जाती है, जिसे दूर करने के लिए तमोदोष को हटाने के लिए उष्णवीर्य औषधियों का प्रयोग किया जाता है और आहार से मेध्य^२ द्रव्य, जैसे—शखपुष्पी, जटामासी, ब्राह्मी, वच, हींग, पुराना घी आदि का प्रयोग करते हैं। इससे भी यह बात सिद्ध है, कि औषधि द्रव्यों के आहार से मन का पोषण होता है। चरक^३ और सुश्रुत^४ में भी मेध्य रसायनयोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और यह सब इस बात के लिए साक्ष्य है, कि आहारद्रव्यों से मन का पोषण होता है।

मन के तीन गुणों का आहार से सम्बन्ध बतलाते हुए गीता में कहा गया है कि—‘सात्त्विक पुरुष को वही आहार प्रिय होता है, जो आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य और प्रीति को बढ़ाने वाला तथा स्निग्ध, स्थिर एवं मन की रुचि के अनुकूल होता है।’ राजस पुरुष कडवे, खट्टे, लवणयुक्त, अत्युष्ण, अतिरीक्षण, रुक्ष, विदाही तथा दुख, चिन्ता और रोगेत्पादक आहार में रुचि रखनेवाले होते हैं। एवं नीरस, अर्धपक्व, बासी, अपवित्र और उच्चिष्ठ भोजन में तामस पुरुष की रुचि होती है।^५

इस प्रकार भोजन के साथ मानसिक गुणों का भी परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है। ‘छान्दोग्योपनिषद्’ में कहा गया है, कि जो अन्न खाया जाता है, उसका

^१ मन शरीराग्निवलप्रदानामस्वप्नशोकारुचिनाशनानाम् ।

सहर्षणाना प्रवरासवानामशीतिरुक्ता चतुरुक्तरैषा ॥ —च० स० २५।५०

२. हिंडुकैदयरिमेदावचाचोरकवयस्था गोलोमी जटिलापलङ्घवशोकरोहिण्य इति दशेमानि सशास्यापनानि भवन्ति ॥ —च० स० ४।४८

३. (i) जराव्याधिप्रशमन बुद्धीनिद्र्यवलप्रदम् । (ब्राह्मरसायन)

(ii) स्वय चाम्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदावाक् च रूपिणी । (आमलकरसायन)

(iii) धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धं श्रुतधारी । (लौहादिरसायन)

(iv) मेधास्मृतिशानहराश्च रोगा शाम्यन्त्यनेनातिवलाश्च वाता । (ऐन्द्ररसायन)

(v) मेध्यानि नैतानि रमायनानि मेध्या विशेषेण च शशपुष्पी । —च० चि० १।३

४. श्रुतिगादी स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति ।

मेधावी वर्षशतायुर्भवति ।

श्रुतवर पञ्चवर्षशतायुर्भवति ।

मेध्यमारोग्यमायुर्युषुष्टिमौभाग्यवर्धनम् ।

—स० चि० २।३-५, १७

५. आयु. मत्त्ववलारोग्यसुरप्रीतिविवर्धना ।

रस्या मिन्गधा. मिथ्या हृषा आहारा मार्त्त्विकप्रिया ॥

कट्कम्लवणात्युष्णनीक्षणरुक्षविदाहिन् । आहारा राजमस्येषा दुख शोकामयप्रदा ॥

यानयाम गतरम् पूति पर्युषित च यत् । उच्चिष्ठमपि चामेध्य भोजनं नामसप्रियम् ॥

तीन भाग बनता है—जो स्थूल अश होता है, उससे मन बनता है, जो मध्य अश होता है, उससे मास आदि बनते हैं तथा जो अणु (सूक्ष्म) अश होता है, उससे मन का पोषण होता है ।^१ इस कथन से भी आहार से मन के पोषित होने की बात स्पष्ट होती है ।

मन की गणना पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ की गयी है और मधुर रस को पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय तथा मन को सन्तुष्ट करने वाला कहा गया है^२ । इस उक्ति से आहार से मन का पोषण होना सिद्ध होता है । एवं ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति-ममाधि भी मन के पोषक होते हैं ।^३

१. अन्नमशित त्रैथा विधीयते, तस्य य स्थविष्ठो धातुस्नस्य पुरीष भवति, यो मध्यमन्तन्मास, योऽधिष्ठस्तन्मन इति । —छान्दोग्य० ६।५।९

२. मधुरो रस षडिन्द्रियप्रसादन ।

‘षडिन्द्रियाणि मनसा सम्म’ ।

३. मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिममाधिभि ।

—चरक० स० २६।४३ पर चक्रपाणि ।

—च० स० १५८

दशम अध्याय

मनोविज्ञान की उपादेयता

आचार्य चरक ने आयु की परिभाषा के सन्दर्भ में कहा है कि—‘शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के योग को आयु कहते हैं’।^१ आगे चलकर मन, आत्मा और शरीर के प्रगाढ़ सम्बन्ध को ‘त्रिदण्ड’^२ वतलाया गया है और यह त्रिदण्ड ही जीवन का आधार है तथा चिकित्साशास्त्र में केवल शरीर की चिकित्सा को ही लक्ष्य न मानकर मन एव आत्मा की ओर भी विशेष ध्यान देने की वार्ता कही गयी है।

‘आयुर्वेद’ किसी व्यक्ति को तब तक स्वस्थ नहीं मानता जब तक दोष, अग्नि, धातु एव मल की क्रिया की समानता (प्राकृतावस्था) के साथ-साथ, उस व्यक्ति की इन्द्रियों, उसके मन और आत्मा में प्रसन्नता न हो^३। इस प्रकार स्वास्थ्य की सम्पूर्णता के लिए मानसिक स्वास्थ्य का समृद्ध होना आवश्यक तथा उपयोगी है।

रोगों के दो अधिष्ठान हैं—१ शरीर और २ मन। इन दोनों अधिष्ठानों में होनेवाले शारीरिक और मानसिक रोग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।^४ कभी-कभी जब शरीर रोगी होता है, तो मन भी रोगी हो जाता है तथा मन के रोगी होने पर शरीर को भी रोगाक्रान्त होते देखा जाता है। इसी अभिप्राय से चरक ने कहा है कि—‘शरीर मन के अनुरूप होता है और मन शरीर के अनुरूप’^५।

मनोविज्ञान की दृष्टि से किसी व्यक्ति को मानसिक ‘रोग’, मनोदैहिक रोग, स्नायुदौर्बल्य एव व्यावहारिक क्रिया-कलाप के सम्पादन में व्यतिक्रम से मुक्त होने

१. शरीरेन्द्रियस्त्वात्मसयोगो धारि जीवितम् । नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥

—च० स० १४२

२. मत्त्वमात्मा शरीरं च ब्रयमेतत् त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति सयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

—च० स० १४५

३ समदोष समाग्निश्च समधातुमलक्रिय । प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

—सुश्रुत० स० १५१४८

४ तेषा कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा ।

—अ० ह० स० १

५ ते च विकारा परग्परमनुवर्तमाना कदाचिदनुवन्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च ।

—च० वि० ६१८

६ शरीरमपि स्त्वमनुविधीयते मत्त्वं च शरीरम् ।

—च० शा० ४३७

*.

†

It is now-a-days well recognized that it is ‘man’ and not the diseased ‘organ’ that is in need of treatment. The ‘man’ is made up of the body and the ‘mind’, the two components being inseparable and having continuous interaction on each other.

मात्र से स्वस्थ नहीं माना जा सकता। जब तक कि वह अपने स्वाभाविक दैनन्दिन कार्यों के सम्पादन में आनन्द, प्रसन्नता, सन्तुष्टि और सुख का अनुभव न करता हो, तनावमुक्त न हो, किसी सकट के उपस्थित होने पर उसके निराकरण में सक्षम न हो, वास्तविक दिनचर्या के समाधान का हल निकालने में सक्षम न हो और जीवन-शैली के निवाह में अपने को अपोग्य न समझे तथा उद्वेग एवं पलायन-वृत्ति से रहित न हो।¹

‘असामान्य मन (मानसरोग-विकार) के निदान और उसकी चिकित्सा का अध्ययन जिस चिकित्सा-शाखा में किया जाता है, उसे मानस-चिकित्सा-विज्ञान² (Psychiatry) कहते हैं।’

चिकित्सा-विज्ञान की वह शाखा, जिसमें नाड़ी-स्थान की विकृतियों का अध्ययन किया जाता है, उसे नाड़ी-विज्ञान या न्यूरोलॉजी (Neurology) कहते हैं। नाड़ी-स्थान की विकृत क्रिया से जो मानसिक विकार होते हैं, उन्हें नाड़ी-मनोविकृति (Neuro-psychiatric disorders) कहते हैं।

रोगों के शारीरिक और मानसिक—इन दो भेदों के अतिरिक्त एक तीसरा भेद भी होता है, जिसमें एक साथ ही कुछ लक्षण शारीरिक और कुछ लक्षण मानसिक रोग के होते हैं, उसे मनोदैहिक रोग (Psychosomatic disease) कहते हैं। ऐसे रोगों की चिकित्सा में शारीरिक उपचार के साथ मानसिक उपचार भी आवश्यक रूप से किया जाता है, इसे मनोदैहिक चिकित्सा (Psychosomatic treatment) कहते हैं।

रोग चाहे शारीरिक हो या मनोदैहिक हो अथवा मानसिक हो, जब तक रोगी के मानसिक धरातल का विधिवत् अध्ययन कर रोगी की प्रकृति आदि का सम्पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर लिया जाये, तब तक रोग का वास्तविक निदान कर पाना सम्भव नहीं होता³। क्योंकि उक्त तीनों प्रकार के रोग परस्पर ऐसे घुल-मिल

1. A normal person should not only be free of all psychotic, neurotic, psychosomatic and behavioural disturbances, but must also be subjectively comfortable, happy and free of disabling conflicts. He should be able to face the normal stresses and strains of every day life in a realistic way, without getting distressed or disabled.

—Clinical Diagnosis 1977, p 407

2. The branch of medical study devoted to the diagnosis and treatment of mental illness.

3. No physical symptoms can be regarded adequately studied or treated, unless a simultaneous study of the psychological aspect of the case is also conducted, not only for psychiatric and psychosomatic illnesses, but also for physical illnesses, an evaluation of the psychological side of the ‘personality’ of the individual is necessary. This can be systematically and easily accomplished by medical men, provided

जाते हैं कि उनके लक्षणों को देखकर यह निर्णय करना कठिन हो जाता है, कि रोगी का प्रधान रोग शारीरिक है या मानसिक? कौन रोग प्रधान है, कौन गौण है और कौन उपद्रव है अथवा कौन रोग काल्पनिक है? इसलिए सभी प्रकार के रोगों के सही निदान के लिए रोगी की मन स्थिति का बारीकी से अध्ययन करका अत्यन्त अपेक्षित है।

मन के विकार से शरीर में विकार आता है। हृदय की गति, श्वास-प्रश्वास, आहार का पाचन आदि कार्य मन के प्रसन्न रहने पर ठीक से हो पाते हैं। यदि अन्त करण (मन) में वृद्धावस्था का भाव समा जाये, तो जवानी में भी बुढ़ापा आ जाता है और यदि अस्सी वर्षे के वृद्ध का मन जवान होता है तो उसका शरीर युवावस्था की स्फूर्ति को धारण करता है—

जईफी जिन्दगी में वक्त की बेजा खानी है।

अगर जिन्दादिली है, तो बुढ़ापा भी जवानी है।

यह बात अनुभव-गम्य है, कि मनुष्य जब अपने अन्त करण को उत्कृष्ट पराक्रम-शील समझता है, तब उसके शरीर में भी पौरुष और शक्ति का निवास होता है, इसलिए कहा जाता है कि—‘मन के हारे हार है, मन के जीते जीत’।

अधिक चिन्ता करने से शरीर और शिर में चक्कर आता है और विचार करने की शक्ति कुण्ठित होती है। अत्यन्त क्रोध से पित्त का प्रकोप होकर ज्वर होता है। भय से पुरीषोत्सर्ग होता है, पेशाब आ जाता है और बदन में पसीना छूटने लगता है। इन स्थितियों से स्रोतों के मुख खुल जाते हैं और वे शीघ्रता तथा तीव्रता से कार्य करने लगते हैं। ईर्ष्याद्वेष, लोभ, दैन्य, क्रोध तथा शोक आदि से मन के व्याकुल होने पर जो भोजन किया जाता है, वह नहीं पचता है, क्योंकि मन के विकृत होने से पाचक रसों का उचित मात्रा में स्राव नहीं होता है और परिणामस्वरूप सुधा का ह्लास हो जाता है, जी मिचलाता है तथा बमन की प्रवृत्ति होती है। मन की विकृति का श्वास पर भी असर पड़ता है। किसी गम्भीर रोग की विभीषिका से या दुखजनक हादसा देखने-सुनने से सहसा हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। मात्रा के क्रोध के आवेश से उसके स्तन का दूध सूख जाता है। क्रोधी स्त्रियों का दूध पीने से बच्चों को आक्षेपक रोग हो जाता है।

मन बन्दर के समान चञ्चल होता है। वह दिल को दहला देता है, जब उसमें मनोभावों का ज्वार उठता है। मन अतीन्द्रिय है, उसे इन्द्रियों की सीमा से अगम्य विषय-वस्तुओं का ज्ञान होता है। वह हृदय को भथ देता है। वह बलवान् और दृढ़ है। फिर भी एक बात यह भी सत्य है, कि यदि मन को आश्वस्त कर उसे पूर्णरूप से यह विश्वास दिला दिया जाय, कि यदि हमारी बात मान ले तो

उसको आनन्द तथा सुख के नन्दनवन में इन्द्र के सिंहासन का ऐश्वर्य भी मिल सकता है। जैसा कि उस जाट ने हकीम की बात मान ली थी—

लाहौर में एक बार एक जाट अपनी बीमारी की सौगात लेकर एक बड़े हकीम के पास अपना ईलाज कराने के लिए गया। हकीम साहब ने उसकी नवज देखी और अपनी अनुभवी निगाह उसकी ओर गौर से डाली और एक नुस्खा लिखकर उसे दे दिया कि इसे घोटकर पी लेना। वह जाट जो वर्षों से बीमारी झेल रहा था, इतमीनान से नुस्खे के कागज को घोट कर पी गया और फिर आकर हकीम को बताया कि फहले से बहुत आराम है। हकीम ने उसे कुछ और नुस्खे दिये और उन्हें भी वह फिर घोटकर पी गया और एकदम चगा हो गया।

वस्तुत रोग शरीर का हो या मन का, चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी की अन्तरात्मा में घुमकर झाँके और उसके मन की प्रकृति की जासूसी करे। तब फिर वह उसकी चिकित्सा मफलतापूर्वक कर सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।^१

मानसरोगों के सामान्य कारण

(१) जिस प्रकार शारीरिक रोगों के आदि कारण वात-पित्त-कफ होते हैं, उसी प्रकार मानसरोगों के आदि कारण रज और तम ये दोनों मानस दोष होते हैं।^२

(२) रोप (क्रोध) का अश अधिक होने से राजस मन की छह प्रकृतियाँ और मोह (अज्ञान-बुद्धिमन्दता) का अश अधिक होने से तीन तामस प्रकृतियाँ मानस रोगों का कारण होती है।^३

(३) इष्ट (मनोज्ञकूल) वस्तु का न मिलना और अनिष्ट (अवाञ्छित) वस्तु का मिल जाना मानस रोग का कारण है।^४

(४) धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थों का असतुलित रूप से सेवन करना अर्थात् इनमें से किसी एक या दो का अधिक सेवन या एक या दो की सर्वशा अपेक्षा करना मानस रोग का कारण है।^५

(५) शारीर-दोषों के प्रकोप की तरह मानस दोषों (रज और तम) के प्रकोप के तीन कारण माने गये हैं—

१ ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्। आत्मरस्यान्तरात्मान न स रोगाश्चकित्सति ॥

—चरक० वि० ४।१२

२ रजस्तमश्च मानसी दोषी। तयोर्विकारा काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-मान-मद-शोक-चिन्ता-उद्देश-भय हर्षदिव्य । —च० वि० ६।५

३ इत्येव खलु राजसस्य मध्वस्य षड्विध (आसुर, राक्षस, पैशाच, सार्प, प्रैत, शाकुन) भेदाश विद्यात्, रोषाशत्वात् तथा तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविध (पाशव मात्स्य-वानस्पत्य) भेदाश विद्यात् मोहाशत्वात् । —च० शा० ४।३९

४ मानस पुनः इष्टस्य अलाभात्, लाभात् च अनिष्टस्य उपजायते । —च० स० १।१४५

५ न हि अन्तरेण त्रयमेतत् मानस किञ्चित्विषयते सुख वा दुख वा । —च० स० १।१४६

६. (क) द्व्यानामपि दोषाणा त्रिविध प्रकोपणः; तत्त्वथा—असात्म्येन्द्रियार्थमयोगः; प्रशापराध-परिणामश्चेति । —च० वि० ६।६

(क) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग ।

(ख) प्रज्ञापराध ।

(ग) परिणाम ।

जिस प्रकार शारीर-दोषों में वायु की प्रधानता है, उसी प्रकार मानस दोषों में 'रज' की प्रधानता है । रज और तम का सदैव साहचर्य रहता है और विना 'रज' के 'तम' की प्रवृत्ति नहीं होती ।

(क) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—श्रोत्र-त्वचा-नेत्र-जिह्वा और ध्राण—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों (क्रमशः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के साथ अधिक मात्रा में संयोग होगा (अतियोग), बिलकुल संयोग न होना या नहीं के बराबर या अत्यल्प संयोग होना (अयोग), तथा अप्रिय, उद्वेजक या प्रतिकूल अहितकर संयोग होना (मिथ्यायोग) 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' कहलाता है ।

इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) के अहितकर (असात्म्य) संयोग को 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' कहते हैं । जैसे—इन्द्रियाँ पाँच हैं और इनका—१ अतियोग, २ अयोग और ३ मिथ्यायोग होना असात्म्य-इन्द्रियार्थसंयोग है । इस प्रकार वह ($5 \times 3 = 15$) पन्द्रह प्रकार का होता है—

कर्ण—

१ अति कौचे शब्द, मेघों का गर्जन, विजली की तडपन, नगाड़े की आवाज, सिंह-व्याघ्र की गर्जना आदि सुनना, कर्णेन्द्रिय का अपने विषय के साथ अतियोग है ।

२ किसी भी प्रकार के शब्द का न सुनना कर्णेन्द्रिय का अयोग है ।

३ कठोर, तिरस्कारसूचक, भयानक, अप्रिय और दुखजनक अप्रिय शब्दों का सुनना कर्णेन्द्रिय का मिथ्यायोग है ।

त्वचा—

४ अतिशीत या अतिउष्ण जल से स्नान, अतिदबाव के साथ मार्तिश उबटन लगाना या अभ्यग करना त्वचा का अतियोग है ।

५ शीत या उष्ण जल स्पर्श या अभ्यग आदि का सर्वथा स्पर्श न करना त्वचा का अयोग है ।

६. विषम स्थान का त्वचा से स्पर्श, अपवित्र वस्तु का स्पर्श, आघात लगाना, जहरीली वायु का स्पर्श आदि त्वचा-इन्द्रिय का मिथ्यायोग है ।

नेत्र—

७ अति तेजस्वी सूर्य, विजली का बल्व, आकाशीय विद्युत् आदि का देखते रहना नेत्रेन्द्रिय का अतियोग है ।

(ख) कालबुद्धिन्द्रियार्थाना योगो मिथ्या न चाति च ।

द्वयाश्रयाणा व्याधीना त्रिविधो हेतुसङ्ग्रह ॥

—च० स० १५४

(ग) कालायंकर्मणा योगो हीनमिथ्यातिमात्रक ।

मम्यग्योगश्च विजेयो रोगारोग्येककारणम् ॥

—अ० छ० स० १

८. किसी वस्तु का एकदम न देखना नेत्रेन्द्रिय का अयोग है ।
 ९. अतिरूरस्थ, भयज्वार, उग्र, अद्भुत वीभत्स, विकृत शब्द आदि का देखना नेत्रेन्द्रिय का मिथ्यायोग है ।

जिह्वा—

१०. मधुर, अम्ल आदि रसों का अतिसेवन रसनेन्द्रिय का अतियोग है ।
 ११. मधुर आदि रसयुक्त द्रव्यों का सर्वथा 'भक्षण न करना' तथा 'रमहीन पदार्थों का खाना रमनेन्द्रिय का अयोग है ।
 १२. अहिरुकर द्रव्यों का भक्षण करना और आहार-विधि^१ की उपेक्षा कर आहार-रसों का सेवन करना रसनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है ।

घ्राण—

१३. अतिरीक्षण, अति उग्र गन्ध, तीव्र गौम आदि वा सूखना घ्राणेन्द्रिय का अतियोग है ।

१४. किसी प्रकार के गन्ध का सर्वथा न सूखना घ्राणेन्द्रिय का अयोग है ।
 १५. दुर्गंधित सडी-नली वस्तुओं की गन्ध लेना, अपवित्र गन्ध, जहरीली वायु आदि की गन्ध लेना घ्राणेन्द्रिय का मिथ्यायोग है ।

- (छ) प्रज्ञापराध^२—'प्रज्ञा' (बुद्धि) के तीन स्तर माने गये हैं—१. बुद्धि अर्थात् ज्ञानोपार्जन करना, २. धृति अर्थात् ज्ञान को धारण करना और ३. स्मृति अर्थात् उचित अवसर पर सञ्चित ज्ञान का स्मरण होना ।

- 'बुद्धि, धृति और स्मृति के भ्रष्ट हो जाने से मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक दोषों को प्रकृपित करने वाले जिन-जिन अगुम (अकल्याणकारी) कर्मों को करता है उन्हें (कर्मों को) प्रज्ञापराध कहते हैं ।'

- कर्म—वाणी, मन और शरीर की प्रवृत्ति को कर्म कहा जाता है । इन तीनों की प्रवृत्ति (कर्म) के अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग की प्रज्ञापराध जानना चाहिए ।^३

- कर्म का अतियोग—वाणी, मन तथा शरीर के कर्मों को अपनी शक्ति से अधिक करना, इनका 'अतियोग' कहलाता है ।

- कर्म का अयोग—वाणी, मन और शरीर के स्वाभाविक कर्मों में प्रवृत्त न होना, इनका 'अयोग' कहलाता है ।

^१ उग्र, स्तिर्गर्थ, मात्रावद, जीर्ण, वीर्यविरुद्धम्, इष्टे देशे, इष्टसर्वापकरणं नानिद्रुत नाति-विलम्बिनम्, अजल्पन्, अहसन्, तन्मना भुजीत आत्मानमभिममीक्ष्य सम्यक् । च० वि० १।२४

^२ धीशृतिस्मृतिविभ्रष्ट कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् । प्रज्ञापराध त विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥

—च० शा० १।१०२

३ चरक० सूक्त० २।१।४० ।

१३ का० तृ०

कर्म का मिथ्यायोग—उपस्थित मल-मूत्रादि वेगों को रोकना, न आये हुए मल-मूत्राविव वेगों को हठात् प्रवृत्त करना, ऊँची-नीची भूमि पर टेढ़े-मेढ़े गिर जाना या चलना अथवा अङ्गों को रखना, दूषित पदार्थों का स्पर्श करना, शरीर पर आधात लगना, अङ्गों का अधिक मर्दन करना। (दबाना), क्षमता से अधिक समय तक श्वास को रोकना, शरीर के लिए कष्टकर कार्य, यथा—ब्रत-उपवास, अति मध्यपान, अति उष्ण धूपसेवन, अतिशीतल जलस्नान आदि शारीरिक मिथ्यायोग हैं।

चुगली करना, झूठ बोलना, अप्रिय अप्रासङ्गिक प्रतिकूल वचन, कठोर वचन तथा कलहपूर्ण वार्तालाप आदि वाणी का मिथ्यायोग है।

भय, शोक, क्रोध, मोह, लोभ, मान, ईर्ष्या और मिथ्या दर्शन (पूज्य को अपूज्य और अपूज्य को पूज्य दृष्टि से देखना) मानसिक मिथ्यायोग है।

(ग) परिणाम—काल को ही परिणाम कहा जाता है, क्योंकि काल ही सभी प्रकार के अच्छे या बुरे कर्मों को धर्म-अधर्म रूप से परिणत कर यथासमय उनका फल देनेवाला होता है।

काल के लक्षणों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग सभी प्रकार के शारीर या मानस रोगों का निमित्तकारण होता है।

काल का अतियोग—शीतकाल में शीत का, ग्रीष्मकाल में गरमी का और वर्षाकाल में वर्षा का अनुपात से अधिक होना (हृद से गुजर जाना) काल का अतियोग है।

काल का अयोग—शीतकाल में जाड़ा न पड़ना या अल्प पड़ना, ग्रीष्मकाल में गरमी न होना और वर्षा में वर्षा का न होना काल का अयोग कहलाता है।

काल का मिथ्यायोग—शीतकाल में गरमी पड़ना या वर्षा होना, ग्रीष्मकाल में शीत होना या वर्षा होना और वर्षाकृतु में गरमी या शीत पड़ना आदि काल का मिथ्यायोग है।

इस प्रकार—१ असात्मेन्द्रियार्थसयोग, २ प्रज्ञापराध और ३ परिणाम—ये त्रिविधि विकल्प (अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग) मानस रोगों की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

(४) हीनसत्त्वता (निकृष्ट मनोबल)—तीन प्रकार का मनोबल होता है—१ प्रवर्ग मनोबल, २ मध्य मनोबल और ३ हीन मनोबल।

जो व्यक्ति हीन मनोबल के होते हैं, वे अपने मन में उठे हुए वेगों को नहीं रोक पाते हैं और हल्की-सी विपत्ति या समस्या आने पर रोने-चिल्लाने लगते हैं। भले ही वे शरीर से लम्बे-चौड़े और बलवान् हो, किन्तु छोटी-छोटी दातों को सहन नहीं कर पाते। उनके मन में भय, शोक, लोभ, मोह और मान आदि भरे होते हैं। वे भयानक, रोद्र, अप्रिय, विकृत, धृष्णित आदि विपय या कथानक मुनकर अथवा पशु या मनुष्य के रक्त या मास को देखकर विपाद, मूर्छा, उन्माद,

शिरोब्रह्म या महसा गिर पड़ना, शरीर का पीला पड़ जाना—इनमे से किसी भी विकार के शिकार हो जाते हैं।^१

(७) चित्तवृत्ति का अनियन्त्रण—मन की—१ मूढ़, २ क्षिप्त और ३ विक्षिप्त वृत्तियाँ मानस रोगों को उत्पन्न करती हैं।

१ मूढ़—तमोगुण की अधिकता से किसी कार्य में मन न लगना तथा आलस्य और निद्रा से अमिश्रूत रहना।

२ क्षिप्त—रजोगुण की अधिकता से चञ्चल मन का अस्थिर रहना।

३ विक्षिप्त—सत्त्वगुण के अधिक होने पर भी रजोगुण से आविद्ध होने के कारण किसी भी कार्य में स्थिर न होना।

इम वृत्ति में व्याधि, स्त्यान (अकर्मण्यता), सशय, प्रमाद (किसी भी कार्य की अवहेलना-लापरवाही), आलस्य, भ्रान्ति (Delusion) और चञ्चलता आदि चित्तविक्षेप होते हैं।

इन तीनो वृत्तियों का नियन्त्रण न करने से मानस रोग उत्पन्न होते हैं।

(८) आहार—कटु-अम्ल और लवणरस युक्त पदार्थों का अधिक सेवन, उष्ण, तीक्ष्ण, रक्ष और विदाही गुण युक्त द्रव्य का सेवन, नीरस भोजन, मलिन, विकृत, दूषित, दुर्गन्धयुक्त सडानगला तथा बासी भोजन, आहार विधि के विपरीत प्रकार से भोजन करना, जूठा भोजन, अपवित्र भोजन, विरुद्ध भोजन, गुरु भोजन, पत्तेवाले शाकों का अधिक सेवन और कुन्दरू का सेवन मानस रोगजनक है।

(९) विहार—रजस्वला, रोगिणी, अपवित्र, दुराचारिणी, अप्रिय रूप तथा आचरणवाली, प्रतिकूला, अदक्षा, कामवासनाहीना, अन्यकामा और परकीया से मैथुन करना, पग्योनि अथवा गुदामैथुन करना—देवस्थान, वधस्थान, शमशान, चतुष्पथ या उपवन में मैथुन करना ये मानस रोग का कारण होते हैं। रात में अनुचित स्थान में घृमना, सन्ध्या के समय भोजन, अध्ययन, मैथुन और शयन करना, भद्यापान, जुआ और वेष्या-प्रसंग में रुचि होना, पाप करने वाले मित्र, भृत्य या स्त्री के साहचर्य में रहना, सज्जनों से शत्रुता और दुर्जनों से मित्रता रखना, दूसरों के रहस्यों को प्रकट कर शत्रुता करना, अधार्मिक, राष्ट्रद्वोही, उन्मत्त, पतित तथा क्षुद्रजनों के सम्पर्क में रहना, दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या के नियमों का ममुचित रूप से पालन न करना, ये मानस रोग के जनक हैं।

(१०) आचार—हिंसा, चोरी, चुगलखोरी करना, झूठ बोलना, शरीर-वाणी और मन से अधिक श्रम करना, शिर से भारी बोझ ढोना, अविनीत, अबुद्धि जन-मसर्ग, प्राणियों के प्रति द्वेष, परद्यन-लालसा, परदाराऽभिलाषा, अति हर्ष एवं अति विषाद करना, क्रोध करना, धैर्य को खो देना, क्रूर आचरण करना, पर निन्दा

^१ हीनसत्त्वास्तु महाशरीरा अपि ते न्वल्पानामपि वेदनानामसदा दृश्यन्ते, सन्निहित-भयशोकलीभमोहमाना रौद्रमैरवद्विष्वीभत्सविकृतकथात्वपि मूच्छोन्मादब्रमप्रपतनानामन्यतम-मान्युवन्ति ।

करना, 'आचाररसायन' (चरक० चि० १।४।३०-३५) मे वतलाये गये नियमो का पालन न करना, अजितेन्द्रिय होना, धारणीय वेगो को धारण न करना और अधारणीय वेगो को रोकना, सद्वृत्त मे कहे गये सदाचार का पालन न करना, आहार-विहार और आचार के नियमो का उल्लंघन करना, यमो (अर्हिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह) और नियमो (शीच-सरोष-त्तप-स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) की उपेक्षा करना और अपनी आय तथा व्यय का हिसाब न रखना तथा मेरा दिन और मेरी रात कैसी बीत रही है ? मैं अपने कर्तव्य-पालन मे जीवन की गाड़ी को आगे बढ़ाने मे कहाँ तक सफल हो सका हूँ ? इत्यादि बातों पर सौने के पूर्व विचार न करना एवं प्रमाद करना मानस रोगों को निमन्त्रण देना है—

आमद कम खर्च ज्यादा ये लक्षण मिट जाने के हैं ।

ताकरु कम गुस्सा ज्यादा ये लक्षण पिट जाने के हैं ॥

(११) मानस भाव—रज और तम, इन दोनो मानसदोषों के प्रकोप से उत्पन्न मन प्रदूषण तथा इच्छा और द्वेष के अनेक भेदों से उत्पन्न मानसभाव मानसरोगों को उत्पन्न करने मे अपनी अह भूमिका का निर्माण करते हैं । वे इस प्रकार हैं—

१ परिग्रह—ममता या प्रभुत्व या अधिकार (Ownership)—जब किसी वस्तु को अपनी निजी सम्पत्ति माना जाता है, तो उस वस्तु के प्रति विशेष लगाव, आसक्ति या लोभ होता है । दूसरे लोग ईर्ष्याविश उस वस्तु को छीनना चाहते हैं और झूठे ही अपनी सम्पत्ति कहते हैं, जिससे द्वौह होता है, झूठ बोलना पड़ता है और उन वस्तु को पाने की विशेष अभिलाषा का अर्थात् काम का उदय होता है, फिर क्रोध, अहकार, द्वेष, कठोरता, अभिधात (मारपीट), भय, ताप (मानसिक कष्ट) शोक, चिन्ता और उद्वेग आदि मनोविकारों का जन्म होता है ।

२ लोभ या काम—जब सञ्चित वस्तुओं के प्रति विशेष लोभ या अनुराग होता है, तब उसके सरक्षण और वृद्धि की प्रवल इच्छा अथवा काम का जन्म होता है । फिर काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से किंकर्तव्यविमूढ़ना या स्मृतिभ्रश होता है और फिर स्मृतिभ्रश से बुद्धि का नाश होता है । वह व्यक्ति विवेकशून्य होकर सत्पथ से भटक जाता है और नाना प्रकार के मनोविकारों से घिर जाता है ।

इसी प्रकार—३ क्रोध (Anger), ४ शोक (Grief), ५ भय (Fear), ६. हर्ष (Joy), ७ विषाद (Depression), ८ ईर्ष्या, (Jealousy), ९ असूया (Envy), १० दैन्य (Misery), ११ अमर्ष (Intolerance), १२ मद (Neurosis), १३ मोह (Delusion), १४ काम (Lust), १५ उद्वेग

१. अश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् मार्यन्त्रिकानां सत्त्वाना शरीरगौरवमासीत्, शरीर-गौरवाच्छ्रूम्, श्रमादालम्यम्, आलस्यात् सञ्चय, सञ्चयात् परिग्रह, परिग्रहालोभ प्रादुरासीत् कृते ।

तनस्त्रेतायां लोभादभिद्रोह॒, अभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानदेष्पारु—च० वि० ३।४

(Anxiety), १६ मान (Pride), १७ लोभ (Greed), १८ आवेग (Excitement), १९ निवेद (Self disparagement), २० ग्लानि (Languor), २१ शका (Uncertainty), २२ ब्रीड़ा (Shame), २३ जड़ता (Dullness), २४ उग्रता (Fierceness), २५. भास (Fright), २६ हठ (Obsturacy), २७ चिलाप (Groaning), २८ श्रम (Fatigue), २९ उत्सुकता (Eager-ness) और ३० स्मृति (Recollection), आदि मानसभाव मानसक्षेत्र में भावनाओं और आवेगों (Emotions) की तरणों को उत्पन्न कर मन को क्षुब्ध कर देते हैं और रज तथा तम दोष के सर्वर्धन एवं प्रकोप से नाना प्रकार के मानस रोगों को उत्पन्न करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।^१

(१२) भावना—किसी मनोव्यापार से जो विशेष प्रकार का प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है, किंवा जो सवेदना (सुखात्मक या दुखात्मक अनुभव) होती है, उसे भावना कहते हैं।

जिस प्रकार समुद्र में लहरे उठती है और हिलोरे लेती है, उसी प्रकार मन के भागर में भी सवेदना की तरणों और हिलोरे उठती है, उन्हें भावना कहते हैं। जो भावना हमारे अनुकूल होती है, उनके प्रति इच्छा जागृत होती है क्योंकि उससे सुखद अनुभूति होती है और जो प्रतिकूल होती है उसके प्रति द्वेष उपजता है, क्योंकि उससे दुख का अनुभव होता है।

प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा भिन्न होती है और उस इच्छा के अनुमार ही कोई वस्तु प्रिय या अप्रिय होती है। वैसे ससार में प्रिय क्या है और अप्रिय क्या है? इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। जिसका मन जिस वस्तु को पसन्द कर ले, उसके लिए वही प्रिय और स्मरणीय है।

‘दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव ।

तस्य तदेव हि मधुर यस्य मन यत्र सलग्नम्’ ॥

मन की विशिष्ट रुचि के अनुकूल प्रत्येक मनुष्य के मन में कुछ खास किसी की भावनाएँ रहती हैं, जिन्हें काव्य की भाषा में स्थायी भाव^२ कहते हैं। जब इन

१ आधुनिक मानसशास्त्रियों ने भी प्रायः इसी प्रकार के मानस भावों को मानसरोग की पृष्ठभूमि माना है—

Pleasure, happiness, joy, delight, elation, rapture, displeasure, discontent, grief, sadness, sorrow, dejection, mirth, amusement, hilarity, excitement, agitation, calm, contentment, apathy, weariness, ennui, expectancy, eagerness, hope, assurance, courage, terror, horror, doubt, shyness, embarrassment, anxiety, worry, dread, fear, fright, surprise, amazement, wonder, relief, disappointment, desire, appetite, longing, yearning, love, aversion, disgust, loathing, hate, anger, resentment, indignation, sullenness, rage, fury —Wood Worth Psychology

२. रतिहासश शोकश क्रोधोत्साहो भय तथा। जुगुप्मा विस्मयद्वेत्थमष्टौ प्रीक्ता। शमोऽपि च ॥

—साहित्यदर्पण ३। ८४।

भावो के उद्दीपक कारण उपस्थित होते हैं, तब वे जागृत हो जाते हैं। जैसे— उन-उन स्थायी भावो से उन-उन रसों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार मन की उन-उन भावनाओं के उद्दीपक कारणों की उपस्थिति में भावना के अनुकूल मानस रोगों की उत्पत्ति होती है। जिस तरह 'रति' (मनोज्ञुकूल विषय में मन में आसक्ति या अनुराग) की भावना जब मन के सागर में तरगायित होती है, उसकी हिलोरे जब मन का मन्थन करती है, तब 'शृङ्खार' रस का उद्भव होता है। उसी प्रकार मन में जिस कोटि की भावनाएँ उठेंगी, उस तरह की मनोविकृतियों को उत्पन्न कर मानस रोगों को उत्पन्न करेंगी। एवं यह मानस रोगों को उत्पन्न करने में भावनाओं का भहत्वपूर्ण स्थान है।

(१३) व्यक्तित्व की विकृतियाँ या स्वभावगत मन की अवस्थाएँ (Personality disorders)—मानसिक रोगी के लक्षण जब प्रकट होने लगते हैं, तब चिकित्सक के लिए यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है, कि रुग्ण के प्रकट लक्षण तात्कालिक मानसिक तगाव (Stress) के कारण है या रोगी के पूर्व के विकृत व्यक्तित्व के कारण। इसलिए मानस रोगों के कारणों के सम्बन्ध ज्ञानार्थ रोगी के पूर्वकालिक व्यक्तित्व की जानकारी तथा उससे पड़ने वाले प्रभाव का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। जैसे—

१ साइकोमीथिक पर्सनालिटी (Cychomithic personality)—इस प्रकार का पुरुष अस्थिरचित्त, शिरोन्भ्रम युक्त एवं प्रसन्नता से लेकर गम्भीर विषाद तक की मनोदशा में चक्कर काटता रहता है। यह आनुवंशिक होता है।

२ हाइपोमेनिक (Hypomenic)—यह व्यक्ति प्रथम मद के लक्षणों वाला, अल्प उन्मादी, प्रसन्न, आशावादी, विश्वासी एवं सरल स्वभाव का होता है।

३ मेलाकोलिक पर्सनालिटी (Melancholic personality)—यह विषाद-युक्त, निराशावादी, उद्विघ्न, एकान्त-प्रेमी, आलसी और मित्रों के लिए भारभूत होता है। इससे अल्पशक्ति का उन्माद होता है।

४ सिजायड पर्सनालिटी (Schizoid personality)—यह खण्डित व्यक्तित्व वाला, समाज से पृथक् एकान्तप्रिय, भावुक और शान्तचित्त होता है। उसे ऐसा कार्य पसन्द होता है, जहाँ दूसरों से सम्बन्ध न हो। यह व्यक्तित्व पैतृक और वशानुगत होता है।

५ प्रेतबाधा युक्त या भ्रमित व्यक्तित्व (Obsessional personality)—यह व्यक्ति देवोन्मादी जैसा अत्यन्त स्वच्छतापसन्द, व्यवस्थाप्रिय, रीति-रहन-महन-माननेवाला, समय का पावन्द, अनुशासनप्रिय, न्यायप्रिय, शुद्धचित्त, हठी और किन्हीं विषयों में प्रवीण (Perfectionist) होता है। यह दबाव डालनेवाला और भ्रमपूर्ण उन्माद से ग्रस्त होनेवाला सभावित होता है।

१ शृङ्खार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर भयानक। वीभत्सोऽद्भुत इत्यध्यौ रसां शान्तस्तथा मतः ॥
—साहित्यदर्पण ३ २८८ ।

६ पैरानॉयड पर्सनलिटी (Paranoid personality)—यह मन्देहग्रस्त, अन्यायी और उपद्रवी होता है। किसी पर चिक्खाश नहीं करता और अपने दुष्कार्य के लिए दून दो दोषी ठहराता है। यह अपनी वर्दी और असफलता से पीड़ित होता है। यह दबी दुर्भागा को उभाड़ता है।

७ हिस्ट्रिकल पर्सनलिटी (Hysterical personality)—यह व्यक्ति अपरिपक्ष भवन-भवित्वाला, चलचल, आत्मलेन्द्रित, असहिष्णु, उत्तेजना या मूर्च्छा में अस्ति रहनेवाला और अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर आरागण का फैन्ड बनना चाहनेवाला होता है। ऐसे व्यक्ति अच्छे नाटकार या अभिनेता बन सकते हैं।

८ गार्टोपैथिक पर्सनलिटी (Psychopathic personality)—यह व्यक्ति अपरिपक्ष चुदिं और अन्धरचित्त होता है। अपनी मन्त्री के आलम में रहता है। नमाज ने अलग रहता है। चोरी करना, झूठ बोलना और अपराधकर्म करना उसकी आश्वर्त होती है। यह नमाज ने बहिरङ्ग होता है और नभी तरह के मान्य जाचरण का निरस्तार होता है। इनका जारण उनके परन्परिवार का घुटनभरा दृष्टिकोण होता है।

९ पैसिव प्रैग्गेसिव पर्सनलिटी (Passive aggressive personality)—यह या तो भहनशील होता है, या अरुमंष्य होता है अथवा उत्तेजित होने पर प्रथम आक्रमण करनेवाला होता है। यह पराधीयी होता है।

१० एग्रेसिव पर्सनलिटी (Aggressive personality)—यह आक्रामक व्यक्तित्व का होता है। गोधी, काम को बिगाड़नेवाला, वर्दी लानेवाला और अपने को नेता के पद पर स्थापित करनेवाला, विरोधी स्वभाव का तथा प्रत्यक्ष स्वयं में आकान्त होता है। रोकने पर और अधिक उत्तेजित होनेवाला होता है।

११ उनाप्लोक्वेट पर्सनलिटी (Inadequate personality)—यह दूसरों पर निर्भर रहनेवाला, डधर-उधर धूमनेवाला और अपने भरोसे न रहनेवाला, भीरु, अकर्मण्य, दुखी और चिन्ता बढ़ानेवाला होता है।

(१४) आनुवशिकता (Heredity)—मानव की उत्पत्ति के आदिकारण जुक्रकीट (Spermatozoa) तथा स्त्रीबीज (Ova) की दुष्टि से उत्पन्न रोगों को 'आनुवशिक' (Hereditary) रोग कहते हैं। स्त्रीबीज और पुरुषबीज में जो 'पिण्य-मूर' (Chromosomes) होते हैं, उन पर सूक्ष्मतम् कण चिपके होते हैं, जिन्हें 'जेन' (Gene) कहते हैं। इन जेनों द्वारा माता-पिता के गुण-रूप, आकृति, प्रकृति, शोल, स्त्व आदि का सन्तान में स्थानान्तरण होता है। इस प्रक्रिया को ही आनुवशिकता (Heridity) या वशानुक्रम (Genealogy) कहते हैं। मर्माधार के समय माता-पिता के गुण-अवगुण सन्तति में सक्रिय हो जाते हैं।

अनेक शारीरिक और मानसिक रोग वश-परम्परा से उत्पन्न होते हैं। जैसे— राजयक्षमा, अपस्मार, पक्षाधार (लकवा), कुछ, उन्माद, मधुसेह, श्वित्र, अर्श, मधुमेह आदि कुलज रोग हैं।

(१५) वातावरण (Atmosphere)—वात्यावस्था से लेकर युवावस्था तक रुग्ण व्यक्ति का भरण-पोषण किस प्रकार का हुआ है। उसका पारिवारिक परिवेश यदि विकृत मन-मस्तिष्क का, कृत्स्त आचरण का, नशेवाज, जुआड़ी और दरिद्र स्वभाव का होगा, तो हीनसत्त्ववाला व्यक्ति मानस रोग से आसानी से ग्रस्त हो जायेगा। पास-पडोस और निकट के सम्बन्धियों से इसकी पूरी जानकारी करनी चाहिए।

(१६) कार्य-व्यवसाय—रुचि के अनुकूल कार्य न हो और जबर्दस्ती, जोर-जुल्म का माहौल हो अथवा व्यवसाय में असफलता हो तो मानसिक तनाव पैदा होकर मानस रोग हो जाता है।

(१७) प्रेम में असफलता (Broken romance)—यह स्थिति भी मानस विकार की पृष्ठभूमि है।

(१८) अत्यधिक सबैदनशीलता (Excessive sensitiveness)—अतिचिन्ता, अति उत्साह और सामान्य बात को भी गम्भीरता से लेना तथा सदा गिरे मन से निराश मुद्रा में रहना मानस रोग का कारण होता है।

(१९) शरीर-क्रियात्मक तनाव—अत्यधिक परिश्रम, अनिद्रा, शरीर-भार का हास आदि कारण मन को रुग्ण करते हैं।

(२०) शल्यकर्म और प्रसव (Surgical operations and child-birth)—जब व्यक्ति दुर्बल मन का होता है, तो उसके मन पर ऑपरेशन का नाम सुनकर एव प्रसव का समय उपस्थित होने पर मूर्च्छा या उन्माद जैसी दशा उत्पन्न हो जाती है।

(२१) अन्तःस्नावी ग्रन्थियाँ (Endocrine glands)—नलिका विहीन ग्रन्थियों में अन्त स्नाव (Hormone) का निर्माण होकर सीधे रक्तसवहन से मिल जाता है। इन अन्त स्नावी ग्रन्थियों का शारीरिक और मानसिक विकास में बहुत योगदान रहता है। अन्त स्नावी ग्रन्थियाँ—

१. पीयूष-ग्रन्थि (Pituitary gland)—यह मस्तिष्क में स्थित होती है। इसका स्नाव 'पिट्युट्रिन' कहलाता है। इसके अधिक स्नाव से राक्षस जैसा बड़ा कद हो जाता है और कम स्नाव होने से 'बौनापन' हो जाता है तथा कदाचित् बुद्धि का समुचित विकास नहीं होता।

२. चुल्लिका-ग्रन्थि—(Thyroid gland)—इसका स्नाव 'थायरोक्सिन' (Thyroxin) कहलाता है। इस स्नाव की कमी से विकास रुक जाता है। शरीर नाटा, निर्वल और बुद्धि मन्द हो जाती है।

३. उपचुल्लिका (Parathyroid)—ये ग्रन्थियाँ चार होती हैं और चुल्लिका-ग्रन्थि के पीछे रहती हैं। इनके द्वारा शरीर में कैल्शियम का धातुपाक नियन्त्रित रहता है। इनके नष्ट होने या निकाल देने पर टिटैनी (Titany) रोग हो जाता है, जिसमें मुँह से झाग आना, शरीर में वेदना और पैर में ऐठन, नाड़ी-सम्पर्क में उत्तेजना आदि गम्भीर लक्षण होते हैं।

४ अधिवृक्क (Adrenal)—प्रत्येक वृक्क के ऊपर एक अधिवृक्क होता है। अधिवृक्क के दो भाग होते हैं—वल्क (Cortex) और मध्य (Medulla)। अधिवृक्क-वल्क से जो अन्त स्राव स्रवित होता है, उसे 'कोर्टिन' (Cortin) कहते हैं। इस स्राव की कमी से व्यक्ति में थकान, अनिद्रा और चिडचिडापन होता है।

अधिवृक्क-मध्य के अन्त स्राव को एड्रीनलीन कहते हैं। इसका अधिक स्राव होने पर व्यक्ति में तनाव, चिडचिडापन, थकान और सवेगात्मक अस्थिरता के लक्षण होते हैं।

इसी प्रकार—५ पिनियल बॉडी, ६ थायमस, ७ जनन-ग्रन्थियाँ और ८ अग्न्याशय के रस भी शरीर और मन को प्रभावित करते हैं।

अग्न्याशय (Pancreas)—यह ग्रन्थि आमाशय के नीचे रहती है। इस ग्रन्थि में स्थित 'लैंगर हैन्स के द्वीप' नामक कोष-समूह द्वारा 'इन्सुलीन' नामक अन्त स्राव उत्पन्न होता है। यह स्राव कार्बोहाइड्रेट के पाचन से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की शर्कराओं के दहन अथवा सचय के लिए आवश्यक है। इसकी कमी से शर्करा का यथोचित उपयोग न होने से रक्त में उसकी मात्रा बढ़ जाती है, तब मधुमेह रोग हो जाता है। परासावेदनिक (Parasympathetic) नाड़ी-स्थान के सक्रिय रहने पर इन्सुलीन की क्रिया होती है। मानसिक सघर्षों के कारण परासावेदनिक नाड़ी-स्थान उत्तेजित होता है, जिससे इन्सुलीन की क्रिया ठीक से नहीं हो पाती, परिणामस्वरूप मधुमेह की उत्पत्ति इस युग में अधिक पायी जाती है।

(२२) नाड़ी-स्थान (Nervous system)—इसके तीन भाग होते हैं—१ परिसरीय, २ केन्द्रीय और ३ स्वतन्त्र।

१ परिसरीय के सज्जावह (Sensory) नाडियो से सज्जासवेदनाएँ केन्द्रीय नाड़ी-स्थान तक पहुँच जाती हैं और वहाँ से निर्दिष्ट चेष्टासवेदनाएँ सम्बद्ध अगो तक पहुँचती हैं।

२ केन्द्रीय नाड़ी-स्थान के मस्तिष्क और सुषुम्ना दो भाग होते हैं, जो मिलकर कार्य करते हैं।

३ स्वतन्त्र नाड़ी-स्थान के सावेदनिक और परासावेदनिक, ये दो भाग होते हैं। मनोभावों का सम्बन्ध ललाट-पिण्ड से होता है, जो बुद्धि, धृति, मनन, चिन्तन और निर्णय आदि भावों का केन्द्र है और जिसके आधार या विकृत होने से बुद्धि और विवेक की क्षमता का नाश हो जाता है। मस्तिष्क के मध्य में स्थित उपाज्ञाकन्द नाड़ी कोषों का समूह है। इससे सवेगों का सचालन और नियन्त्रण होता है। इस पर आधार होने से सवेग सम्बन्धी विकार होते हैं।

(२३) सामाजिक और सास्कृतिक आचार और शील आदि—समाज में अपनी जाति-बिरादरी के रस्म-रिवाज के अनुसार लड़का पैदा होने से लेकर आदमी के मरने तक शादी आदि कर्मकाण्ड करने, खिलाने-पिलाने, लेनें-देने में होने वाली आर्थिक तर्गी मनुष्य के मन-मस्तिष्क को दुख के आवेग में उद्विग्न कर देती है,

ग्रन्थ के परिणामस्वरूप पागलपन, शोक, चिन्ता, अनिद्रा और प्राणत्याग की भावना त्पन्न होती है।

इसी प्रकार कन्या के विवाह की समस्या, डस युग की एक बहुत बड़ी बोक्षिल अनसिक वीमारी का सूत्रपात कर रही है। समाज में स्त्री जाति को अब भी द्वितीय श्रेणी की नागरिकता प्राप्त है। आये दिन उन्हें विवश होकर मृत्यु का वरण रना पड़ रहा है।

लोग पारिवारिक जिम्मेदारियों, मँहगी की प्रतारणा से व्रस्त और भारभूत है। जबूरन बैटवारे करने पड़ते हैं, फिर शुरू हो जाता है अपनापन और परायापन का न्द्र, जिससे जूझने में नाना प्रकार की मनोविकृतियाँ मन को मथ देती हैं। एवं इसके सफल प्रेम और अर्थभाव आदि के आधार मन को विकृत कर देते हैं।

सस्कृति की मान्यताओं के निर्वाह में बहुत प्रकार के धार्मिक और आर्थिक न्धन, जातीय बन्धन, समाज के परिवेश के अनुसार आचरण करने का बन्धन, आन-पान, रहन-सहन, वात-व्यवहार, दान-पुण्य, आत्म-सम्मान की रक्षा की भावना आदि के साथ निपटने में व्यक्ति को जो कष्ट उठाना पड़ता है, उससे उसका मन तेतर से खण्डित हो जाता है, फिर भी वह अपने को सम्पन्न और प्रतिष्ठित इखलाने की धारणा से दबा रहता है। जब पानी शिर के ऊपर से बहने लगता है और जमीन-जायदाद सब बिक चुका होता है, तो कर्ज और उधार भी बन्द हो जाने से चिन्ता और उद्वेग के बढ़ जाने के कारण मानस रोगों के होने की सभावना बढ़ जाती है।

(२४) व्यक्तिगत कारण; जैसे—

१ आयु—स्त्रियों में युवावस्था में विवाह न होना, पति का अस्नेह या नपुसक होना, परिवार की कलह, गर्भावस्था, प्रसवकाल और मासिकधर्म बन्द होने की आयु में मानसिक रोगों (हिस्टीरिया आदि) के होने की सभावना होती है। रुषों में प्राय ३० से ४० वर्ष की आयु मनोविकार का क्षेत्र है।

२ शिक्षा—ऊँची शिक्षा ग्रहण करने के बावजूद जब व्यक्ति का मूल्य नहीं गता, उसे सम्मान और योग्यतानुसार पारिश्रमिक नहीं मिलता, पद नहीं मिलता, तो उसका मन ग्लानि से भर जाना है और व्यक्ति उन्माद आदि रोगों से आक्रान्त हो जाता है।

३ श्रम की अधिकता—शक्ति से अधिक कार्य करने से जो श्रमजन्य ह्लास उथा कान का अनुभव होता है, उससे मानसिक वैचैनी, अस्थिरता, विपाद, क्लेश और नाव होने से मनोविकार होते हैं।

४ आधार—जब शिर में किसी प्रकार की चोट लगती है, तो मन्त्रिष्ट की अरचना के विकृत हो जाने से मानस रोग हो सकते हैं अथवा जब किन्हीं डच्छाओं ने पूर्ति न होने या अनिच्छित परिस्थिति के आ पड़ने से हृदय पर आधार होता है, दल पर चोट लगती है—कारण चाहे प्रेम की असफलता हो अथवा आर्थिक या

सामाजिक गिरावट हो - तब मन मदेगो से मर जाता है और मानस रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(२५) शारीरिक रोग—मानसिक रोगों को उत्पन्न करने में शारीरिक रोग या विकृतियाँ भी कारण होती हैं। जैसे—मस्तिष्क एवं मेरुदण्ड (Brain and spinal cord) के ऊपर के आवरण के शोथ (Meningitis) होने से अनेक प्रकार के मानस रोग यथा—सजाहीनता-प्रलाप आदि उत्पन्न होते हैं। सन्निपात ज्वर में—भ्रम, प्रलाप, मूर्च्छा, तन्द्रा, मोह आदि, हृदरोग में—दैन्य, भय, क्लम आदि, पैचिक शोथ में भद्र, कृमिरोग में—मूर्च्छा-अनिद्रा, अस्लपित्त में—मूर्च्छा। मूत्रकृच्छ्र में—मूर्च्छा, प्रमेह में—अनिद्रा तथा वातव्याधि में—नि सज्जता आदि।

मानसिक रोगी का इतिवृत्त-लेखन

१. रोगी-परीक्षण के क्रम में रुग्ण के वर्तमान और दीर्घ अतीत का इतिहास लेना अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि इतिहास से उसके रोग के नूल कारण और तनाव का तथ्य अवगत होता है।

२. चिकित्सक को चाहिए कि वह अत्यन्त तत्परता और सावधानी से रोगी को अपने विश्वास में लेकर उससे आत्मीयता स्थापित कर उसके अन्त करण की बात जाने।

३. क्रमिक रूप से प्रश्न करने का अभ्यास करना चाहिए। यह कला रुग्ण के साथ मधुर और विश्वस्त भूमिका बनाती है।

४. रोगी के पूर्णत निदान के लिए उसके साथ मनोवैज्ञानिक एवं तर्कसंगत मानवीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

५. रोगी के साथ मैत्री, घनिष्ठता, विश्वसनीयता और अपनापन दिखलाकर उसे अभिप्रेरित करना चाहिए, जिससे वह अपना सारा रहस्य खोल दे, कि उसकी बीमारी का राज क्या है?

६. चिकित्सक को अपने अति मृदुल, सुरुचिपूर्ण, पवित्र, कल्याणकारी और मनोहर व्यवहार से रोगी के मन को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए, जिससे रुग्ण का क्रोध, तनाव, उत्तेजना और आक्रामक स्वरूप बदलकर सौम्य एवं सरल बन जाय।^१

७. चिकित्सक अपने व्यवहार से रुग्ण के मन में ऐसी धारणा उत्पन्न करे जिससे कि रोगी उसे अपना हितैषी, शुभचिन्तक और प्राणरक्षक एवं देवतुल्य ममझे।

८. निदान करते समय रोगी और चिकित्सक दो ही रहे, माथ मे अन्य कोई व्यक्ति न हो। इसमे एकान्त होना अत्यन्त अपेक्षित है।^२

¹ Examiner must inspire confidence in the patient, put him at his ease and make him feel that there is a friendly expert who genuinely interested in his welfare

—Clinical Diagnosis, page 421-422 edition 1977

2. Absolute privacy is very essential

—Ibid

१०. परीक्षण काल में चिकित्सक के लिए फुरसत, धैर्य, रुचि और तत्परता एवं एकाग्र मन होना नितान्त आवश्यक है।¹

१०. परीक्षण के तत्काल बाद या साथ-साथ रुग्ण का इतिवृत्त अभिलिखित कर लेना चाहिए। इतिवृत्त-नेखन की कला में दक्षता अंजित कर रोगी का पूरा-पूरा व्योरेवार विवरण लिखना चाहिए।

जैसे—

११. मुख्य घट्ठा (Chief complaints or problems)—रोगी या उसके सहयोगी को स्वच्छन्दतापूर्वक अपने रोग की शुरुआत, उसकी अवधि और उसके बढ़ने के क्रम को बतलाने के लिए प्रेरित करना चाहिए और उसे लेखबद्ध करना चाहिए। रोग से सम्बद्ध अन्य आवश्यक बारे रोगी से पूछ लेनी चाहिए।

१२. रोगी का अतीतकाल में स्वास्थ्य और रोग—शिर में चोट लगना, मेनिङ्जाइटिस (Meningitis), इन्सेफेलाइटिस (Encephalitis), सिफिलिस (Syphilis) या अन्य मनोदैहिक रोगों के होने या न होने के बारे में जानकारी कर ले।

१३. पारिवारिक इतिवृत्त—आर्थिक, शैक्षिक, सास्कृतिक और सामाजिक स्तर, परिवार को सदस्य-संख्या और उनका व्यक्तित्व तथा रोगी के साथ सम्बन्ध, उन्माद, अपस्मार, हिस्टोरिया या अन्य मानसिक रोग के रोगी परिवार में हैं या रहे हैं। यह सब अकित करे।

१४. व्यक्तिगत इतिवृत्त—शिक्षा, व्यवसाय, रुचि, मानसिक सन्ताप, विषाद, चिन्ता, शोक, आर्थिक स्थिति, भाग-नाजा-अफीम-हिरोइन आदि की लत, पसन्द की सोहबत, सामाजिक भावना या एकान्त प्रेम, स्त्री के साथ सम्बन्ध, सभोग या अतिसम्भोग आदि तथा वर्तमान एवं पूर्ववर्ती रोग के बारे में विस्तृत जानकारी करे।

१५. शंशव और बचपन—जन्मकाल पूर्ण या अपूर्ण, प्रसव स्वाभाविक या अस्वाभाविक, बचपन में शिर में आधात लगना, आक्षेपक, कामला या इन्सेफेलाइटिस होना, सामान्य स्वास्थ्य, माता-पिता का सरक्षण, घर के लोगों के साथ और साथ खेलनेवालों से सम्बन्ध, दुरध्यपान, माँ का दूध छोड़ना, अनुशासन, माता या पिता से अलगाव होना, आदि विषयों का अन्वेषण करके लिख ले।

१६. पारिवारिक बातावरण—क्या माँ-बाप, भाई-बहन, दादा-दादी तथा परिवार के मदम्यों का स्नेह मिला? उमकी आर्थिक स्थिति और घर का व्यवसाय क्या है? यह सब जाने।

१७. स्कूल-कालेज—विद्यालय भेजने के प्रति माँ-बाप का लगाव, विद्यालयीय

1 Patience, interest and attention on the part of the doctor, are necessary
—Clinical Diagnosis, p 421-22, edition 1977

जीवन में साथियों (लड़के-लड़कियों) तथा अध्यापकों से सम्बन्ध, शिक्षणेतर सास्कृतिक कार्यों में भाग लेने की प्रवृत्ति आदि का पता लगाये।

१८ व्यावसायिक और आर्थिक—स्वकीय रुचि का अथवा थोपा हुआ व्यवसाय, कार्य में रुचि और क्षमता तथा सन्तुष्टि, अपने से वरिष्ठ, कनिष्ठ और सहकर्मियों के साथ सम्बन्ध, पदोन्नति होती रही है या नहीं, कितनी बार नौकरी या व्यवसाय बदला, आय-व्यय, कर्ज और पिता का रुख या व्यवहार, इन सब बातों की सुनिश्चित जानकारी प्राप्त करें।

१९ सामाजिकता और मनोरञ्जन—क्या रुग्ण रोगी होने के पूर्व समाज से घुल-मिलकर रहने वाला, दोस्तों वाला, किसी विशेष कार्य में रुचि रखने वाला, खेल-कूद, व्यायाम, मनोरञ्जन, संगीत, नाटक, नृत्य या राजनीति, धर्म-कार्य आदि में सलग्न रहने वाला और शौकीन व्यक्ति रहा है।

२० वैदाहिक जीवन—विवाह कब हुआ, वच्चे हैं अथवा नहीं, परस्पर प्रेम, विवाह के पूर्व की प्रेमिका या अन्य कोई प्रेम-प्रसङ्ग, सम्मोग की क्षमता, पूर्ण सन्तुष्टि या क्लीवता का अनुभव या भेथुन-सामर्थ्य का अभाव या उपेक्षा का भाव, परस्पर विश्वास, पति-पत्नी का दास्पत्य-जीवन आदि जानना चाहिए।

यदि स्त्री रोगिणी हो, तो विवाह युवावस्था में हुआ या नहीं, कोई असफल प्रेम-विवाह के पूर्व या बाद, मासिकधर्म की स्थिति आदि जानें।

२१ पर्यावरण—रोगी के परिवार के सदस्यों का, उसके सम्बन्धियों का और अडोस-पडोस का रोगी के साथ कैसा सम्बन्ध है? उनकी आर्थिक स्थिति और रहन-सहन क्या है? क्या रुग्ण अपने परिवेश से प्रभावित है, इत्यादि जानकारी करे।

२२ शारीरिक दशा—आकृति, बातचीत, उठाना-बैठना, चलना-फिलना, पाचन-प्रक्रिया, निवन्ध, निद्रानाश, मन सन्ताप, विपाद आदि की स्थिति को जानना चाहिए।

२३ क्षोभ—यह जानना चाहिए, कि क्या रोगी का जीवन कठिन परिस्थितियों में गुजर रहा है। सामान्य जीवनोपयोगी साधनों की उपलब्धता है कि नहीं? मन को क्षुब्ध करने वाली कौन-सी समस्याएँ हैं? यह सब जानें।

२४ विजिष्ट कारण—रोगजनक कारणों में कौन प्रमुख है, और वह किस कोटि का है—शारीरिक है या अन्त सावी ग्रन्थियों के विकार से सम्बद्ध है अथवा मानसिक है?

उपर्युक्त विवरणों की जाँच-परख कर यह निष्कर्ष निकाले कि' रोग का वास्तविक कारण क्या है और रोगी का व्यक्तित्व क्या है?

मानसरोग-परीक्षा ।

यह परीक्षा रोगी के परीक्षण-कक्ष में प्रवेश करने के साथ से ही शुरू हो जाती है और तब तक चलती है, जब तक मानसरोग-विशेषज्ञ रोगी का साक्षात्कार करके उसके रोग का पूरा इतिवृत्त लिपिबद्ध करता है। जैसे -

१ आकार-प्रकार और व्यवहार—रोगी किस ढग से चिकित्सक के कक्ष में प्रवेश करता है। उसकी चाल, खड़ा होना, बातचीत और व्यवहार, चिकित्सक के प्रति व्यवहार और अपने रोग के विषय में क्या सोचता है, सहयोग करता है अथवा प्रतिरोध करता है, उसकी वेशभूषा, उसके बाल, उसकी चाल-ढाल, उसकी अव्यन्धता और उसके रहन-सहन का स्तर कैसा है? यह सब परीक्षणीय है। विशेषकर उसकी आन्तरिक स्थिति कैसी है? यह उसकी मुखाकृति देखकर समझना चाहिए, कि क्या वह उन्माद, विषाद या विखण्डित मनस्कता से ग्रस्त है?

२ चेतनता—रोगी की चेतना ठीक है या उसमें अपूर्णता है या वह किस हद तक कम है या नष्ट है? यह सब जाने।

३ मुखाकृति और मन स्थिति—रोग का प्रकार, उसका किस गहराई तक प्रवेश और उसका प्रभाव—यह सब रोगी की मुखाकृति से, मासपेशियों के रनाव से, शारीरिक गतिविधि से और रोगी की बातचीत से जाना जाता है। विखण्डित मनस्कता का रोगी इस बात के लिए पूर्ण मावधान रहता है कि उनकी वास्तविक मनोदशा परिलक्षित न हो।

४ विचार-शक्ति—रोगी के सोचने-विचारने के ढग का भी अध्ययन करना चाहिए। उसके निर्माण या उत्पादन, तरक्की एवं योजना पर ध्यान दें। उसके बोलने में शब्दों के उच्चारण पर जोर देने, विषय की अप्रासारितता, असम्बद्धता, बोलने में रुकावट, अचानक बात बदलना, नया विषय रखना, हठ करना और प्रतिघटनि करने पर ध्यान देना चाहिए।

उसकी स्मरण-शक्ति, बुद्धि, चचलता, उन्मत्त-सदृश व्यवहार आदि का अध्ययन करना चाहिए। यह निश्चय करना चाहिए कि रोगी का ध्रम सदा बना रहते वाला है अथवा अस्थिर या परिस्थिति जन्य है।

५ वोध (Perceptions)—ज्ञान का व्यतिक्रम, भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान हो जाता है। यद्यपि रोगी स्वयं अपनी परेशानियाँ व्यक्त करता है, फिर भी समझदारी से उसकी मनोदशा जानने का प्रयास करना चाहिए। रोगी के परिचारक या उसके सम्बन्धी जनों से वास्तविकता का पता करें।

६ स्मृति—क्या रोगी किसी घटना को ब्योरेवार बतला पाता है? क्या उसे याद है, कि अस्पताल में वह कब दाखिल हुआ और इसके साथ कौन आया था? कोई विषय सुनाकर उसे दुहराने को कहा जाय। उससे देश का नाम, प्रदेश का नाम, पता आदि पूछा जाय। उसने कब और कहाँ अध्ययन किया या नौकरी की और कब से कब तक कहाँ रहा? — इत्यादि प्रश्नों के उत्तर या अनुत्तर से उसकी स्मृति का ज्ञान करें।

७ पूर्वस्थिति (C-orientation)—समय, स्थान और उपस्थित व्यक्तियों के विषय में पूछने से पूर्व स्थिति का पता चलेगा। सप्ताह के दिनों के नाम, तारीख, महीना, मित्रों और रिस्तेदारों की पहचान कराकर पूर्व स्थित को जाने।

८ प्रतिभा—रोगी से अपने रोग का क्रमिक इतिहास, उसकी समस्या, उसकी विद्यालयीय शिक्षा, वर्तमान राजनीतिक घटना आदि के बारे में प्रश्न कर उसकी प्रतिभा जानी जा सकती है।

मानसरोग के सामान्य लक्षण

हीनमनोबल वाला रोगी भय, सत्राम और असहिष्णुता आदि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। जैसे—

(१) भय—अन्धकार का भय, भीड़ का भय, शीत का भय, गर्भ का भय, कायंभार का भय, रेन-थाना का भय, कुत्ते-विलली का भय, भूत-प्रेत का भय आदि भीरु स्वभाव के व्यक्ति को धेर लेते हैं।

सत्रास या घुटन—भयातुरुता (Nervousness) या फोविया से ग्रस्त व्यक्ति को अकारण प्राण निकलने की स्थिति का आभास होने लगता है। वह चुल्लू भर पानी में भी डूब जाने की आशङ्का करता है। कुत्ते के काटने से जब जलसत्रास होता है, तो वह व्यक्ति प्यास के भारे मर्जने की नीवन आने पर भी पानी को देखकर ही कौप जाता है। उसे ऐसी आशका होती है कि कहीं वह उम गिलास के पानी में ही न डूब जाय।

असहिष्णुता—वर्तन गिरने, स्टोब जलने, बाजा बजाने और कोलाहल की ऊँची ध्वनि आदि के प्रति असहिष्णुता होती है।

(२) मानस भाव—ईर्झ्या (Jealousy), शोक (Grief), क्रोध (Anger), मान (Vanity), द्वेष (Hatred), काम (Desire), लोभ (Greed), मोह (Infatuation), मद (Arrogance), चिन्ता (Anxiety), उद्वेग (Remorse) आदि भाव उग्र हो जाते हैं।

(३) मन क्षोभ—रोगी का मन अव्यवस्थित होता है। उसके मन में अनाप-शनाप जो भी बाते आती हैं, उसे अपनी अनियन्त्रित वाणी द्वारा प्रकट करता रहता है।

(४) भाव-भगिमा—अँगुलियों का नर्तन और विचित्र ढग से तोड़ता-घुमाना, मुखाकृति का विक्रन होना, आँखों में लाली या शून्यता, अस्फुट वाणी का प्रवाह और विक्रत स्वर आदि मानसिक विकार की सूचना देते हैं। अनवसर हँसना, नाचना, गीत गाना, अपने अगो पर बाजा बजाना, हाथ-पैर पटकना, शिर का नचाना आदि मनोविकार के लक्षण हैं।^१

(५) भाव-विभ्रश^२—मन के प्रमुख भावों का विभ्रश हो जाता है। जैसे— १ मनोविभ्रश, २ बुद्धिविभ्रश, ३ सज्जाविभ्रश, ४ ज्ञानविभ्रश, ५ स्मृतिविभ्रश, ६ भक्तिविभ्रश, ७ शीलविभ्रश, ८ चेष्टाविभ्रश और ९ आचारविभ्रश आदि।

१ धीविभ्रम् सत्त्वपरिष्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।

अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ —च० चिं० १६

२ उन्माद पुनर्मनोबुद्धिसंशानानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रम विद्यात् । —च० निं० ८५

१ मन के जो विषय—चिन्त्य-विचार्य-ऊद्य आदि है, उनका विपरीत ढग से चिन्तन-विचार या उर्क करना। अचिन्त्य का चिन्तन, अविचार्य का विचार और गलत उर्क करना आदि मन का विभ्रश है।

२ बुद्धि का व्यापार है—सद-असद का विवेचन करना। इसके विभ्रश से रोगी अनित्य को नित्य, अहित को हित और हित को अहित समझता है।

३ सज्ञा (नाम का ज्ञान) का विभ्रश होने से वह अपना, माँ-बाप, भाई-बहन एवं परिचितों का नाम भूल जाता है या गलत बतलाता है।

४ ज्ञान का विभ्रश होने से रोगी यह भूल जाता है, कि विजली का नगन तार छूना प्राणघातक है या आग जलाती है आदि।

५ स्मृति का नाश होने से रोगी को यह स्मरण नहीं रहता कि वह कब वीमार पड़ा था, कब अस्पताल आया, कितनी बार दवा खानी है, कब चिकित्सक को दिखाना है आदि।

६ भक्ति (इच्छा) का विभ्रश होने से रोगी की रुचि बदल जाती है, जैसे यदि वह पहले प्याज-मछली-माम खाता था और दूध-इही से नफरत करता था अब रुग्ण होने पर उसे मछली आदि से धृणा और दूध-इही से प्रेम हो जाता है।

७ शील (स्वभाव) का भ्रश होने से अतिवक्ता और घुमक्कड व्यक्ति चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठे रहना पसन्द करता है।

८ चेष्टा (गतिविधि-क्रियाकलाप) का विभ्रश होने से रोगी अगों को इधर-इधर-उधर फेंकता रहता है। मुख टेड़ा करना, विकृत रूप बनाना, आँख नचाना, हँसना-रोना आदि भाव प्रदर्शित करता है।

९ आचार के विभ्रश से उसकी पूर्व को दिनचर्या और रात्रिचर्या में परिवर्तन आ जाता है। बहुत अधिक स्वच्छता, स्नान, पूजा-पाठ आदि करनेवाला, खाने-पीने में सयम और सफाई रखनेवाला व्यक्ति नहाना-धोना, पूजापाठ आदि छोड़कर उद्धत एवं अशिष्ट व्यवहार, गाली-गलौज और मारपीट पर उतारू हो जाता है।

(६) व्यामोह—१ रोगी अपनी जिन्दगी से ऊब जाता है और इसे समाप्त करने का विचार करता है। उसे जीवन की निरर्थकता का व्यामोह (झूठा विश्वास या डिल्यूजन (Delusion) हो जाता है। २ रोगी को भ्रम हो जाता है कि मुझे कैन्सर हो गया है या मेरे उदर में सांप पैदा हो गया है या मेरे शिर में मेढ़क छुस गया है। इस प्रकार उसे प्राणसकट दिखलाई देने लगता है, जो अतिशय चिन्तन-जनित व्यामोह होता है। ३ किसी-किसी को आत्मश्लाघा का, अपने बड़प्पन का, विद्या का, धन का, वक्ता या व्यास होने का, नेता या शासक होने का व्यामोह होता है। ४ अपराधी होने का व्यामोह होता है। रोगी के मन में यह आशङ्का होती है कि लोग उसे भारने का घड़यन्त्र रख रहे हैं, उसके सर्वनाश पर तुले हुए हैं। ऐसा उसे अपने किसी आपराधिक कार्य की स्मृति होने पर होता है।

(७) भ्रम (Illusion)—जैसे सीप को चाँदी समझना, शत्रु के ऊपरी दिखावटी प्रेम-व्यवहार को देखकर उसे मित्र समझना, रस्सी को साँप समझना भ्रम है । रोगी व्यक्ति को खाँसी होने पर टी० बी० का भ्रम हो जाता है ।

(८) विभ्रम (Hallucination)—इसमें जो बात नहीं है वह भी सामन दिखलाई देती है, जैसे—उजली रात में जब दूधिया चाँदनी की किरणे छिटकी हुईं हो, तो कोई मुग्धा वालिका गाय के स्तन से दूध झरने की स्थिति को भाँपकर स्तन के नीचे दुग्धपात्र रख देती है । जब कि वह चन्द्रकिरणों का आवर्तन होता है, जिसे दुग्ध की धारा समझ लिया गया । अधेरे में पेड़ के नीचे चलते सभय यदि पत्ता भी खड़खड़ाता है तो सामने भूत आता दिखलाई देता है, यह विभ्रम है । मानस रोगी स्वकल्पना-प्रसूत इन्द्रजाल की तरह अवास्तविक दृश्यों को देखता है ।

(९) कृत्रिम मानस कष्ट—युवावस्था में जब किसी नवयोवना के अग-अग में कन्दर्प के तीखे शरों की चुभन असह्य हो जाती है, तो वह अपना सयम खोकर कभी रोना, कभी हँसना, कभी बैहोश हो जाना आदि को अपनी दिनचर्या बना लेती है । उसके गले में अवरोध, उदर में पीड़ा एवं अगों में व्यथा का अहसास होता है । वह परिवार के लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लज्जा-शौल की सीमा तोड़कर उद्धत आचरण करने लगती है । उसके मन के सवेगों के अनुसार उसका शरीर कदाचित् अनेकविध शारीरिक और मानसिक कष्टों का निकेतन बन जाता है, किन्तु ये लक्षण कृत्रिम और कल्पित होते हैं ।

रुक्गादश अध्याय

मानसरोगों के सामान्य चिकित्सासूत्र

सामान्य चिकित्सासूत्र

(१) सुझाव (Suggestion)—

इस प्रक्रिया में रोगी और चिकित्सक के व्यक्तिगत सम्बन्ध, सुझाव देने की विधि, वातावरण, सुझावदाता के प्रति रोगी का विश्वास और श्रद्धा का विशेष महत्व होता है। रोगी के मन की गहराई तक उत्तर कर उसकी समरया को शान्त-चित्त हो सुनकर उसकी समस्या के समाधान हो जाने का विश्वास तथा आश्वासन दिलाकर ही सुझाव देना उपयोगी होता है।

(२) सम्मोहन (Hypnosis)—

निद्रा आने के पूर्व जो तन्द्रा जैसी स्थिति होती है, रोगी को उस स्थिति में लाना ही सम्मोहन है। इससे अनिद्रा, उनाव और मन के भय को दूर किया जाता है।

विधि—सम्मोहनकर्ता पहले रोगी को बतला देता है कि उसे क्या करना है। रोगी को एक आरामकुर्सी पर बैठा दिया जाता है और उसकी दृष्टि सामने रखी किसी चमकदार वस्तु पर स्थिर कराई जाती है और उससे निनती गिनने को कहा जाता है एवं बार-बार उसे सकेत दिया जाता है, कि अब तुम सो जाओगे। चिकित्सक अपने प्रतिभा से किसी भी उपाय का अवलम्बन कर रोगी को सम्मोहित करता है। यह कार्य सामान्य मदकारक औषधों के प्रयोग से भी किया जा सकता है, जैसे—पिपरामूल चूर्ण १ ग्राम या सर्पेगन्धा चूर्ण १ ग्राम या जातीफलादि चूर्ण अथवा भाग का चूर्ण १-२ ग्राम दूध के साथ दिया जा सकता है।

(३) प्रोत्साहन (Encouragement)—

चिकित्सक को चाहिए कि रोगी के जीवन की विशिष्ट घटनाओं को जानकर उनके निश्चकरण के उपाय बतलाकर यह प्रोत्साहन दे कि आप चिन्ता छोड़ दीजिए, आपके सकट का समाधान हो जायेगा। इस प्रकार रोगी के मन से चिन्ता, भय, उद्वेग और शोक को दूर करे।

(४) सामुदायिक भनचिकित्सा (Community psychotherapy)—

इस पद्धति की सफलता के लिए चिकित्सक का व्यक्तित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण याना जाता है। एक ही चिकित्सक एक ही समय में अनेक रोगियों की चिकित्सा कर सकता है। इस पद्धति में यह विशेष लाभ है।

रोगी जब समूह में होता है और अपनी समस्याओं को अपने साथ के अन्य लोगों में भी देखता है, तो आपस में वातचीत करते रहने से और सोचने-विचारने

से उसका मन हल्का हो जाता है। रोगी अपनी गुप्त बातें परस्पर करते रहते हैं, जिससे उनका तनाव कम होता है।

(५) पर्यायवरण-परिवर्तन और विश्राम (Environmental change and rest)—

कदाचित् अवाञ्छनीय और असह्य सामाजिक वातावरण से हटकर और उत्तरदायित्व से मुक्त होकर किसी अन्य स्थान पर निवास करने और भारमुक्त होकर सुखपूर्वक विश्राम करने से मन शान्ति मिलती है। विश्राम करने से शरीर पूर्णतया शिथिल हो जाता है, जिससे तनाव में कभी हो जाती है तथा अनिद्रा दूर होने से आराम मिलता है।

(६) मानसिक रेचन (Mental catharsis)—

इस पद्धति में रुग्ण की चिन्ताओं, कष्टों और अन्तर्द्वन्द्वों के सम्बन्ध में उससे बातचीत करके उनके निराकरण का वातावरण बनाया जाता है जिससे रोगी या तो उन्हे भूल जाय या उसकी चिन्ता आदि का समाधान निकल जाय। रोगी चिकित्सक के व्यवहार में सहानुभूति, मैत्री, अपनापन और निकटता पाकर अपने दिल के दर्द को व्यक्त कर अपने मन के बोझ को हल्का कर देता है। योग्य चिकित्सक अपने सद्बाँध और प्रेमपूर्ण आचरण से रोगी के मनोबल को बढ़ा देता है, जिससे रोगी अपनी कठिनाइयों का सामना करने का साहस जुटाकर परिस्थिति पर काढ़ पाकर वातावरण को अनुकूल बना लेता है और मन की दुश्मिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

(७) मनोविलेषण (Free association psycho-analysis)—

इस पद्धति के प्रयोग में चिकित्सक की कुशलता और अनुभव का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें रोगी को महत्व देकर, उसकी प्रशासा कर उसे बोलने के लिए, आत्माभिव्यक्ति और आत्म-निवेदन के लिए उकसाया जाता है। जिससे वह अपने विचार, अनुभव, कष्ट आदि स्वेच्छा से स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सके। रोगी के मुख से उसके मनोगत भावों का पता लगाया जाता है। इस प्रकार उसके कष्ट को बातचीत के द्वारा दूर किया जाता है और अपने कष्टों को दूर करने के लिए स्वयं में क्षमता लाने की प्रेरणा दी जाती है। इसमें रोगी को अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का मनोबल प्रदान किया जाता है। इस कार्य में पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए जब तक कि बातचीत से परिणाम में सफलता न दिखलाई पड़े।

(८) आघात-चिकित्सा (Shock therapy)—

इसके ३ प्रकार हैं—१ सशोधित विद्युद आघात (Modified electro-therapy) में 'स्कोलीन' जैसे मासमेशियों को शिथिल करनेवाले द्रव्य को अन्तर्शिरामार्ग द्वारा देकर आक्षेप को परिवर्तित किया जाता है। इस विधि का प्रयोग गीव्र उन्माद, विषाद, विषजन्य मनोविकृति और विखण्डित मनस्कता (Schizophrenia) के कुछ प्रकारों में किया जाता है। अन्य दो प्रकार—२ इन्स्युलीन आघात चिकित्सा और ३ मेट्रोजोल चिकित्सा हैं।

(९) मानस-शल्यचिकित्सा (Psycho-surgery therapy)—

इसमें शिर के दोनों ओर शरीरप्रदेश में छोटा-मा छिद्र बनाकर चाकू द्वारा मस्तिष्क के ललाटपिण्ड (Frontal lobe) और आज्ञान्त्र (Thalamus) के मध्य के नाड़ी-न्यून काट दिये जाते हैं। उससे पर्याप्त विशेषकर विपाद (Melancholia) में होता है।

(१०) रोगलक्षण व्याख्या (Explanation of symptoms)—

रोगी में जो लक्षण दिखलाई पड़े, चिकित्सक उन लक्षणों की व्याख्या करके रोगी को बड़ी कुशलता और धैर्य के साथ समझाना है जिसे मुनक्कर रोगी को बढ़ा सन्तोष और आश्वासन मिलता है।

(११) उपदेश (Exhortation), सान्त्वना और आश्वासन—

रोगी के शुभचिन्तक एवं अभिभावक या गुरु-जन उसे सात्त्विक आचार-विचार और व्यवहार करने के मार्ग का निर्देश देकर उत्तम आचरण की शिक्षा दें। रोगी को प्रसन्न, निश्चिन्त और नियमित रहने का उपदेश दें, जिससे वह स्वयं अपने हिताहित का विचार कर मन स्थिति को ठीक रखे।

(१२) आहार (Diet)—

सात्त्विक आहार जो मधुर, स्तनघ, रुचिकर, दुर्घ-घृत सयुक्त, सुगन्धित, मनोरम, उत्तम वर्ण युक्त और श्रुतु के अनुकूल हो, उसे खाने को देना चाहिए। मानस रोगी को यदि उससे पूछ-पूछ कर उसकी रुचि के अनुभार तथा दुर्घ-घृत से परिपक्व भोजन दिया जाय तो ऐसा उत्तम आहार उसके लिए मद्दौपध है, जो उसे आरोग्य प्रदान करता है।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण

चिकित्सा के तीन प्रकार—१ देवव्यपाश्रय, २ युक्तिव्यपाश्रय, ३ सत्त्वावजय।

(१३) देवव्यपाश्रय-चिकित्सा—

पूर्वजन्मकृत कर्मों से देव या भाग्य का निर्माण होता है—

‘देवमात्मकृत विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्’ (चरक० वि० ३।३०)। देवकृत भी रोग होते हैं, जिनके प्रतिकार के लिए देवताओं और ग्रहों की पूजा तथा धर्म-चरण का विधान बतलाया गया है। जैसे—१ इष्टदेव के मन्त्र का जप करना, २ ओषधि तथा भणियों को धारण करना, ३ शुभकारक भगल पूजा-पाठ करना, ४ देवताओं के लिए उनके प्रिय पदार्थ की बलि या उपहार के रूप में समर्पण करना, ५ घृत-तिल-जौ-शर्करा तथा गरी आदि फलों की आहुति देकर हवन करके वाता-

१. त्रिविभमौषधमिति—देवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय, सत्त्वावजयश्च। तत्र देवव्यपाश्रय—मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि, युक्तिव्यपाश्रय पुनराहरौषधदव्याणी योजना, सत्त्वावजयः—पुनरहिनैभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रह। च० स० ११।५४

वरण की शुद्ध करना, ६. नियमों यथा—शोच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान (पातञ्जल-योगसूत्र २।३२) का पालन करना, ७ प्रायश्चित्त (शरीर और मन की पवित्रता के लिए द्वारा आदि) का पालन करना, ८ उपवास करना, ९ अपने तथा ममाज के कल्याणार्थ शुभकामना के गन्धों का पाठ करना, १० देवता-गुरु-द्विज-गी आदि पूज्यों के तामने नाष्टाङ्ग प्रणाम और विनश्चरण का व्यवहार करना एवं ११ तीर्थाटन करना आदि कर्म ईवव्यपाश्रय-चिकित्सा के अन्तर्गत आते हैं।

(१४) युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा—

यह चिकित्सा वारादि दोषज रोगों के प्रतिकार के लिए की जाती है, जिसमें मुख्यरूप में दोष-प्रकोप को दूर करने के लिए—१ आहार की योजना और २ औषध की योजना की जाती है।

युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा में तीन प्रकार के कर्म समाविष्ट हैं—(क) अन्त-परिमार्जन, (ख) वहि-परिमार्जन और (ग) शस्त्रप्रणिधान (प्रयोग)।

(क) अन्त परिमार्जन उम औषध को कहते हैं, जो शरीर के भीतरी भाग में प्रविष्ट होकर दूषित आहार-सेवन से उत्पन्न रोगों को नष्ट करती है। यह २ प्रकार की होता है—१. मजोधन और २. गशमन।

संशोधन में वगन, विरेचन, निर्ह, अनुवामन और नस्य का प्रयोग किया जाता है तथा सशमन में दीपन, पाचन, अनुलोमन आदि कर्म करने वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

(ख) वहि परिमार्जन औषध उमे कहते हैं, जो शरीर की त्वचा का आश्रय कर रोगों को दूर करती है, जैसे—अम्बज्ज, स्वेद, प्रदेह, परिसेक और मर्दन आदि।

(ग) शस्त्रप्रणिधान^१—उसे कहते हैं जो छेदन, भेदन, व्यधन, दारण, लेखन, पाटन, प्रच्छन, भीवन, एपण आदि कर्म शस्त्र से किये जाते हैं। इसमें ही क्षार लगाना, अग्नि से दग्ध करना एवं जोक लगाना आदि कर्म भी समाविष्ट हैं।

इन तीनों प्रकार की चिकित्सा-विधियों का आवश्यकतानुसार मानस रोगों में भी प्रयोग होता है।

^१ शारीरदोषप्रकोपे तु शारीरमेवाश्रित्यप्रायस्त्रिविभूषिष्ठमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जन, वहि—परिमार्जन, शस्त्रप्रणिधानब्रेनि । —च० स० ११५५

मानसरोगों में भी शस्त्र-प्रयोग का विधान वर्णित है। जैसे—

(क) उरोऽपाद्वललाटस्थामुन्मादेऽपमृतौ पुन ।

हनुसन्धीं ममुद्भूता मिरा भ्रूम् पगामिनोम् ॥

—अ० छ० स० २०१२

(ख) हनुसन्धिमध्यगतामपम्पारे ।

—सु० शा० ८१७

(ग) शस्त्रकेशान्तमन्धौ वा मोक्षयेज्जो भिषक् मिराम् ।

उन्मादे विषमे चैव उवरेऽपस्मार एव च ॥

—च० चि० ९१८४

(घ) नम्य मिराव्यधो दान त्रासन वन्धन भयम् ।

—मै० २०, अप० चि०

(ङ) स्नेहादिभि क्रियायोगैर्न तथा लेपनेण्वि ।

यान्त्याशु व्याधय शान्ति यथा मम्यक् सिराव्यधात् ॥

—सु० शा० ८१२२

(१६) सत्त्वावजय-चिकित्सा—

यह वह चिकित्सा-प्रक्रिया है, जिसमें रोगी के मन को अहितकर विषयों (शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध एवं मान-मोह-दम्भ-ईर्ष्या-द्वेष आदि) में जाने से रोका जाता है। यथा—

१. मनोनिग्रह के उपायों में धैर्य-स्मृति-चित्त की एकाग्रता तथा ज्ञान-विज्ञान आदि का अवलम्बन किया जाता है।

२. मनोनिग्रहण के लिए योगदर्शन (साधनपाद २।२९) में वर्णित अष्टाङ्ग-योग (१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि) का व्यावहारिक रूप से पालन करना चाहिए।

३. अपने अनुकूल धर्मार्थचिन्तक मित्र-मण्डली के साथ रहना चाहिए। ध्येय के अनुकूल कर्म करे। आहार-विहार का सम्यक्योग करना चाहिए। मगल आचरणशील, विद्या-वयोवृद्ध-आचार्यानुगमी, उत्साहवान्, क्षमावान्, मितभाषी, धर्मात्मा, प्राणिमात्रकरुणाकर, अतिथिपूजक, प्रात्-साय स्नाता, दाता एव शान्ति-प्रिय बनना चाहिए।

४. सुखी जनों से मैत्री, दुखी जनों के प्रति करुणा, पुण्यात्मा पुरुषों के प्रति प्रसन्नता की भावना और पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना करने से मन के राग-द्वेष-धृष्णा-ईर्ष्या-कोधादि विकार नष्ट होते हैं और मन निर्मल एवं प्रसन्न होता है।

५. शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा—ये छ. मन को एकाग्र करते हैं। शरीर, वाणी और मन से—१. हिंसा, २. चोरी, ३. अगम्या-गमन, ४. चुगली, ५. कठोर वचन, ६. मिथ्या वचन और गाली-गलौज ७. दोसुँही बात, ८. हत्या करने का विचार, ९. परधन-अपहरण की लालसा तथा १०. आप्तवाक्यों का उल्टा अर्थ लगाना—इन दस प्रकार के पापकर्मों का परित्याग करना चाहिए।

६. जीविका-विहीनों, रोगियों और शोक-सन्तप्तों की यथाशक्ति सहायता करे।

७. याचकों को निराश न करे, न अपमान करे और न ही कोई आक्षेप करे।

८. अपकारकारक शत्रु के प्रति भी उपकार की भावना रखे।

९. समय पर अवसरोचित हितकर, सक्षिप्त और विवादरहित वचन बोले।

१०. दूसरे के अभिप्राय को समझकर वह जैसे भी सन्तुष्ट हो, वैसा वर्ताव करे।

११. सभी धर्मों के प्रति सम्भाव रखे, मध्यम मार्ग का अनुसरण करे और कटूरपन्थी न बने।

१२. दयालुता, दान, शरीर तथा मन पर नियन्त्रण और प्रकार्य साधन में स्वकार्य जैसी धारणा रखना आदि सदाचारों के पालन से मन निर्मल रहता है।

२. देखे—अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान अध्याय २। तथा—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्त ।

दाता समः सत्यपर. क्षमावान् आसोपसेवी च भवत्यरोग ॥

मतिर्वचः कर्म सुखानुवन्ध सत्त्व विधेय विशदा च तुद्धि ।

ज्ञान तपस्तत्परता च योगे यस्याति त नानुनपन्ति रीगा ॥ —च० शा० २४६-४७

(१७) उपायाभिप्लुता-चिकित्सा—

उपायों द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, उसे उपायाभिप्लुता कहते हैं। यहाँ उपाय शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है —

१ वैद्य, औपध, परिचारक और रोगी —ये चिकित्सा के चतुष्पाद हैं। जब ये चारों अपने गुणों से नमन्न होकर अपने अपने कार्य को सम्पन्न करने में सफल रहते हैं, तो उन्हें उपाय कहते हैं। उपाय का स्वरूप यह है, कि चारों चिकित्सापाद अपने गुणों ने युक्त हो और देण, काल, प्रमाण, मात्र्म्य एवं क्रिया आदि सफलताकारक कारणों से बनाई गयी औपधों का प्रयोग किया जाय।

२ औपध या भेषज को द्विविध बतलाया गया है— पहला अद्व्यभूत (जिसमें द्रव्यों का प्रयोग करके चिकित्सा की जाती है) और दूसरा अद्व्यभूत (जिसमें द्रव्यों का प्रयोग नहीं किया जाता और अभूत भावों के प्रयोग से रोगी का उपचार किया जाता है)। एवं जो अद्व्यभूत चिकित्सा है, वह उपायाभिप्लुता है।

उपाय—१ भय दिखलाना, २ आश्रयचकित करना (विस्मापन), ३ जिस वार्त का स्मरण करने में रोग का प्रकोप होता है, उस वात को रोगी के स्मृतिपटल से ओझल करना—भुलवाना (विस्मारण), ४ क्षोभण—रोगी के शरीर और मन में हलचल उत्पन्न करना, ५ हर्षण—खुशी पैदा करना, ६. भर्तसना—निन्दा करना और फटकारना, ७ वध—मारने की धमकी देना, ८ वन्ध—वांधना, ९ स्वप्न—शयन करना, नीद लाना, १० सवाहन—पैर और अन्य अगों को मुलायम हाथों से दबाना आदि अमूर्त प्रयोग और चिकित्सा-कर्म को सफल बनानेवाले भूत्य आदि—ये सब उपाय के अङ्ग हैं।

उक्त उपायों के प्रयोग उन्मादादि मानस रोगों के सफल उपचार हैं।

(१८) मान्त्रिको-चिकित्सा—इसमें प्रेतवाधा-निवारणार्थ मन्त्रपाठ करते हैं।

(१९) तान्त्रिकी-चिकित्सा—इसमें तन्त्रशास्त्र में कथित विधि से सिद्ध की हुई अंगूठी-धारण एवं होमादि किया जाता है।

(२०) ग्रहबाधा-चिकित्सा—इसमें रोग से सम्बद्ध ग्रह के अनुसार पूजा-बलि-उपहार आदि कर्म किये जाते हैं।

(२१) औषध चिकित्सा—वाह्य स्नान-अवगाहन-प्रलेप आदि^१ एवं रोगी के शारीरिक एवं मानसिक दोषप्रकोप के अनुसार सोधन तथा उपशमन औषध का प्रयोग करना चाहिए।

^१ सेकावगाहौ मण्य सहारा. शीता प्रदेश व्यजनानिलाश।

शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ॥

द्वादश अध्याय

उन्माद, अपस्मार, अतत्त्वाभिनिवेश-मनोविक्षिप्ति-विपाद-
अव्यवस्थितचित्तता-भ्रम-विभ्रम-संविभ्रम-व्यामोह-
मनःशान्ति-मनोग्रन्थि-बुद्धावस्थाजन्य विकार

उन्माद

परिचय—यह एक मनोदैहिक रोग है, जिसमें मनोविभ्रम, बुद्धिविभ्रम, सज्ञाविभ्रम, ज्ञानविभ्रम, स्मृतिविभ्रम, भक्तिविभ्रम, शीलविभ्रम, चेष्टाविभ्रम और आचारविभ्रम—ये आठ विकृतियाँ मुख्य रूप से होती हैं (इनकी व्याख्या इसी अध्याय के 'मानसरोगो के यामान्य लक्षण' शीर्षक में दी गयी है, वही देखें) ।

निर्वचन—उत् उपसर्ग-पूर्वक भद्र धातु से घन् प्रत्यय करने पर उन्माद शब्द बनता है । उद का अर्थ ऊर्ध्व होता है, एव जब विकृत वातादि दोष उन्मार्गगमी होकर मस्तिष्क में जाकर उसे विकृत कर 'भद्र' (पागलपन) उत्पन्न करने हैं, तब उसे उन्माद रोग कहते हैं । दोष के उन्मार्गगमी होने से तथा मद्य के समान प्रभाव होने से इस रोग को उन्माद कहा जाता है ।

सन्दर्भ छन्दः—

- १ चरकसहिता-निदान० अ० ७ ।
- २ „ चिकित्सा० अ० ९ ।
- ३ सुश्रुतसहिता-उत्तर० अ० ६० ।
- ४ „ „ „ ६२ ।
- ५ अष्टाङ्गहृदय-उत्तर० अ० ७ ।
- ६ माधवनिदान ।

सामान्य निदान^१

आहार—विरुद्ध, दूषित, अपवित्र, विकृत, मलिन, आहार का आहार-विधि के विपरीत प्रकार से भोजन करना ।

सदाचार त्याग—देवता, गुरुजन, अपने से श्रेष्ठ एव ब्राह्मणों का अपमान, उटपटाग तरीके से उठना-चैठना एव बात-व्यवहार करना ।

१ (न) विरुद्धुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षण देवगुरुद्विजानाम् ।

उन्मादहेतुर्भवहर्षपूर्वो मनोऽभिवातो विषमाश्च चेष्टा ॥ —च० नि० ११४

(ख) चोरैनैन्द्रपुरुषैररिभिस्तथान्यैर्विभ्रामितस्य धनवान्थवमडक्षयाद् वा ।

गाढ़ क्षते मनसि च प्रियया रिरमोर्जर्येत चोत्कटतमो मनमो विकार ॥

—सु० उ० ६८।२

(ग) च० नि० ७४ ।

मानस भाद—भय, मानविक कष्ट, मनोदोषवृद्धि, अतिहृष्ट, मनोऽभिधात, चक्षु भनन्कता, काम-क्रोध-लोभ-मोह-शोक-चिन्ता-उद्वेग आदि का आधिक्य ।

शारीरिक—विषम (ऊंच-नीच, ऊबड-गावड) ढग से उठना, बैठना, चलना-घूमना या अद्भुतों को तोडना-मरोडना ।

आर्थिक तंगी—आमदनी से अधिक खर्च करना; चोरी या मजा होना ।

पारिवारिक—स्त्री, मारुता-पिता, भाई-पट्टीदार और मगे-सम्बन्धियों का अनुचित दबाव और उत्सीडन आदि ।

सामान्य सम्प्राप्ति^१

पहले नहे गये उन्मादजनक जारीरिक, माननिक या आगन्तुक वारणों से प्रकुपित (वारादि एव रजन्त्रम) दोष बुद्धि के निवासस्थान हृदय (मस्तिष्क) तथा मनोवाही स्रोतों में जाकर मन को दूषित (मोह या श्रान्तियुक्त) कर देते हैं, जिससे उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है ।

वह रोग अवरमत्त्व (हीन मनावल) वाले व्यक्तियों को होता है और उनका मनोविभ्रंश (प्रमोह) हो जाता है ।

सम्प्राप्ति-चक्र

विरुद्ध, दुष्ट, अपवित्र आहार जाम-क्रोध-हृष्ट-शोक आदि मनोभाव, हीन मनोवल एव आगन्तुक कारण	} —निदान—दोषप्रकोष—हृदय (मस्तिष्क) दूषण
-------------------------------------------------------------------------------------------------	-------------------------------------------

दोषों का मनोवह स्रोतस् गमन

मनोविभ्रंश

उन्माद रोग की उत्पत्ति ← — — प्रमोह

दोष-दूष्य-अधिष्ठान-स्रोतस्

१ दोष—(क) शारीरिक वातप्रधान दोष ।

(ख) मानस रज और तम दोष ।

२ दूष्य—मनस् ।

३ अधिष्ठान—बुद्धि-निवास हृदय (मस्तिष्क) ।

४ स्रोतस्—मनोवह स्रोतस् ।

पूर्वरूप^२

१ शिर का शून्य होना, आँखों में व्याकुलता, कानों में आवाज और उच्छ्वास का अधिक होना ।

^१ तैरत्पसत्त्वस्य मला प्रदुष्या दुद्देनिवास हृदय प्रदुष्य ।

स्रोतांश्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहन्त्याशु नरस्य नैत ॥

—च० चि० ९१५

^२. च० चि० ९१६ ।

- २ लार टपकना, खाने की अनिच्छा, अरुचि और भोजन का न पचना ।
 ३ हृदय में जकड़न की अनुभूति, अकारण ध्यान, आयास (श्रम), मोह और घबड़ाहट ।
 ४ रोमाच्च, बार-बार ज्वर होना, मन उचटना, उदर्दं रोग होना ।
 ५ अदिति रोग की उरह मुखाकृति बनाना ।
 ६ स्वप्न में चक्कर काटते चच्चल, अस्थिर और निन्दित स्पो को देखना ।
 ७ स्वप्न में कोलहू पर चढ़ना, ववडर में फँसना, गन्दे जल में डूबना और आँखों का टेढ़ा होना आदि दोषज उन्माद के पूर्वरूप हैं ।

सामान्य लक्षण

१ बुद्धिविभ्रम, २ मनोविभ्रम, ३. दृष्टि-व्याकुलता, ४ अधीरता, ५. असम्बद्ध प्रलाप और ६ हृदय में शून्यता की प्रतीति होना, ये उन्माद के सामान्य लक्षण हैं ।

उन्माद के प्रकार^१

उन्माद			
निज	आगन्तुज	भूतोन्माद	
१ वातज	१ मानसदु खज		
२ पित्तज	२ विषज	चरकानुसार ^२	सुश्रुतानुसार ^३
३ कफज		१ देवजन्य	१ देवज
४ सन्धिपातज		२ शापजन्य	२ असुरज
		३ पितृजन्य	३ गन्धर्वज
		४ गन्धर्वजन्य	४ यक्षज
		५ यक्षजन्य	५ पितरज
		६ राक्षसजन्य	६ सर्पज
		७ ब्रह्मराक्षसजन्य	७ राक्षसज
		८ विशाचजन्य	८ विशाचज

१ (क) मसुदभ्रम बुद्धिमन मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहु ।
 तस्योद्भव पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सित च ॥ च० च० ९८

(ख) एकश मवशश दोषैरत्यर्थमूच्छते ।

मानसेन च दुखेन स च पञ्चविधो मत ॥

विषाद्वनि पष्ठश यथास्व तत्र भेषजम् ।

—सु० उ० ६२१४

२ च० च० ९१२० ।

३ देवास्तथा शक्तिगणाश्च तेषा गन्धर्वयक्षा पितरो भुजङ्गा ।

रक्षामि या चापि विशाचजाति , षष्ठोऽष्टको देवगणो ग्रहाल्य ॥

—सु० उ० ६०१७

वातज उन्माद निदान

१. रुक्ष अभ्याहार का लगातार सेवन, २. कम मात्रा में भोजन करना, ३. शीतल आहार, ४. विरेचन का अधिक प्रयोग, ५. धातुओं का क्षय, ६. उपवास, ७. चिन्ता-कामवासना-शोक-भय आदि।

वातज उन्माद की सम्प्राप्ति

उक्त कारणों से प्रकुपित हुआ वायु चिन्ता आदि से आक्रान्त हृदय को दूषित कर बुद्धि तथा स्मृति को नष्ट कर उन्माद को उत्पन्न करता है।

वातज उन्माद के लक्षण

१. अनवसर (विना किसी प्रसङ्ग के) हँसना, मुस्कराना, नाचना, गीत गाना।
२. वै-मतलब अनाप-शनाप बकना, अङ्गों को नचाना, अकारण रोने लगना।
३. शरीर का रुखा या कड़ा होना, दुबला-पतला और लालवर्ण का होना।
४. भोजन के पच जाने पर पागलपन का दीरा तेज होना, लगातार घूमना।
५. अचानक आँख-भींह-ओठ-कन्धा-हयेली अथवा पैरों को नचाना।
६. अपने अङ्गों पर बीणा, बाँसुरी, शख आदि बजाने का नाटक करना।
७. फटे-पुराने चिथडे, टाट, कागज के टुकड़ों से शरीर को सजाते रहना।
८. जो भोजन उपलब्ध हो उसका तिरस्कार करना और जो आहार द्रव्य न उपलब्ध हो उसे खाने के लिए लालायित होना और द्वेष की भावना रखना, आँख फाड़कर देखना आदि वातज उन्माद के लक्षण हैं।

पित्तज उन्माद निदान

१. अजीर्ण होना, २. कटुरस और अम्लरस का अधिक सेवन, ३. विदाही (जलन पैदा करने वाले) पदार्थों का अधिक सेवन और ४. उष्ण पदार्थों का अधिक सेवन करना, ये पित्तज उन्माद के कारण हैं।

पित्तज उन्माद की सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणों से सचित हुआ प्रकुपित पित्त वेगवान् होकर अस्यमी दुर्बल मनवाले व्यक्ति के हृदय को दूषित कर उन्मत्त बना देता है।

पित्तज उन्माद लक्षण

१. बहुत क्रोध करना, आडम्बर खड़ा करना, अम्हिष्णु होना, नगा हो जाना।
२. लोगों को डराना-धमकाना और मारने-पीटने के लिए दौड़ा देना।
३. तेज चाल से चलना या भागना, उष्णता की अधिकता से व्याकुल होना।
४. शरीर का पीला पड़ जाना तथा शीतल जल, शीतल आहार और शीतल छाया चाहना, ये सब पित्तज उन्माद के लक्षण हैं।

कफज उन्माद निदान

१ लगातार कफवर्धक आहार-विहार का मेवन तथा २ निष्क्रिय पडे रहना ।

कफज उन्माद सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणों से प्रकुपित कफ पित्त से सयुक्त होकर हृदय को दूषित करके बुद्धिविश्रम, स्मृतिविश्रम और भनोविश्रम उत्पन्न करके उन्माद रोग को उत्पन्न करता है ।

कफज उन्माद के लक्षण

- १ कम बोलना, कम चलना-फिरना, कम उत्पात करना, अल्प चेष्टा करना ।
- २ अरुचि होना, मुख से लार टपकना, वमन का होते रहना ।
- ३ स्त्री-सहवास और एकान्त पसन्द करना तथा नीद का अधिक आना ।
- ४ नख-नेत्र-मूत्र एवं शरीर का श्वेत वर्ण का होना और भोजन कर लेने पर उन्माद का बढ़ना, ये कफज उन्माद के लक्षण हैं ।

सम्प्राप्तज उन्माद

यह तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाले कारणों से उत्पन्न होता है तथा यह तीनों दोषों के मिश्रित लक्षणों से युक्त होता है और अति भयकर होता है । यह विरुद्ध चिकित्सा-योग्य होने से असाध्य है ।

मानस^१ दुःखज उन्माद-निदान-सम्प्राप्ति-लक्षण

चोरो, राजपुरुषो (पुलिस आदि) शत्रुओं या अन्य हिसक प्राणियों से डरे होने के कारण, धन-जन के नाश से अथवा स्त्री-सभोग की अत्युत्कट अभिलाषा के पूर्ण न होने से भयङ्कर मानस उन्माद उत्पन्न होता है ।

मानस उन्माद से पीड़ित रोगी के मन में जो भी गोप्य या अगोप्य वात स्थिर होती है, उसे वह अज्ञान के वशीभूत (बदहवास) होकर बकता रहता है । इसी तरह कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी चेतनाशून्य हो जाता है ।

विषज^२ उन्माद

धूरुरा, मांग आदि विष अथवा अति मद्यपान करने से विष के प्रभाव से जो उन्माद होता है, उसमें रोगी के नेत्र लाञ्छ सुर्ख होते हैं, बल (ओज या उत्साह), डन्डियों की शक्ति और शरीर की कान्ति क्षीण हो जाती है । वह मुरझाया-सा दीखता है । उसका मुखमण्डल म्लान एवं श्याववर्णी (साँबला) होता है और वह कदाचित् वेहोश हो जाता है । शीघ्र चिकित्सा न होने पर मृत्यु का वरण कर लेता है ।

१. सु० उ० ६२।१२-१२ ।

२. सु० उ० ६२।१४ ।

भूतोन्माद भूतोन्माद निदान

१. देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस और पितृ ग्रहों का अपमान करना।
२. नियम, व्रत, पूजा, पाठ आदि अनुचित रूप से बिना विद्यान के करना।
३. पूर्वजन्म कृत पापकर्म और इस जन्म में किया गया पापकर्म।

भूतोन्माद में देवादि का प्रवेश^१

देव आदि ग्रह अपने अलौकिक गुण के प्रभाव से मनुष्य के शरीर को दूषित न करते हुए अदृश्य रूप से शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, जैसे शीशा में छाया और सूर्यकान्तमणि में सूर्य की किरणे प्रवेश कर जाती हैं।

देव, यक्ष आदि द्वारा उन्मादोत्पत्ति का प्रयोजन

उन्मादजनक 'देवादि' तीन प्रयोजनों से उन्माद उत्पन्न करते हैं—१ हिंसा (मारने के लिए), २ रति (मैथुन या प्रेम के लिए) और ३ अभ्यर्चना (पूजा कराने के लिए)।

हिंसा के प्रयोजन से कृत उन्माद के लक्षण

हिंसा के लिए उन्मत्त बनाया हुआ व्यक्ति—१ अग्नि में प्रवेश करता है, २ जल में डूबता है, ३ ऊपर से गड्ढे में गिरता है, ४. अपने शरीर पर शस्त्र, कोड़ा, लकड़ी, ढेला और मुक्के से प्रहार करता है और इसी प्रकार के अन्य प्राणधातक कार्य करता है। इसे असाध्य जानना चाहिए। रति और पूजा के लिए पकड़ने वाले यह साध्य होते हैं।

भूतोन्माद का पूर्वरूप

देवता, गी, नाह्यण एव तपस्त्वयों के मारने में रुचि होना, क्रोध होना, दूसरे के अपकार में मन लगना, बेचैनी, ओज-वर्ण-छाया-बल और शरीर का ह्लास होना, स्वप्न में देव आदि के द्वारा धमकाया जाना और प्रेरणा देना—ये भूतोन्माद के पूर्वरूप हैं।

भूतोन्माद के सामान्य लक्षण^२

मनुष्य की क्षमता से कही अधिक शरीर में बल, वीर्य (शक्ति), पौरुष, पराक्रम (मनोबल) का होना तथा मानवोत्तर ग्रहण-धारण-स्मरण-शास्त्रज्ञान-वचन एव व्यावहारिक ज्ञान का होना, ये भूतोन्माद के लक्षण हैं। इसमें उन्माद काल अनिश्चित रहता है।

^१ अदूषयन्त पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः ।

विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दपेणसूर्यकान्तौ ॥

—च० च० ९११८

^२ अमस्थवाग्निवक्तमवीर्यचेष्टो शानाद्रिविशानबलादिभिर्यै ।

उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥

—च० च० ९११७

१. देवोन्माद लक्षण

१ सौम्य दृष्टि, २ गम्भीर, ३ अक्रोधी, ४ अल्प निद्रा, ५. अल्प भोजन, ६. अल्प स्वेद, ७ अल्प मूत्र, ८ अल्प पुरीष, ९ अल्प अपानवायु, १० अल्प वाक्, ११ सुगन्धवान्, १२ अपराजेय, १३ श्वेताम्बर, १४ शुभ्रमाल्य, १५ सस्कृत वचन, १६ प्रफुल्ल मुखकमल एवं १७ नदीतट-पर्वतप्रान्त और उच्च भवन से रहना पसन्द करनेवाला होता है।

२. शापोन्माद लक्षण

गुरु, वृद्ध, सिद्ध, कृषि आदि के शाप अथवा मारण-मोहन-उच्चाटन के प्रयोग (अभिचार) या चिन्ता आदि से उत्पन्न उन्माद में शाप, अभिचार कर्म या चिन्ता के अनुरूप रोगी का आहार-विहार, रहन-सहन और व्यवहार होता है।

३. पितृ उन्माद लक्षण

१ अप्रसन्न दृष्टि, २ निमीलित नयन, ३ निद्रालु, ४ अवरुद्ध वाक्, ५ अन्नाभिलाषरहित, ६ अरोचकी और ७. अपच से ग्रस्त रहता है।

४ गन्धर्वोन्माद लक्षण

१ प्रसन्नचित्त, २ सदाचारी, ३ प्रसन्ननयन, ४ गीत-दृत्यप्रिय, ५ मुखवाद्यवादक, ६ स्नानप्रिय, ७ गन्ध-माल्यप्रिय, ८ रक्तवस्त्रधारी, ९ हास्यकथा-प्रेमी १० प्रश्नरुचि, ११ सुगन्धवान्, १२ जलमध्य-निवास तथा १३ वनप्रान्तनिवास का प्रेमी होता है।

५ यक्षोन्माद लक्षण

१ बार-बार सोना-रोना-हँसना-नाचना-गाना एवं बाजा वंजाना चाहता है।
२ स्तोत्रपाठ-कथा-स्नान-मालाधारण-इत्तलेपन आदि पसन्द करता है।
३ भोजन का प्रेमी होता है, ब्राह्मण एवं वैद्य की निन्दा करता है, अपना रहस्य बतलाता है।
४ आँखे लाल तथा सजल होती है।

६. राक्षसोन्माद लक्षण

१ नष्टनिद्र, २ अन्नपानद्वेषी, ३ भोजन न करने पर भी बलवान्, ४ शस्त्राभिलाषी, ५ रक्त-मासप्रेमी, ६ लाल वस्त्र एवं लाल माला का प्रेमी और ७ डरने वाला होता है।

७. ब्रह्मराक्षसोन्माद लक्षण

१ हँसी-मजाक करनेवाला, नर्तक, देव-ब्राह्मण एवं वैद्य, द्वेषी तथा तिरस्कर्ता।
२. स्तोत्रपाठ, वेदमन्त्रपाठ और शास्त्रवचनों का पाठ करने वाला।
३ लकड़ी के डण्डे से अपने शरीर को पीटनेवाला होता है।

८. पिशाचोन्माद लक्षण

१. चश्चल चित्त, अपने प्रसन्न का स्थान न पानेवाला, नाचने-नाने-हँसनेवाला ।
२. असंबद्ध एवं कभी नवद प्रलाप करनेवाला, फटे-कर्कण स्वरवाला, नग दोडनेवाला ।
३. गन्दे कूड़ा-कंकंट, गन्दी गली, मठिन वस्त्र एवं लकड़ी या पत्थर की ढेर पर बैठनेवाला ।
४. एक स्थान पर न रहनेवाला और अगले दु.यों को मध्यमे रहनेवाला ।
५. स्मरण-शक्तिहीन हाँकर इध-उधर दौट लगाता रहता है ।

असाध्य उन्माद लक्षण

१. जिस उन्माद के रोगी का गुष्ठमण्डल हमेणा नीचे की ओर ही रहे अथवा अदैव ऊपर ही लिया हुआ हो, ऐसी स्थिति में यदि उनका घर तथा मास क्षीण हो गया हो, तो वह असाध्य होता है ।

२. जिस उन्माद के रोगी को नीद विलकुल ही न आती हो, उसे असाध्य ममज्जना चाहिए ।

३. जो उन्मादी बड़ी-बड़ी जाँयों में तरेगना रहता है, वहुत तेज चाल से चलता है, मुँह से निकली गाज को चाटता रहता है, जिसे नीद आती रहती है, जो चलते-चलते गिर पड़ता है और काँपता रहना है, वह असाध्य होना है ।

४. उन्माद का जो रोगी पहाड़ से, हाथी से अथवा वृक्ष से गिरकर उन्माद से ग्रस्त हुआ हो, वह असाध्य होता है ।

५. उन्माद का रोग लगातार तेज वर्ष रक रहने पर असाध्य होता है ।

चिकित्सासूचि

माध्य उन्मादों की चिकित्सा निदान के विपरीत धौपघ और अन्नपान के सेवन से करे तथा विधिपूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों को करे—

१. स्नेहन-स्वेदन, वमन, विरेचन, आम्तापन, अनुवासन, नस्यकर्म ।
२. धूम, धूमन, अञ्जन, अवपीड (नाक में द्रव छोडना), प्रधमन (नाक में नस्य फूँकना) ।
३. मालिश, लेप, स्नान, चन्दनानुलेप (चन्दन का पतला द्रव शरीर में लगाना) ।
४. मारना-पीटना, वाँचना, अन्धेरे घर में बन्द करना, डराना, आश्रयचकित करना ।

१. अवाक्षी वाप्युदक्षी वा क्षीणमासबलो नर ।

जागरूको धूमन्देहसुन्मादेन विनश्यति ॥

—माधवनिदान

स्थूलाक्षो द्रत्मटन स फेनलेही निद्रालु पतनि च कम्पते च यो हि ।

यशाद्रिद्विरेदनगादिविच्युतः स्यात् सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाम्बदे ॥

—सु० उ० ६०।१६

५ विस्मारण (भुलवाना), उपवास, मिरावेध आदि आवश्यकतानुसार करे ।
६ दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय चिकित्सा करे^१ ।

७ बातज उन्माद में स्नेहपान करावे । यदि कफ और पित्त से वायु का मार्ग रुका हो तो स्नेह देकर मृदु वमन या विरेचन करावे ।

८ कफज और पित्तज उन्माद में स्नेहन-स्वेदन के बाद कफज में वमन और पित्तज में विरेचन करावे एवं शरीर शुद्ध होने पर संसर्जनक्रम से पथ्य देवे ।

९ पथ्य लेने पर रोगी जब सबल हो जाये, तब दोषानुसार निरूह, अनुवासन और शिरोविरेचन देवे ।

१० उद्धण्डता करने पर मन-बुद्धि और शरीर में उद्धेग उत्पन्न करने के लिए तीक्ष्ण नस्य, अञ्जन एवं ताढ़न का प्रयोग करे ।

११ आगन्तुक उन्माद में धृतपान, मन्त्र, मणिधारण, बलि, पूजा आदि का प्रयोग करे तथा दैवव्यपाश्रय, युक्तिपाश्रय और सत्त्वावजय, इन तीनों चिकित्सा विधियों का प्रयोग करे ।

१२ मानस दुःखज उन्माद में रोगोत्पादक कारणों के विपरीत चिकित्सा करे ।

१३ इष्ट वस्तु के नाश से या धनहानि से या चोरी होने से जिस रोगी का मनोविभ्रश हुआ हो, उसे नष्ट हुई वस्तु के सदृश वस्तु देकर तथा सान्त्वना और आश्वासन देकर उपचार करे ।

१४ काम को शोक से, शोक को हृष्ट से, भय को हृष्ट, ईर्ष्या तथा लोभ से, तथा ईर्ष्या और लोभ को सद्विचारों से जीतने का प्रयत्न करे ।

१५ रति (मनोवाञ्छित वस्तु की इच्छा या कामपिपासा) तथा पूजा लेने की इच्छा से अर्थात् इन दो प्रयोजनों से भूतग्रह पकड़ते हैं । इसलिए उनके अभिप्राय को समझकर तदनुकूल उपहार, बलि, पूजा आदि देकर मन्त्रजप करे और उपयुक्त औषध का प्रयोग करे ।

१६ अति उद्धत रोगी को नेवार की पट्टी से बाँधकर अँधेरे घर में डाल दे । उम घर में यदि कोई प्राणधातक सामान जैसे लोहे की छड़, लाठी आदि हो तो हटा दे । फिर उसे कृत्रिम सर्प आदि या कृत्रिम पुलिस दिखाकर भयभीत करे, धमकावे या हृष्ट, विस्मय आदि उत्पन्न कर उसके मन को एक दिशा में मोड़ने एवं एकाग्र करने का यत्न करे^२ ।

सामान्य औषध-चिकित्सा

चूर्ण—

१ ग्राही, ग्रन्थिपुणी, दूधिया वच, जटामभी, मीठा कूठ और असली —इन्हें सम्भाग में लेकर चूर्णकर २-२ ग्राम की मात्रा दिन में ३ बार गोदुग्ध से । वयवा —

^१ च० स० १५४ ।

^२ य. मस्तोऽविनये पद्मे. मन्यन्य सुहृदे. सुर्यैः । अपेत्तोऽकाषाये भरोध्यश्च तमोगृहै ॥

नन्नन् त्रामन दान दृष्टेण मान्त्वनं भयम् । विन्मयो विस्मृतेऽतीनयन्ति प्रकृतिं मन् ॥

—च० च० १५०-११

२ मीठावच, मीठाकूठ, पारमीक यवानी का समभाग में चूर्ण १-१ ग्राम दिन में ४ बार ग्राही त्वरन व मधु से । अथवा—

३ भारस्वर्त चूर्ण ३ ग्राम गोदुग्ध से ४ बार ।

४ सर्पगन्धा चूर्ण १-२ ग्राम गुलाब का फूल और मरिच उचित मात्रा में लेकर तीनों पीसकर चीनी मिला शर्वत बनाकर ऐसी दो मात्रा सबेरे-शाम देवे ।

५ इवेनकूप्पमाण्ट ४० ग्राम पीसकर शर्वत बनाकर प्रात न्याय दे ।

बदाय—

६ मीठावच, मीठाकूठ, शयपुणी, जटामसी, काली अनन्तमूल, मालकागनी-बीज, नव बरावर लेकर योटा दूट लें । इसमें से २० ग्राम लेकर बदाय बनाकर सबेरे-शाम पिलाये ।

७ सर्पगन्धा घनबटी—अनिद्रा हो तो रात में सोते वक्त १ ग्राम गोदुग्ध के साथ दे । इसे सबेरे-शाम और रात में १-१ ग्राम देना अच्छा है ।

८ उन्मादगजकेशरी—५०० मि० ग्रा० गोदृष्ट के भाय । ऐसी तीन मात्रा दिन में देनी चाहिए ।

९ चतुर्मुखरस—२५० मि० ग्रा०/१ मात्रा श्रिफला चूर्ण २ ग्राम और मधु से दिन में ३ बार दे ।

१० सूतशेखररस—२०० मि० ग्रा० तथा सर्पगन्धा चूर्ण ५०० मि० ग्रा०/१ मात्रा दिन में ३ बार गोदृष्ट और मिश्री से दें ।

११ भूतभैरवरस—२५० मि० ग्रा०/१ मात्रा दिन में ३ बार मधु से ।

१२ रसपर्णटी—२०० मि० ग्रा० शुद्ध धत्तूर बीज चूर्ण २५० मिलीग्राम मिलाकर सबेरे-शाम मधु से दे ।

१३ शिवात्मेल—इसकी मालिश और पान मधी तरह के उन्मादों में लाभप्रद है । शतधीत धृत का अभ्यग करे ।

१४ नस्य और अज्जन—शिरीपबीज, मुलहठी, हीग, लहसुन, तगरपुण्य, वच और कूठ—इन्हें समभाग लेकर बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य और अज्जन के रूप में प्रयोग करे ।

१५ सिद्धार्थक अगद—पीली सरसो, वच, हीग, करञ्जबीज, देवदारु बुरादा, मजीठ, हर्दे फल का छिड़का, बहेंडे के फल का छिलका, अर्वला, अपराजिता बीज, शिरीप की छाल, सोठ, पीपर, मरिच, प्रियगु, हल्दी और दारहल्दी—इस सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर, बकरे के मूत्र में पीसकर सुखाकर रख ले ।

इसका प्रयोग—(१) गोदुग्ध के साथ ३ ग्राम/१ मात्रा सबेरे-शाम पिलाना चाहिए, (२) वर्ती बनाकर नेत्र में अज्जन करे, (३) पिसे हुए ताजे रस का नाक में प्रक्षेप करे—अवपीड नस्य दे, (४) ताजे कल्क का शरीर में लेपन करे, (५) बदाय बनाकर बकरे का मूत्र मिलाकर स्नान करे, (६) इन्हीं द्रव्यों के

१५ का० तू०

कल्क मे सरसो का तेल मिलाकर उवटन लगाना चाहिए; (७) इन्ही द्रव्यो के कल्क और गोमूत्र के साथ पकाया हुआ धूत पूर्वोक्त सभी कार्यों मे प्रयोग-योग्य होता है ।

धूत—

१६. निज और आगन्तुज सभी उन्मादो मे इन धूतो का प्रयोग करे—कल्याण धूत, महाकल्याण धूत, महापैशाचिक धूत लशुनादि धूत, पञ्चगव्य धूत, महापञ्चगव्य धूत तथा हिंगवादि धूत । मात्रा का निवारण रोगी के बलावल के अनुसार करें ।

१७. विरेचन—सप्ताह मे २ बार रात मे सोते समय ५० ग्राम एरण्डतौल को आधा लीटर दूध मे पिलाकर विरेचन करायें ।

१८. सिरावेष—अति उम्रता, अनिद्रा या रक्तचाप की अधिकता मे सिरामोक्षण कराना चाहिए ।

व्यवस्थापन

१. दिन मे ३ बार—

उन्मादगजकेशरी	५०० मि० ग्रा०
वातकुलान्तक	५०० मि० ग्रा०
बृहदवातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
प्रवालपिण्ठी	५०० मि० ग्रा०
ग्राही स्वरस व मधु से ।	३ मात्रा

२. ९ बजे व २ बजे—

सारस्वत धूर्ण	६ ग्राम
गोदुख से ।	२ मात्रा

३. भोजन के बाद २ बार—

सारस्वतारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

४. रात मे सोते वक्त—

सर्पगन्धा धनवटी	१ ग्राम
गोदुख से ।	१ मात्रा

५. शिर मे मालिश—

हिमसागर तैल या पुराना धी अथवा शतधौत धूत ।

उन्मादमुक्त के लक्षण

मन एवं बुद्धि का व्यवस्थित रूप से कार्य करना, इन्द्रियो की अपने विषयो को अहूत करने मे ठीक डग से प्रवृत्ति, प्रसन्नता और सभी धातुओ का प्रकृतिस्थ होना, वे संशय उन्माद रोग से भुक्ति के परिवायक हैं ।

पथ्य^१

१. उन्माद का रोगी परिवार के जिन व्यक्तियों से या सम्बन्धियों से या भिन्नों से चिढ़ता हो, उन्हें उसके नामने आने से मना करे ।

२. अपरिचित लोग उसे औपचार्य, सेवा-शुश्रूपा करे या आवश्यक होने पर धैर्य धारण करायें, आभासन दे अथवा डरायें-धमकायें ।

३. उन्मादी के समक्ष भीड़ न होने दे और ऐसे लोग सामने न जायें, जो उसे उत्तेजित करे या नवाल-जवाब करे या चिढ़ायें ।

४. रोगी को शान्त-एकान्त एव स्वच्छ स्थान मे रखें और उसे प्रातः-साय स्नान-अभ्यग करायें । रात्रि मे एरण्ड स्नेह का विरेचन दे ।

५. भोजन मे—पुराना चावल, पुराना गेहूं, जो, साठी का चावल, मूग की दाल, गोदुग्ध, नवीन या पुराना घृत, परवर, लौकी, पेठा, चौलाई, वयुआ, मुनक्का, किसमिश, अनार, नन्तरा, मोसम्मी, अनन्नास, कटहल, अजीर, नारियल, आम, मोर का माम, काष्ठुए का माम, जागल पञ्च-पक्षियों का भाव, कोयल का भास—ये सब पथ्य हैं ।

अपथ्य^२

मद्यपान, विरोधी आहार, अधिक मास खाना, भैस का दूध, उष्ण पेय और भोजन, भूख-प्यास एव निद्रा के वेग को रोकना, अधिक नमक, सरसो का तेल, ममाला, अचार, भरवा भरचा तथा तीक्ष्ण-उष्ण द्रव्यों का सेवन करना अपथ्य है ।

अपस्मार

परिचय—स्मरण-शक्ति, बुद्धि और मन के विभ्रम से वीभत्स चेष्टायुक्त होकर कदाचित् अन्धकार मे डूबते हुए की तरह ज्ञानशून्य होने को अपस्मार कहते हैं ।

शरीर का काँपना, मुख से झाग निकलना, आँख नचाना, हाथ-पैर पटकना, फिर वेहोश होकर दूटे वृक्ष की तरह गिर पड़ना अपस्मार है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१. चरकसहिता-निदान० अ० ८ ।

२. „ चिकित्सा० अ० १० ।

३. सुश्रुतसहिता-उत्तरकान्त्र अ० ६१ ।

^१ गोधूमसुदग्गारुणशालयश्च धारोण्डुग्थ शतधीतसप्ति ।

घृत नवीन च पुरातन च कूर्मामिष्ठं पञ्चरसा रसाला ॥

पुराणकूर्माण्डफलं पटोलं ब्राज्ञीदर्लं वास्तुकतण्डुलीयम् ।

द्राक्षा कपितर्थं पनस च वैद्यविधेयमुन्मादगदेषु पथ्यम् ॥

—यो० २०

^२ निष्ट्रितामिषमध्यो यो हिताशी प्रयत्नं शुचि । निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥

—च० चिं० ११६

४ अप्टाङ्गहृदय-उत्तरस्थान अ० ७ ।

५ माधवनिदान-अपस्मार निदान ।

‘निवेदन’—‘अपशब्दो गमनार्थः, स्मारः स्मरणम्, अपगतः स्मारो यस्मिन् रोगे सोऽपस्मार’ (डल्हणः) । अर्थात् व्यतीत एव अनुभूत घटनाओं का स्मरण न होना अपस्मार कहलाता है ।

निदान

१. इन्द्रियार्थों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ता) तथा कायिक, वाचिक एव मानसिक कर्मों का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग ।

२. सयोग-देश-काल आदि के विरुद्ध, मलिन, दूषित, दुर्बन्धित और अपवित्र आहार का सेवन ।

३. विधि-विपरीत एव मलिन विहार करना ।

४ धारणीय वेगों को धारण न करना और अधारणीय वेगों को रोकना तथा मन का रज एव तम से आक्रान्त होना ।

५ रजस्वला स्त्री के साथ सभोग करना ।

६ काम-क्रोध-भय-शोक-उद्वेग आदि से मन का प्रताडित होना ।

७ वातादि दोषों की विषमता, विषम चेष्टा, शरीर की क्षीणता, सदबृत्त का पालन न करना आदि अपस्मार के कारण होते हैं ।

सम्प्राप्ति^२

पूर्वोक्त विरुद्ध आहार, मलिन विहार, इन्द्रियार्थों के अयोग-अतियोग-मिथ्यायोग, वेगावरोध, वातादि दोष-प्रकोपक कारण तथा चिन्ता-शोक आदि मानस भावों द्वारा रज-तम के सवर्धन से प्रकृष्टित हुए दोष हृदय (मस्तिष्क) के स्रोतों (मनोवह स्रोतों) से एव धमनियों द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त होकर हृदयस्थ (मस्तिष्क में स्थित) मन को क्षुब्ध कर स्मृति का विनाश कर देते हैं और आक्रान्त व्यक्ति अज्ञानान्धकार में डूबने जैसा अनुभव करता हुआ एव हस्त-पाद प्रक्षेपण और आँख नचाना आदि बीभत्स चेष्टाओं को करता हुआ जमीन पर गिर पड़ता है, जिसे अपस्मार रोग कहते हैं ।

१ (क) स्मृतेरपगम प्राहुरपस्मारं भिषविदः ।

—च० च० १०१३

(ख) स्मृतिर्भूतार्थैविज्ञानमपस्तत्परिवर्जने । अपस्मारं इति प्रोक्तः ० ॥

—सु० उत्तर० ६१

(ग) स्मृत्यपायो ह्यपस्मारः ।

—अ० ६० उ० ७

(घ) भूतार्थज्ञानापस्मरणादय व्याधिरपस्मारं इति प्रोक्तः (डल्हणः) । —सु० उ० ६१

२. संज्ञावहेषु स्रोत सु दोषव्याप्तेषु मानवः ।

रजस्तम् पर्वतेषु मृदो आन्तेन चेतसा ॥

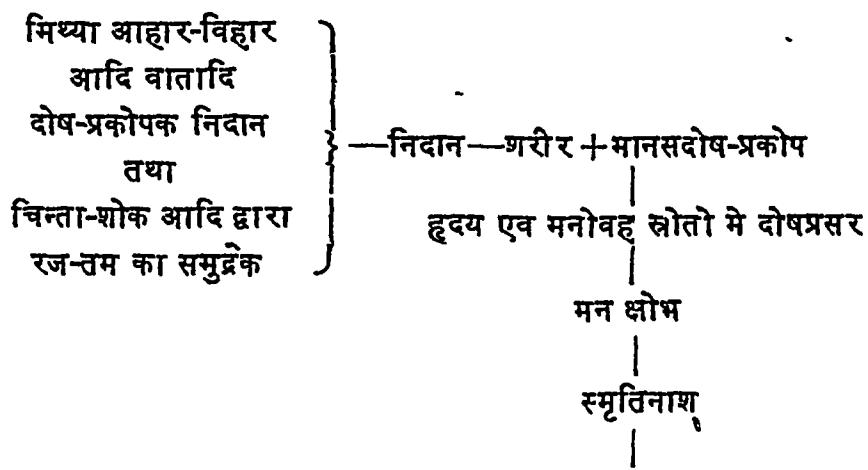
विक्षिप्तं इत्तपाद च विजिहाश्रुविलोचनं ।

दन्तान् खादन् वमन् फेन विवृताक्षं पतेत् क्षितौ ॥

—सु० उत्तर० ६१।८-९

उन्मादापस्मारादि रोग
 [अनुभव]
 सम्प्राप्ति-सारणी

२२९



अपस्मार रोग की उत्पत्ति ←— तम प्रवेश एवं बीभत्स चेष्टा के बेग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान-स्रोतस्

दोष — वातादि शारीर तथा रज-तंत्र मानस दोष ।

दूष्य — हृदय (मस्तिष्क) स्थ मन ।

अधिष्ठान — हृदय एवं मनोवह स्रोत ।

स्रोतस् — मनोवह स्रोतस् ।

पूर्वरूप

१. हृदय में कम्पन (Palpitation of heart), २. हृदय में शून्यता का अनुभव ३. पसीना आना, ४. ध्यानमन्त्र होना, ५. मूर्च्छा, ६. मन एवं इन्द्रियों की क्रियाहानि और ७. निद्रानाश होना — ये अपस्मार के पूर्वरूप हैं ।

सामान्य लक्षण^१

१. तम प्रवेश का अनुभव — आँखों के समक्ष अँधेरा-सा छा जाना ।

२. सरम्भ — भयानक रूप बनाना, आँख नचाना, हाथ-पैर पटकना, टेढ़ा मुख करना आदि ।

३. पूर्व के अनुभूत तथा वर्तमानकालीन स्मरण का विनाश होना ।

४. प्रलाप करना, अव्यक्त (छू-छू शब्द) ध्वनि करना और क्लेश ।

५. मनोविभ्रम, सहसा गिर पड़ना, जिह्वा, भौह और आँखों की चञ्चलता ।

६. मुख के बाहर लार गिरना, हाथ-पैर पटकना, आँखों से पानी आना ।

१०. (क) तम प्रवेश, सरम्भों दोषोद्रेकहतस्मृते । अपस्मार इति शेयो गदो घोरश्चतुर्विध ॥

—मा० नि०

(ख) च० च० १०७-८ ।

(ग) सु० उ० ६११६

७ दोषवेग के समाप्त होने पर ऐसे उठना जैसे सोकर उठा हो—ये लक्षण होते हैं।

अपस्मार का वेग आने का समय

प्रकुपित वातादि दोष १२-१२ दिनों पर या १५-१५ दिनों पर अथवा एक-एक महीने पर या कभी-कभी उक्त अवधि के बीच-बीच में ही अपस्मार के वेगों को उत्पन्न करते हैं। जब धमनी और सिराओं द्वारा दोष (सचित होकर) हृदय में आ जाते हैं, तो हृदय व्याकुल हो उठता है और अपस्मार का वेग हो जाता है।

अपस्मार के भेद

१ वातज, २. पित्तज, ३ कफज और ४ सश्चिपातज भेद से यह चार प्रकार का होता है।

वातज अपस्मार लक्षण

१ अपस्मार के दौरे के पहले रोगी अपने सामने की वस्तुओं को रुक्ष, अरुण और कृष्ण वर्ण का देखता है।

२ वेगागमन वेला में रोगी का शरीर काँपता है और वह दाँतों को किट-किटाता है।

३ उसके मुख से फेन निकलता है और श्वास की गति तीव्र हो जाती है।

पित्तज अपस्मार लक्षण

१ वेग के आने के पूर्व सभी दृश्य पदार्थ पीले या लाल रंग के दीखते हैं।

२ शरीर के अग, मुख, नेत्र और मुख से निकलने वाला फेन पीला होता है।

३ वेग समाप्त होने पर प्यास और गर्भी अधिक महसूस होती है।

४ वह ससार की प्रत्येक वस्तु को जलती हुई देखता है।

कफज अपस्मार लक्षण

१ रोगी सभी वस्तुओं को श्वेतवर्ण का देखता है।

२ उसके मुख से निकलनेवाला फेन, उसके नेत्र, मुख और अङ्ग श्वेत होते हैं।

३ शरीर शीत, रोमाञ्चित और भारी रहता है।

४ अपस्मार का दौरा देर तक बना रहता है।

सश्चिपातज अपस्मार लक्षण

यह तीनों दोषों के प्रकोपज लक्षणों से युक्त होता है।

असाध्य अपस्मार लक्षण

१ सन्निपातज तथा दुर्बल व्यक्ति का एवं पुराना अपस्मार असाध्य होता है।

२ जिस रोगी को बार-बार आक्षेप आते हो, वह असाध्य है।

३ जो क्षीण हो, जिसकी भाँहें ऊपर चढ़ी हो और जिसकी आँखें भी विकृत हो, वह असाध्य होता है।

सापेक्ष-निवान

अपस्मार		योवापस्मार
१. इसका आक्रमण तीव्र वेग से होता है ।	१	इसका आक्रमण अधिक तीव्र वेग से नहीं होता ।
२. यह सोते समय भी हो सकता है ।	२	यह सोते समय कभी नहीं होता ।
३ इसका आक्रमण एकान्त या समूह की अपेक्षा नहीं करता है ।	३	इसका आक्रमण कुछ सहायकों के पास रहने पर ही होता है ।
४ आक्रमण होने पर गर्दन और नेत्र टेढ़े टेढ़े हो जाते हैं ।	४.	वेग आने पर गर्दन और नेत्र टेढ़े नहीं होते ।
५ रोगी अचानक भूमि पर गिर जाता है और उसे चोट लग जाती है ।	५	रोगी सावधानी से गिरता है और उसे चोट नहीं आती ।
६ कभी-कभी दाँतों से जीभ कट जाती है ।	६	जीभ कभी नहीं कटती ।
७. अनन्त्राहे मल-मूत्र त्याग हो जाता है ।	७	इसमें ऐसा नहीं होता ।
८ आक्रमण प्राय निश्चित समय पर ।	८	आक्रमण का समय निश्चित नहीं ।
९ गर्भाशय से सम्बन्ध नहीं रहता ।	९	गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है ।
१० मूर्छा निद्रा में बदल जाती है ।	१०	शीघ्र होश आ जाता है ।

अपस्मार		मूर्छा
१ आक्रमण अतिशीघ्र प्रारम्भ होता है ।	१	आक्रमण धीरे-धीरे होता है ।
२ इसका पूर्व इतिहास मिलता है ।	२	पूर्व इनिहास मिलना आवश्यक नहीं ।
३ इसमें अंखें फिरी हुई मिलेगी ।	३	अंखें फिरी हुई नहीं होगी ।
४. मुख से फेन निकलता है ।	४	फेन नहीं निकलता ।
५ शरीर गरम रहता है ।	५	शरीर ठण्डा रहता है ।
६ इसका निश्चित कारण नहीं दिखाई देता ।	६	कारण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।
७ इसमें हृलास और आध्मान नहीं होता ।	७	इसमें हृलास और आध्मान होते हैं ।
८ अगो में आक्षेप होता है ।	८	आक्षेप नहीं होता ।

चिकित्सासूत्र
सशोधन

- दोष के अनुसार तीक्ष्ण सशोधन और सशमन चिकित्सा करनी चाहिए ।
- दोषजन्य अपस्मार के साथ यदि आगन्तुक (भूतादिकों का) सम्बन्ध हो तो दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय एव सत्त्वावजय चिकित्सा यथावश्यक करे ।
- स्नेहन, स्वेदन, दमन, विरेचन, शिरोविरेचन और वस्ति देकर सशोधन

करे। वारज में वस्ति, पित्तज में विरेचन और कफज अपस्मार में वमन-प्रधान चिकित्सा करे।

४ पुराने धृत का पान और अभ्यङ्ग करना कल्याणकारक है। १

५ कट्टफल की छाल के सूक्ष्म चूर्ण का प्रधमन देने से रोगी सद्य होश में आ जाता है।

६ नासिका के भीतर रुई की बत्ती का स्पर्श कराने से वेहोशी दूर हो जाती है।

७ सावधानी—अपस्मार के रोगी और उसके परिचारक को सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह जल-अग्नि के निकट तथा वृक्ष और पहाड़ पर न जाये, क्योंकि वेग आने पर इनसे रोगी की दुर्घटना हो सकती है।

८ रोगी को इस वार का पूर्ण आश्रासन देना चाहिए कि यह रोग एकदम ठीक हो जायेगा।

चिकित्सा

(बाह्य उपचार)

१ नस्य और अञ्जन—मुलहठी, हींग, वच, तगर, शिरीषबीज, लहसुन और कूठ को समझाग लेकर, वकरी के मूत्र में भावना देकर सुखा ले। इसका नस्य दे तथा गोली बनाकर रख ले और घिसकर अजन करे।

२ चूना और नौसादर समान भाग में लेकर अलग-अलग महीन कर छोटी सीसी में डालकर हिलाकर मिला दे और २-४ बूँद पानी डाल दे। इसका नस्य देने से तुरन्त होश हो जाता है।

३ पुष्पनक्षत्र में निकाला हुआ कुत्ते के पित्त का अञ्जन लगाना लाभकर है।

४ मैनसिल, मुलहठी और काले कबूतर का बीट समझाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर ३-४ बूँद नाक में डाले या वर्ती बनाकर अजन लगाये।

५ अभ्यङ्ग—शिर में शतधीत धृत, विष्णुरैल, हिमाशुरैल या कैन्थरायडिन की मालिश करे। सपूर्ण शरीर में कट्ट्यादि या पलङ्ग्यादि अथवा चतुर्गुण बकरे के मूत्र में सिद्ध किये हुए सरसो के तेल की मालिश करनी चाहिए।

६ उबटन और स्नान—बकरे के मूत्र में पिसी हुई सरसो का अथवा काली तुलसी, कडवा तेल, हर्षा, जटामसी और शख्पुष्पी को समझाग लेकर गोमूत्र में पीसकर उबटन लगाये और गोमूत्र से स्नान कराये।

७ धूपन—पलङ्ग्यादि रैल (च० चि० १०।३४-३६) के प्रक्षेप की औषधों को जलाकर रोगी के शरीर में उसका धूआँ लगाना चाहिए।

८ धारण—गले में रुद्राक्ष की माला पहने या उदसलीब (यूनानी बूटी) काले धागे में बांधकर गले में पहने।

संशमन : आभ्यन्तर प्रयोग

९ अधर्यर्थ अमूल्य प्रयोग : सर्वोत्तम औषध—प्रात द बजे और सायं ६ बजे

राजा गर्दभी मूत्र २५ मि० ली० की मात्रा में रोगी को पिलावे । यदि दोनो समय न मिले तो एक ही समय दे । इसे गहरे नीले या लाल (ब्राउन) रंग की शीशी में रखे और शीशे के रगीन गिलास में चटपट ढाले और पिला दे । रोगी को हरगिज पता न चले, नहीं तो लात मारेगा । उधर गर्दभी के पादप्रहार से सुरक्षा रखे । मूत्र की प्राप्ति धोबी या कज्जर से करे ।

१० दूधिया बच का चूर्ण २ ग्राम और रससिन्हर २०० मि० ग्राम/१ मात्रा ऐसी ४ मात्रा ३-३ घण्टे पर मधु से देवे ।

११ श्वेतकूष्माण्ड बीज १ ग्राम और मुलहठी चूर्ण १ ग्राम पीसकर प्रात -साय पिलाये । पथ्य में दूध-भात दे ।

१२ ब्राह्मी की पत्ती या मण्डूकपर्णी की पत्ती का स्वरस १०-२० मि० ग्रा० मधु के साथ पिलाये ।

१३ शतावर १० ग्राम दूध में पीसकर सबेरे-शाम पिलावे ।

१४ कल्याण अवलेह या सारस्वत चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में पञ्चगव्य धृत १० ग्राम के साथ प्रात -साय दे ।

१५ मास्यादि क्वाय (सिद्धयोगसग्रह यादवजी) ५० मि० ग्रा० प्रात साय दे ।

धृत—

१६ ब्राह्मीधृत, कूष्माण्डधृत, पञ्चगव्यधृत, कल्याणधृत, चैतसधृत, क्षीरकल्याण धृत—इनमें जो भी उपलब्ध हो, उसे १०-१५ मि० ग्रा० की मात्रा में गोदुग्ध के साथ प्रात -साय दे ।

सिद्धयोग-रस-रसायन

१७ स्मृतिसागर रस, २०० मि० ग्रा०/१ मात्रा, धृत या मक्खन से प्रात -साय दे ।

१८ भूतभैरव रस ३०० मि० ग्रा०/१ मात्रा, शखपुष्पी चूर्ण १ ग्राम और मधु से दिन में २ बार दे ।

१९ चतुर्भुज रस १२५ मि० ग्रा० और प्रवालपिष्ठी २५० मि० ग्रा० मक्खन-मिश्री के साथ प्रात -साय दे ।

२० भोजन के बाद सारस्वतारिष्ट या अश्रगन्धारिष्ट २०-२० मि० ली० समान जल के साथ दे ।

२१. ब्राह्मीवटी २५० मि० ग्रा० मधु से, तत्पञ्चात् मास्यादि क्वाय, प्रात -साय दे ।

२२ बातकुलान्तक रस २५० मि० ग्रा० मधु से प्रात -साय दे ।

२३. योगराज (च० च० १६) १ ग्राम/१ मात्रा, प्रात -साय गाय के दूध के साथ देने से विशेष लाभ होता है ।

व्यवस्थापन

१ प्रात भाय—

मृत्युतिसागर रग	२५० मि० ग्रा०
याहगुल्लान्तक	५०० मि० ग्रा०
श्राद्धीयटी	२५० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

वनचूर्ण ५०० मि० ग्रा० और गयु मे।

२ ९ बजे और २ बजे दिन—

पश्चागच्छ पृष्ठ	२५ ग्राम
गोदुध के माय।	१ मात्रा

३ भोजन के वाद २ बार—

मारम्बतारिष्ट	५० मि० ग्री०
ममान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. रात मे नोते भयय—

आरोग्यवर्धिनी	१ ग्राम
गोदुध मे।	१ मात्रा

५ शिर मे मालिश—

हिमाणु या हिममागर तैल की।

पथ्य

पुराना महीन चावल, गेहूँ, जी, परखर, बथुआ, नफेद कोहडा, सहिजन, चौकी, पका टमाटर, गोदुध गोधृत, डाम, मुनब्ला, अंगूर, किशमिश, अनार, रालसा, आंवला, सेव, मुसम्मी, मन्तरा, अनधाम, जांगल जीवो का भास, धनिया, जीरा, सौंफ, लघु एव पवित्र भोजन, ताजे फल, ताजे जल से स्नान, शीतल तैल से शेरोभ्यञ्ज आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

गुरु एव विरुद्ध भोजन, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मद्यपान, मछली, पत्तो वाला शाक, मुन्दरू, मैथुन का वेग रोकना, क्षुधा-प्यास के वेग को रोकना, पूज्यो का तिरस्कार, चन्ता, शोक, भय, क्रोध, रात्रि-जागरण, अतिक्रम और अपवित्र भोजन आदि प्रथ्य हैं।

अतत्वाभिनिवेश

परिचय—तत्त्व का अर्थ तथ्य या वास्तविक होता है अर्थात् जिसका अस्तित्व होता है। तत्त्व के अभाव को अतत्त्व (अतथ्य अवास्तविक—जिसका अस्तित्व न हो) कहते हैं। उसके प्रति अभिनिवेश अर्थात् दृढ़ आग्रह को अतत्वाभिनिवेश

कहते हैं। इस प्रकार अतत्त्वाभिनिवेश वह मानसरोग है, जिसमें रोगी की बुद्धि विपरीत हो जाती है और नित्य को अनित्य तथा अनित्य को नित्य समझता है, एवं हित को अहित और अहित को हित समझ बैठता है। यह एक हठी प्रज्ञापराध है, जिसमें बुद्धि-स्मृति और धैर्य का विभ्रश हो जाता है।

निदान

१ आहार-विधि के विपरीत तथा सयोग-देश-कालादि के विरुद्ध दूषित आहार का लगातार प्रयोग करना।

२ मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकना और धारणीय लोभ-ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर क्रोधादि वेगों को न रोकना।

३ शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष आदि गुणयुक्त पदार्थों का अतिसेवन करना।

सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणों से प्रकुपित वातादि दोष रज और मोह से आच्छन्न मन वाले व्यक्ति की मनोवहा और बुद्धिवहा सिराओं में जाकर हृदय को दूषित कर वहाँ स्थानसंशय कर लेते हैं। रज और तम के बढ़ जाने पर जब बुद्धि और मन इन मानसिक दोषों से आवृत हो जाते हैं तब दोषों के प्रकोप से हृदय व्याकुल हो जाता है। ऐसी स्थिति में रोगाक्रान्त व्यक्ति कर्तव्य-अकर्तव्य विचारशून्य हो जाता और उसकी चेतना क्षीण हो जाती है। इसे ही अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं। इसे महागद कहा जाता है।

लक्षण^१

इस रोग के होने पर रोगी की बुद्धि विषम हो जाती है, जिससे वह नित्य को अनित्य, अनित्य को नित्य, हित को अहित और अहित को हित समझने लगता है। इस रोग में मनुष्य की बुद्धि का महान विभ्रम या विपर्यास हो जाता है और यह रोग आ जाने पर रहने की जिद पर अड़ा रहता है। कदाचित् जाता भी है तो पुन आने का वादा करके।

वक्तव्य—ऐमा रोगी शरीर में तो स्वस्थ रहता है, किन्तु व्यर्थ की चिन्ताओं से उद्विग्न रहता है। उम्मा का मन कब और कहाँ टपक पड़ेगा, कोई कल्पना नहीं कर सकता। इस रोग में विवेक का ह्लास हो जाता है, बुद्धि और स्मृति का विभ्रम हो जाता है, जिसे मिथ्या स्मृति या मिथ्या ज्ञान कहते हैं। यह डिस् आर्डर ऑफ मेमोरी (Disorder of memory) है। यह सविभ्रम (Paranoia) है, जिसमें आक्रान्त पुरुष का मानसपटल भ्रम से परिपूर्ण हो जाता है। ‘आयुर्वेद-विज्ञान’ ग्रन्थ में एक इसी रुक्ष के रोग का वर्णन आया है, जिसे अपदार्थगद^२ या गदोद्वेग कहा गया है।

१ विषमा कुरुते बुद्धि नित्यानित्ये हिताहिते। अनत्त्वाभिनिवेश त प्राहुरासा महागदम् ॥

—च० च० १०६०

२ अद्भुतस्य गदस्यास्यास्य लक्षणान्यद्भुतानि च। कोऽप्येव मन्यते नूनमुदर भुजगोऽविशत् ॥

कोषे भ्रमत्यसो नित्य भुद्के यद्भुज्यते मया। निर्यास्यति पथा केन केनोपायेन नड़क्षति ॥

चिकित्सासूत्र

१ विधिवत् स्नेहन-स्वेदन करने के पश्चात् दोपानुसार वमन-विरेचन-निरुद्ध-अनुवासन एव नस्य का प्रयोग कर शरीर का सशोधन करायें।

२ सशोधन के बाद पेया-चिलेपी आदि के क्रम से ससर्जन-क्रम से पथ्य हैं।

३ तदनन्तर जीवनीयगण, ब्राह्मी-चच-शखपुष्पी-जटामसी-शतावर आदि मेघ्य द्रव्यों से स्स्कृत धृत-दुग्ध निर्मित बुद्धिवर्धक आहार है।

४ रोगी के आत्मीय, हमदर्द, यथार्थ वक्ता, इष्ट-मित्र तथा सहानुभूति रखनेवाले प्रेमीजनों को चाहिए कि उसके रोग को झूठा न कहे और उससे कोई शिकायत अथवा उद्वेजक बात न करे।

५ शुभचिन्तकों को चाहिए कि रोगी के साथ कुछ समय बैठे और उसके मन को प्रफुल्ल बनाने वाली मनोरञ्जक वार्ता करे। रोगी को ढाढ़स बेधाये, उसकी स्मृति को जगाये और उसकी चित्तवृत्ति को एकाग्र बनाने की चेष्टा करें।

६ समझाना, आश्रामन देना, स्नेह प्रकट करना, प्रसन्न रखना, सन्तुष्ट करना और तृप्तिकारक आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए।

७ धर्म, अर्थ, श्रेष्ठ कथा-वार्ता और ज्ञान-विज्ञान की बाते करके रोगी का मनोविनोद करना चाहिए।

८ दीपन, पाचन, पित्तनाशक, वातानुलोमन, रुचिकर, मनपसन्द, सुपाच्य और पौष्टिक भोजन खिलाना चाहिए।

चिकित्सा'

१ ब्राह्मीचरस २० ग्राम को पञ्चगव्यधृत २० ग्राम के साथ प्रात्-साय दे।

किं विधास्यति न जाने दश्ये वाऽहं दुरात्मना। कोऽपि वा मनुते भेको ममैको मूर्धिन सस्थित॥
विधृयति मस्तिष्क मोहयिष्यति मा प्रवृद्ध। कोऽपीत्य चिन्तयेचित्र काय. काचमयो मम॥
सज्जातोऽयमतो रक्ष्य. सदाऽवातात् प्रयत्नत। इत्येव बहुरूपाभिर्व्यर्थचिन्ताभिराकुल॥
अपदार्थगदो शुष्येत् सदाभीतः सदाऽसुखी। बहुधा बोधितोऽयेष सान्त्वतोऽपि पुनः पुनः॥
चित्ताद्भ्रम न शक्नोति दूरैकर्तु न साध्वसम्। यश्चास्य कथयेद्भ्रान्ति तस्मै द्रव्यात् नित्यश।॥
प्रीयते च गदोद्देगी व्याधे. सत्त्वात्मवादिनि। गदोद्देगवता कोष्ठे कर्स्मश्चिदनुभूयते॥
सुतीत्रा वेदना प्राय पाककोष्ठे विशेषत। जिहा स्यात् कफलिसास्य पूति. शासो निरेति च॥
उत्क्लेशश्च तथा चान्तिरित्यब्ज जीर्णलक्षणम्। प्रायर्थं स्पर्शशक्तेश पाण्डुत्वमुदराभय॥
हृदि साहृतिको व्याधि. केन वाऽप्यनुभूयते। गदोद्देगवताऽन्येन पुरुषत्वस्य सद्क्षय॥
ज्वर. सततकोऽन्येन दुष्प्रतीकार्य एव च। किमार्थं वेपनाथ जायते च तदा तदा॥
एव बहुविधाकारा व्याधय. कल्पनाकृता। भ्रमरूपा प्रजायन्ते नि.सत्त्वानाममेधसाम्॥
शक्यन्ते व्याधयो वक्तु नैते निरवशेषत। बुद्धिमद्विरक्षणीया यथास्व दोषलक्ष्म च॥

—आयुर्वेदविज्ञान

१. 'प्रयुज्ज्यात्तैललग्नुन पथसा वा शतावरीम्। ब्राह्मीरस कुषरस वचा वा मधुसयुताम्॥

सुहृदश्चात्तुकूलास्तं स्वासाधर्मार्थवादिन। सयोजयेयुविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि॥

—च० चि० १०६३-६४

- २ शखपुष्पीस्वरस २० मि० ली० मधु के साथ सबेरे-शाम दे ।
- ३ मण्डूकपर्णीस्वरस अथवा गुडूची स्वरस २० मि० ली० प्रात्-सायं दे ।
- ४ लहसुन के १० ग्राम कल्क मे १० मि० ली० तिल-तैल मिलाकर सबेरे-शाम दे ।
- ५ शतावर का कल्क १० ग्राम गोदुरघ के साथ प्रात्-सायं दे ।
- ६ मीठे कूठ का चूर्ण ३ ग्राम/१ मात्रा मधु से दिन मे २ बार दे ।
- ७ मीठाबच चूर्ण २ ग्राम/१ मात्रा दिन मे ३ बार देना चाहिए ।
- ८ सिद्ध औषधें—ब्राह्मीवटी, स्मृतिसागर, वातकुलान्तक, योगेन्द्ररस, चिन्तामणिचतुर्मुख, प्रवालपचामूर्त आदि योग्य मात्रा एव अनुपान से दे ।

व्यवस्थापन

१ प्रात्-सायं—

स्मृतिसागर रस	२५० मि० ग्रा०
ब्राह्मीवटी	२५० मि० ग्रा०
योगेन्द्र रस	२५० मि० ग्रा०
बच चूर्ण १ ग्राम और मधु से ।	२ मात्रा

२ भोजन के पूर्व २ बार—

यवानीषाढव चूर्ण	६ ग्राम
विना अनुपान ।	२ मात्रा

३ भोजन के बाद २ बार—

अश्वगन्धारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

४ रात मे सोते समय—

अविपत्तिकर चूर्ण	३ ग्राम
गोदुरघ से ।	१ मात्रा

५ अभ्यङ्ग—

शिर मे विष्णु तैल या हिमाशु तैल या शतधौत घृत और शरीर मे नारायण तैल या चन्दनादि तैल ।

परायन

अपस्मार मे कथित पथ्य-अपथ्य के समान जानना चाहिए ।

मनोविक्षिप्ति

(Psychosis)

परिचय—यह एक गम्भीर परिस्थिति है । जब कोई व्यक्ति अपने मानसिक सवेगो की उथल-पुथल या अस्त-व्यस्तता होने से पागलो जैमा आचरण करने लगता

है, तो उसे अपनी सुध नहीं रहती। वह अपने दैनन्दिन क्रियाकलापों के सम्पादन में लापरवाह हो जाता है और अपनी देख-रेख करने में अक्षम हो जाता है तथा सामाजिक व्यवहार के निर्वाह करने में असमर्थ होता है, तो इसे 'मनोविज्ञिति' कहते हैं।

लक्षण

१ रोगी का विवेक श्रष्ट हो जाता है और उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। वह व्यस्त सड़क के बीच में सो जायेगा, अपने कपड़ों का चिथड़ा कर छोटे रूमाल बनाकर पैरों में, हाथों में, शिर में और जगह-जगह बौद्धकर अपने शरीर को सुसज्जित करने लगेगा। कभी मिट्टी का घड़ा फोड़कर उसका हैट बनाकर शिर पर रखेगा, चौराहे पर भाषण देने लगेगा, किसी को गालियाँ देगा, किसी को दौड़ा देगा और हमेशा धूमता-फिरता बैचैन दीखलाई देगा।

२ कभी गीत गायेगा, हँसेगा, नाचेगा, अभिनेता बनेगा, अभिनेत्री बनेगा। व्यर्थ की बिना ताल-मेल की बात करेगा। उसे देखकर कोई भी व्यक्ति विक्षिप्त समझ लेगा।

३ उसे नीद नहीं आती। वह अपने चारों ओर अनुपस्थित भय एवं आतङ्क का वातावरण देखेगा। अपने मित्रों, सगे-सम्बन्धियों से चूँछेगा। उसे उनसे अपने जान-माल के हरण की आशङ्का बनी रहती है।

४ कानूनी दृष्टि से उसकी बात या उसकी कोई कार्यवाही प्रामाणिक नहीं मानी जाती। क्योंकि उसका विवेक श्रष्ट हो गया होता है। रोग के बढ़ जाने पर उसका मनोध्रेश हो जाता है, जिसे डिमेन्शिया (Dementia) कहते हैं। वह नहीं समझता कि आग की लपट में हाथ डालने से जल जायेगा, बिजली का नगा तार छूने पर मर जायेगा या गहरे पानी में डूबने से मृत्यु हो जायेगी इत्यादि।

५ यह रोग अनेक मानसरोगों का समूह है। इसमें रोगी का मन इतना दूर जाता है कि वह यह मान बैठता है कि यह रोग सारी जिन्दगी बना रहेगा।

६ रोगी निष्क्रिय, आत्मकेन्द्रित, एकान्त-प्रेमी और किसी प्रकार की गतिविधि और कार्य करने की प्रवृत्ति से विहीन होता है।

७ उसमें कभी उत्तेजना होती है, जिसके बीच में मोहावस्था अथवा निद्रावस्था हो जाती है। उसकी मासपेशियों में कड़ापन या शिथिलता हो जाती है। उत्तेजना की दशा में अकारण आँखे नचाता है, भीहे धुमाता है, मुख टेढ़ा करता है, अगों को तोड़ता-मरोड़ता है तथा मोहावस्था में देर तक खड़ा या पड़ा रहता है।

८ भ्रान्ति—उसे बरावर यह भ्रम बना रहता है कि पुलिस पकड़ लेगी, अमुक व्यक्ति मेरी हत्या करने की फिराक में है और हो सकता है कि मुझे जहर खिला दे आदि।

९ विभ्रम—जो वर्म्म उपस्थित नहीं है, रोगी को उसके होने का आभास होता है। वह अशब्द की स्थिति में भी शब्द सुनता है। उसका व्यवहार बच्चों

जैना होठा है। वह हठी होता है। उसका मन अव्यवस्थित रहता है। वह तरह-तरह के सन्देहों के धेरे में पिरा रहता है।

प्रकार

यह रोग दो प्रकार का माना जाता है—

१. प्रथम प्रकार में रोगी के शरीर में कोई विकृति नहीं होती और न तो वह किसी नमीली या निर्बली अनुभु के सेवन का अभ्यासी होता है। उसे यह रोग वण-परम्परागत ही लकड़ा है अथवा जीवन की अनियासं आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से हो सकता है। विषाद अथवा प्रज्ञापर्गाध भी इन परिस्थिति के जनक हो सकते हैं।

२. द्वितीय प्रकार में शरीर-विकृति या नशा या विष का सेवन इमका कारण होता है। इन प्रकार ने वार्षिक, गत्तिष्ठ-धमनी-विकार या मण्डनजन्य अनोदितिपूर्ण का होना माना जाता है।

उपचार

- १ रोगी को शान्त, एकान्त, मुख्य, गत्तिष्ठ वातावरण में रखना चाहिए।
- २ उसके मनोभावों को जानकर अभावों की दूर करना चाहिए।
- ३ उसके शयन-आसन, भोजन-आच्छादन की भयुचित व्यवस्था करें।
- ४ रोगी के अनुकूल व्यक्तियों का उसे भावचर्य मिलना चाहिए।
- ५ उन्माद रोग की चिकित्सा में बतलाये गये भीषी उपचार आवश्यकतानुसार करें और सौम्य एवं मात्स्वक पव्याहार दें।

विषाद-अवसाद

(Depression)

परिषय—‘विषाद’ की अभिव्यक्ति आकान्त व्यक्ति की आकृति से ही प्रकट हो जाती है। उसकी शुखाकृति, चैप्टा, भाषण और हाव-भाव से उसके मन का विषाद झलकने लगता है। उसका मुख्यमण्डल कान्तिहीन, उदास और पीताम्ब होता है और शरीर शिथिल होता है।

लक्षण

- १ रोगी का चेहरा फीका, पीतवर्णी, निस्तेज और मुरझाया दीखता है।
- २ किसी भी रोग से ग्रस्त व्यक्ति जब ‘विषाद’ से पीड़ित हो जाता है, तो उसका वह रोग वढ़ जाता है और दीर्घकाल तक बना रहता है। चरक ने कहा है—‘विषादो रोगवर्धनाम् (श्रेष्ठतम्)’ (च० सू० २५।४०)
- ३ रोगी शूरु, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के दुखों का स्मरण करता रहता है और सदैव खिन्न रहता है।
४. उसे अपने प्रत्येक कार्य में अमफलना ही दीख पड़ती है। वह निराशा के धेरे से बाहर नहीं निकल पाता।

५ वह अपने पूर्व कर्तव्यों का लेखा-जोखा और जोड़-घटाना करते-करते शारीर और मन दोनों से क्षीण हो जाता है। उसकी हर सोच में पछताचा और विपाद की चासनी ओतप्रोत होती है।

६ उसे नीद कम आती है या नहीं भी आती। भोजन में रुचि नहीं होती और किया हुआ भोजन ठीक से नहीं पचता तथा मलावरोध रहता है।

७ उसे कोई नया कार्य करने का उत्साह नहीं होता और दैनिक कार्य करने में भी रुचि नहीं होती। वह समाज से अलग रहना पसन्द करता है। लोगों से मिलने-जुलने एवं बात करने से कतराता है।

८ उसे अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है। उदासीनता बढ़ जाने पर उसमें आत्महत्या की भावना उत्पन्न हो जाती है।

९ निराशा और असफलताजन्य क्षोभ की अधिकता होने पर उसे भूख नहीं लगती। वह खाने-पीने की परवाह नहीं करता। उसका मुँह सूखा रहता है, शारीर दुर्बल हो जाता है और वजन घट जाता है।

१० दुर्बलता और चिन्ता बढ़ जाने पर वह किसी से बात करना पसन्द नहीं करता। वह अकेला रहना चाहता है और उसकी गतिविधि मन्द से मन्दतर होती जाती है।

११ इस रोग का प्रभाव दिन में अधिक और रात में कम होता है। एक बार प्रकोप हो जाने पर इसका प्रभाव ४-६ महीनों तक बना रहता है।

१२ रोगी किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कार्य नहीं करना चाहता। वह हाथ-पैर हिलाने से जी-चुराता है और विचारशून्य स्थिति में पड़ा रहता है। उसका मन अस्थिर रहता है। वह धीमी आवाज में रुक-रुक कर बोलता है।

१३ वह स्व-कपोलकल्पित आशङ्काओं और चिन्ताओं के जाल में फँसा रहता है, जिस प्रकार मकटी अपने द्वारा बुने जाल में फँस जाती है। वह निराशावादी, अकर्मण्य और आलसी एवं मन्दचेतन होता है।

विषाद के प्रकार

१ सामान्य विषाद—इसमें रोगी की शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं में शिथिलता आ जाती है, किन्तु एकदम रुकावट नहीं होती। उसके प्रत्येक कार्य में उदासीनता की झलक दीखती है।

२ तीव्र विषाद—उसे अपने चारों ओर निराशा का घना कुहरा छाया हुआ दीखता है और उसे आशा की पतली किरण भी नजर नहीं आती, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपना जीवन समाप्त कर देना चाहता है।

३ कर्तव्यबोध-शून्य विषाद—उसका मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। वह बालकों जैसा व्यवहार करता है। वह अपना शरीर भी नहीं सभाल पाता और न स्वयं भोजन ही कर पाता है। उसे अपच रहता है, शारीर दुर्बल हो जाता है और स्वास्थ्य गिर जाता है।

४ बहिर्मुख विषाद—वहिर्मुख विषाद किसी वाहरी दुख के आधात से होता है जो अस्थिर होता है और कुछ ममय वाद समाप्त हो जाता है।

५ अन्तर्मुख विषाद—यह शरीर और मन की निर्वलता से होता है तथा दीर्घ-काल तक स्थायी है।

६ संवेगात्मक विषाद—तीव्र गोक आदि से उत्पन्न असह्य और दुखद होता है।

७ असफलताजन्य विषाद—रोजगार, प्रतिष्ठा या पद-प्राप्ति में या प्रेम में नफल न होने पर उत्कट विषाद होता है और व्यक्ति असामान्य हो जाता है।

उपचार

१ कारण की खोज कर उसका निराकरण करना चाहिए।

२ धैर्य, आश्रामन, हर्पण, मन्त्रोप देना और अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक है।

३ उन्माद-अपस्मार में वर्णित चिकित्सा और पथ्य का प्रयोग करना चाहिए।

अव्यवस्थितचित्तता : अन्तरावन्ध

(Schizophrenia)

परिचय—इम रोग से ग्रन्त मानसिक रोगी असामाजिक, भावुक, प्राय शान्त-चित्त, एकान्तप्रिय, आलसी, निष्क्रिय और दिन में सोनेवाला होता है। वह ऐसी नीकरी या व्यवमाय करना चाहता है, जिसमें जनसम्पर्क कम हो या न हो।

कारण

१ इम रोग को उत्पन्न करने वाले कारणों में रोगी के महत्वाकांक्षी और तीव्र प्रश्नामन करने वाले पिता का प्रमुख हाथ होता है।

२ दैहिक कारण—यह रोग अन्त सावी ग्रन्थियों की विकृति से उत्पन्न होता है।

३ अपने डदं-गिदं के वातावरण के अनुकूल अपने को ढालने अथवा समायोजित करने में असफलता के कारण यह रोग होता है।

४ वौद्धिक-हीनता एव दूषित मन की वश-प्ररम्परा भी इमका कारण है।

५ जीवन की वास्तविक समस्याओं के यमाधान न होने की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भी यह रोग होता है।

६ आलसी स्वभाव और दोषपूर्ण आदतों की प्रतिक्रिया से भी यह होता है।

लक्षण

१ यह रोगी सबेदनशील, अन्तर्मुखी वृत्तिवाला, आत्म-सीमित तथा एकाकीपन को पसन्द करता है।

२ यह आलसी, निष्क्रिय और सबेगात्मक प्रतिक्रियाओं से शून्य होता है। इसके सामने किसी का घर जल रहा हो, तो इसके ऊपर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। जैसे—रोम जल रहा था और नीरों बंशी बजा रहा था।

३ यह गोगी जोर-दबाव देने पर जब कोई कार्य करना है तो अन्त-ब्यर्ग और असामान्य हो जाता है।

४ इस रोगी में सामाजिक भावना की अत्यधिक कमी होती है। यह एकाकी और मित्रविहीन होता है।

५ वह अकारण हँसने, रोने या कराहने लगता है और अचानक कुछ होकर समीपस्थ व्यक्ति को मारने-पीटने लगता है। कभी यह अशुभ समाचार सुनकर प्रसन्न और शुभ समाचार सुनकर खिन्न हो जाता है।

६ रोगी को कभी-कभी ऐसा भ्रम हो जाता है, जिससे वह सीप को चाँदी या ऐठी रस्सी को साँप समझ बैठता है। हिंत को अहिंत और अहिंत को हिंत समझने लगता है।

७ वह धूप में बादल, रात में 'सूर्य-किरण, अस्तित्वविहीन शब्द-स्पर्श-रूप के अनुभव करता है। अनुपस्थित धमकी, तिरस्कार या प्रशस्तायुक्त शब्दों को सुनात है। वह विभ्रम (अवस्तु में वस्तुबोध) से त्रस्त होता है।

८ वह असम्बद्ध, निरर्थक, अप्रासङ्गिक और अनर्गल बाते करता है।

९ उसके लेखन में भी विचित्रता होती है, जिसे कोई पढ़ नहीं सकता और जिसका कोई अर्थ नहीं होता।

१० उसके विचार अस्पष्ट और निरर्थक होते हैं, जिनकी कोई शृखला नहीं होती और वे अपूर्ण एवं उलझे हुए होते हैं।

११. ऐसे रोगी में प्रज्ञापराध के लक्षण हो जाते हैं। उसकी बुद्धि का ह्रास हो जाता है, स्मृति लुप्त हो जाती है, धैर्य नष्ट हो जाता है और विवेक जाता रहता है।

१२ शारीरिक दृष्टि से वह अस्वस्थ रहता है। उसे नहाने-धोने, खाने-पीने, सोने-जागने के क्रम का ध्यान नहीं रहता है।

प्रकार

विद्वज्जन इसके निम्नलिखित चार प्रकार मानते हैं—१. सामान्य, २. मनो कुण्ठात्मक, ३. सामञ्जस्य-ह्रासात्मक और ४. सविभ्रम।

१ यह निष्क्रिय, निराश, आकांक्षाहीन, एकान्तप्रिय और आवारो जैसा धुमक्कड होता है।

२. यह सूखतापूर्ण प्रवृत्ति वाला, विचित्र भ्रमयुक्त, बालबुद्धि, क्षण में रुप्ट, क्षण में सतुष्टि, अस्पष्टभाषी, अकारण ह्रास्य-रोदनकारी और अस्थिरचित्त होता है।

३ यह छोटी-छोटी बात में धबडाने वाला, उदासीन, आलसी और शिथिल शरीर वाला होता है।

४ इसे सदैव यह भ्रम बना रहता है कि कोई मुझे मारने का पड्यन्त्र रख रहा है या धमकी दे रहा है आदि।

उपचार

१ एकान्त में न रहने दें, परिवार में रखें और ममाज के सम्पर्क में रखने का प्रयत्न करें।

२ इसे किसी कार्य में लगाये रखें और सम्मान के साथ परिवार मैं समायोजित करे।

३ कोई दक्ष परिचारक साथ रहे, ताकि उत्तेजित होने पर मारपीट न करने लगे।

४ चिकित्सक उसे यह आश्रासन दे कि उसकी समस्याएँ जान ली गयी हैं और उनका समाधान हो जायेगा।

५ रोगी के अकेलापन को भग करे तथा उसे मित्रों एवं हितैषियों के सम्पर्क में रखे।

६ रोगी को यह समझा दे, कि वह अपने भ्रम-विभ्रम को, सपनों को और भय आदि को जिस किसी से न कहता फिरे, अन्यथा लोग उसे पागल समझेंगे।

७ रोगी का स्नेहन-स्वेदन करके यथावश्यक वमन-विरेचन-निरुह-अनुवासन-नस्य और अञ्जन का प्रयोग करे।

८ औषध—रोगी को पुराना धृत उचित मात्रा में गोदुग्ध में पिलाये।

९ ब्राह्मी, वच, कूठ, शब्दपुष्पी, शतावर, सौफ, हींग, तगर-मिठ्ठ धृत दे।

१० जीवनीय धृत, ब्राह्मी धृत, पैशाचिक धृत या कल्याण धृत दे।

११ सिद्धरस—स्मृतिसागर, ब्राह्मीवटी, चतुर्भुज, चिन्तामणिचतुर्मुख, वृहद्वात-चिन्तामणि एव वातकुलान्तक रस उचित मात्रा और अनुपान से दे।

१२ प्रात-साय और सोते समय रात में सर्पगन्धा धनवटी $\frac{1}{2}$ ग्राम/१ मात्रा गोदुग्ध से दे। भोजनोत्तर अविपत्तिकर चूर्ण ४-४ ग्राम सुखोष्ण जल से दे।

पथ्यापथ्य

उन्माद और अपस्मार मे कथित के अनुसार पथ्य दे और अपथ्य वर्जित करे।

भ्रम

(Illusion or Delusion)

परिचय—यह ज्ञान, वोध या उपलब्धि के व्यतिक्रम का महत्वपूर्ण विकार है।

लक्षण

१. किसी सत्य वस्तु मे असत्य वस्तु का भान या ज्ञान होना भ्रम¹ कहलाता है।

२. किसी वस्तु मे अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना भ्रम है, इसे दर्शनशास्त्र मे विवर्त या अध्यास कहते हैं। जैसे—रस्मी का अपने रूप का बिना परित्याग किये सर्प रूप मे प्रतीत होना, मिथ्या प्रतीति या भ्रम है।

1 In the case of an illusion, there is misinterpretation of sensory stimulus, for instance a 'rope' is mistakenly as being a 'snake'

३ भ्रम, भ्रान्ति, विपर्यय या मिथ्याज्ञान—ये पर्यायवाची शब्द हैं।^१ जो पदार्थ जैसा है, वैसा न दिखलाई देकर दूसरा ही-मालूम पड़े, जैसे—सीप को चाँदी समझना भ्रान्ति या भ्रम है।

वस्तुत्य—भ्रान्ति एक प्रकार का चित्तव्यापार है। किन्तु यह यथार्थ नहीं होता, इसलिए यथार्थज्ञान से भ्रान्ति का नाश होता है। जैसे—चमकती सीप को हम चाँदी समझकर हाथ में उठा लेते हैं, परन्तु हाथ में लेकर देखते ही जब हमें मालूम हो जाता है कि यह सीप है, तो हम उसे फेंक देते हैं।

भ्रम—प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में ही भ्रम हो सकता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में न्यूनता होने पर भ्रम होता है, यद्यपि वह इन्द्रियप्रत्यक्ष हो अथवा मानसप्रत्यक्ष। इसी प्रकार सशययुक्त अनुमान में भी भ्रम होता है। भ्रम का आधार ज्ञान है, क्योंकि वही मिथ्या या विपरीत हो जाता है। वस्तु तो ज्यों की त्यों रहती है और उसमें कोई विपर्यय (बदलाव) नहीं होता है।

विभ्रम या अवस्तुबोधन

(Hallucination)

परिचय—यह भ्रम के आगे की स्थिति है, जिसका कोई आधार नहीं होता। यह अस्तित्वविहीन मिथ्याज्ञान है।

लक्षण

१ जब किसी वस्तु का अस्तित्व न होने पर भी उस वस्तु की सत्ता प्रतीत होती है, तो इस अवस्तु बोधन को विभ्रम^२ कहते हैं। इसका कोई आश्रय या मूलाधार नहीं होता। इसलिए इसको निर्भूल भ्रम कहते हैं।

२ इसमें कोई वाह्य उद्दीपक नहीं होता है, फिर भी इन्द्रियाओं की (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की) मिथ्या प्रतीति होती है^३।

३ रोगी को विभिन्न प्रकार की धमकी, तिरस्कार अथवा प्रशसा भरी ध्वनियाँ सुनाई देती हैं जो अवास्तविक एवं अस्तित्वविहीन होती हैं।^४

१ (क) वस्तुन स्वस्वरूपापरित्यागेन वस्त्वन्तरमिथ्याप्रतीतिर्भ्रम् । वेदान्तसार (अपवाद)
(ख) विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतदरूपप्रतिष्ठितम् । —योगसूत्र १८

* * *

अतस्मिस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः । —प्रशस्तपादभाष्यम् ।
(ग) मिथ्याज्ञान विपर्यय, यथा शुक्तविद रजतमिति । —तक्सग्रह ।

2 In case of hallucination, perception takes place in the absence of a stimulus

3 In the case of hallucination, repressed psychological material is projected through one or other of the senses, resulting in auditory, visual, tactile, gustatory or olfactory hallucination

4. Auditory hallucinations are common in paranoid schizophrenia

४ रोगी को दिव्य अलीकिक चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखलाई देते हैं, जो मिथ्या होते हैं।

५. उसे अन्तित्वविहीन वस्तुओं के स्वाद का अनुभव होता है।

६ रोगी को विचित्र गंध मालूम होती है, जो वस्तुतः अस्तित्वविहीन होता है। इनी प्रकार—

७ रोगी को अस्तित्वविहीन गुमियों के शरीर पर रोगे या उसके स्पर्श का अनुभव होता है।

सापेक्ष निवास

भ्रम		विभ्रम
१. यह वस्तुनिष्ठ होता।		१ इसमें किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता।
२ इसमें वायु उद्दीपक होता है।		२ इसमें ऐसा नहीं होता।
३. वस्तु की मिथ्या प्रतीति होती है।		३. अन्तित्वविहीन वस्तु की मिथ्या प्रतीति होती है।
४ इनका कोई आधार होता है।		४ यह निराधार और काल्पनिक होता है।

संविभ्रम : स्थिर व्यामोह

(Paranoia)

परिचय—जब किसी व्यक्ति में भ्रम का स्थिर निवास होता है, तो उसे 'संविभ्रम' रुहते हैं। यह एक प्रकार की प्रवृद्ध भ्रमावस्था है।

लक्षण

१ रोगी को सदैव यह भ्रम रहता है कि कोई उसे कष्ट पहुँचाने के लिए उथत है और मरता है कि वह भोजन में विष मिलाना चाहता हो।

२ उसका भ्रम म्यायी होता है और अपने अगल-बगल की प्रत्येक वस्तु को वह खरनाक समझता है।

३ रोगी अहकारी होता है और अपनी जिद पर हृठ करता है।

४ वह महत्वाकाली और उच्च अभिलाषा वाला होता है।

५ रोगी किसी पर विश्वास नहीं करता है और सबको सन्देह की दृष्टि से देखता है।

The patient may hear pleasant or more of ten unpleasant, derogatory absence or accusing remarks in the form of voices coming from within or without. Hallucinations of a commanding nature may be convincing or compelling enough to result in direct and dangerous actions.

—Clinical Diagnosis page 411

६ वह कल्पना लोक में विचरण करता है और दूसरों को सजा देने की वार सोचता है।

७ उसे ऐसा अनुभव होता है कि सभी लोग उसके विरुद्ध हैं।

८ उसे अपनी हत्या कराये जाने का भ्रम बराबर बना रहता है।

चिकित्सा

१ प्राय भ्रम, विभ्रम और सविभ्रम के रोगियों में अनिद्रा होती है। अत उन्हें निद्राप्रद औषध दे। सर्पगन्धा धनवटी को आधा-आधा ग्राम, सवेरे-शाम और रात में दे।

२ सारस्वत चूर्ण, ब्राह्मीवटी, स्मृतिसागर रस, कल्याणघृत, कल्याण अवलेह, अश्वगन्धारिष्ट तथा सारम्बतारिष्ट को रोगी के अनुरूप मात्रा और अनुपान से दे।

३ शिरोऽभ्यङ्ग कराये, एतदर्थं विष्णु तैल, हिमाशु तैल, चन्दनादि तैल या पुराणघृत का प्रयोग करे।

४ उन्माद एवं अपस्मार में कथित चिकित्सा करना श्रेयस्कर है।

व्यामोह-मिथ्याविश्वास-संघर्ष

(Delusion)

परिचय—यह एक ऐसी गलत धारणा वाला रोग है, जिसे किसी भी प्रमाण से सही नहीं सिद्ध किया जा सकता। यह एक प्रकार का उन्माद जैसा रोग है, जो अनेक प्रकार के मानस रोगों में एक लक्षण के रूप में पाया जाता है।

लक्षण

१ रोगी द्वारा अपने को किसी भी क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम और महानतम होने का दावा करना, उसका मिथ्याविश्वास-संघर्ष कहा जाता है।

२. वह आशा के पाश में बँधा रहता है तथा कामी, क्रोधी और लोभी होता है। वह अपने को धनवान्, परिजनवान् और अति सम्मानित समझता है।

३ उसमें ईर्ष्या और द्वेष की भावना अधिक होती है। वह महान् अहकारी होता है और उसे अपने बल तथा धन-जन का अपार दर्प रहता है।

४ किसी क्षेत्र में सफलता मिल जाने पर ऐसे व्यक्ति के मानसपटल पर मिथ्या-विश्वास का जन्म होता है।

विभिन्न विषयों के अनुसार पाँच प्रकार

१ आत्म अवमूल्यन—रुग्ण को ऐसा प्रतीत होता है, कि उसका जीवन अनुपयोगी है। वह असत्कर्म करनेवाला, आचरणहीन और अपराधी है। वह मृत्यु की गोद में सो जाना चाहता है।

२ अनर्थकारी चिन्तन—रोगी को यह भ्रम हो जाता है कि वह असाध्य रोग से ग्रस्त है और उसका जीवन राजयक्षमा एवं कैन्सर आदि के चगुल में है।

३. बृद्धप्यन की भावना—रोगी अपने को उच्चकोटि का शासक, धनवान्, भाषणकर्ता तथा समाज का अग्रणी नेता मानता है।

४ दण्डित होने की आशङ्का—यह रोगी सदैव इस सन्देह में रहता है, कि कुछ लोग उसके विरुद्ध झूठी अफवाह फैला रहे हैं और उसे मारने-पीटने या हत्या करने की योजना बना रहे हैं।

५ शङ्खालुता—उसे दूसरे लोगों की फुस्फुसाहट में अपने आहरत होने की मिथ्या ध्वनि सुनाई पड़ती है। वह जहाँ भी दो चार लोगों को बैठे देखता है, उसे यह भय हो जाता है कि ये मेरी ही बात कर रहे हैं, एवं मेरे विरुद्ध साजिश कर रहे हैं।

उपचार

इसमें उन्माद में कथित चिकित्सा-व्यवस्था करनी चाहिए।

मनःसंघर्ष-मनोनाडीदौर्बल्य-मनःश्रान्ति

(Neurasthenia)

परिचय—यह मस्तिष्कदौर्बल्य और हीनमनस्कतायुक्त रोग है। इसमें किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक श्रमजनक कार्य किये विना ही शरीर और मन श्रान्त, क्षुब्ध तथा अवसादग्रस्त होते हैं।

कारण

१ अति परिश्रम, शोक चिन्ता, चिरकालिक शारीरिक रोग, रक्ताल्पता।

२. मद्यपान, मन की दुर्बलता, भीरुता, कायरता, नाडी-दौर्बल्य, असायम।

३ जीवन-संग्राम की कठिनाइयाँ, आर्थिक अभाव, असहिष्णुता, वीर्याल्पता।

४ अति मैथुन-भित्रमण्डली का अभाव, कार्य-व्यवसाय में घाटा और आनु-वशिकता आदि प्रमुख कारण हैं।

लक्षण

१. रोगी आत्मकेन्द्रित होता है। वह अपने ही ताने-बाने में मशगूल रहता है।

२ उसे न तो लधो से लेना पसन्द है, न ही माधो को देना चाहता है।

३ उसका मन विचलित, श्रान्त तथा उदास रहता है एवं शरीर शिथिल होता है।

४ वह रोजमर्रा की जिन्दगी का बोझ नहीं सम्भाल पाता और बेचैन रहता है।

५ छोटी-छोटी बातों में आवेश और तैश में आ जाता है तथा चिढ़चिढ़ा हो जाता है।

६ वह 'शरीर व्याधिमन्दिरम्' का अनुगामी होता है और अपने शरीर को तरह-तरह के रोगों से ग्रसित हुआ मानता है।

७ क्षुधानाश, अनिद्रा, अजीर्ण, उदावर्त, चिवन्ध, शिर शूल, मलावरोध, जौभाई, कटि-पृष्ठशूल और नपुसकता का अनुभव करता है।

८ उसका रक्तचाप न्यून होता है और नाड़ी की गति अनियमित रहती है। उसे अगो में जिनजिनी, ठड़क या शून्यता की प्रतीति होती है।

९ शिर शूल शिरोब्रह्म, निद्रानाश, अक्षम पाचनशक्ति, मानसिक अशान्ति, सहिष्णुता का ह्रास, हृदय-गति का आधिक्य, मुखाकृति-रक्तिमा और स्वेदाधिक्य—ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सासूचि

१ रोगी की मन स्थिति और रोग के कारण का अध्ययन कर उसकी चिन्ताओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

२. रोगी को शान्त वातावरण में रखना चाहिए और शीतल जलावगाहन करना चाहिए।

३ भोजन-वस्त्र आदि आवश्यक सामग्री यथासमय उपलब्ध कराये।

४ रोगी के मनोऽनुकूल स्थानों में उसे सैर-सपाटे के लिए ले जाना चाहिए।

५ शान्तिपूर्वक रखने के लिए उसे कोई अभाव न खटकने दे।

६ सयमित और सन्तुष्ट जीवन विताने की प्रेरणा और उपदेश दे।

७ जिन कारणों से उत्तेजना होती हो, उन्हें दूर करे और पूर्ण विश्राम दे।

८ रोगी के पसन्द के कार्य-व्यवमाय में उसे लगाये, ज्यादा जोर-दबाव न दे।

चिकित्सा

१ यदि मलावरोध रहता हो तो, सवेरे-ग्राम—गिवाक्षारपाचन चूर्ण २-२ ग्राम और रात में सोते वक्त—पट्टकार चूर्ण ८-१० ग्राम मुखोष्ण जल से दे।

२ क्षुधावृद्धि और पाचनशक्ति को बेहतर बनाने के लिए भोजन के पूर्व दोनों समय भोजन के प्रथम ग्रास में धी के साथ हिंगवटक-चूर्ण ३-३ ग्राम मिलाकर देतथा भोजन के बाद दोनों समय द्राक्षासव २५-२५ मि० ली० समान जल से पिलाये।

३ वीर्यसम्बन्धी विकार हो तो चन्द्रप्रभावटी, चन्दनासव, शिलाजीर, त्रिवण्डस्म, पूर्णचन्द्र रस एवं शतावरी चूर्ण उचित मात्रा एवं अनुपान से दे।

व्यवस्था-पञ्च

१ प्रात्-साय—

स्मृतिसागर रस	२५० मि० ग्रा०
ब्राह्मीवटी	२५० मि० ग्रा०
उन्मादगजाकुश	२५० मि० ग्रा०
ब्राह्मी-स्वरस व मधु मे।	२ मात्रा

२ ९ बजे व २ बजे—

वातकुलान्तक रस	५०० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
मधु मे।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ बार—

अश्वगन्धारिष्ट

५०' मिली०

समान जल मिलाकर पीना ।

२ मात्रा

४ रात में सोते वक्त—

सर्पगन्धा घनवटी

१ ग्राम

गोदुग्ध से ।

पथ्यापथ्य

पुराना जी, गेहूं, चावल, मूँग की दाल, लौकी, परवर, नेतुआ, सहिजल, करेला, दूध, दही, धी, मक्खन, मुनक्का, किशमिश, सेव, सन्तरा, मोसम्मी एवं मनोऽनुकूल पथ्य दे ।

अपथ्य

मद्य, मास, मछली, अण्डे और तीक्ष्ण द्रवयों का परित्याग करे । तम्बाकू, चाय, सिगरेट आदि नशे की चीजों से परहेज रखे ।

मनोग्रन्थि

(हठ और बाध्यतायुक्त मानसिक रोग)

(Obsessional Compulsive Neurosis)

परिचय—इस रोग में रोगी के मन में किसी कार्य के प्रति ऐसी ज्ञक या हठ उत्पन्न हो जाती है, जिससे वाध्य होकर वह उस कार्य को तल्लीनता से करता रहता है । जैसे—नीरोग रहने पर भी बार-बार चिकित्सक से परामर्श लेना, चोरी करना या दूसरों को अपमानित करना तथा उन्हें हानि पहुँचाना आदि ।

कारण

१. यह रोग किन्तु मानसिक ननावों, द्वन्द्वों या तीव्र सवेगों के दबाव के फलस्वरूप हो जाता है । जैसे—उत्पीड़न में त्रस्त होकर कुछ लोग साधु-सन्यासी या डाकू बन जाते हैं ।

२. यह रोग आनुवंशिक होता है ।

३. तीव्र यानेच्छा के दमन से भी इसकी उत्पत्ति होती है ।

४. सामाजिक, नैतिक या आर्थिक सकट का सामना न कर पाना भी इस रोग को जन्म देता है ।

५. व्यावसायिक चिन्ता या विकृत विचारों के कारण भी होता है

लक्षण

१. यह एक प्रकार का उन्माद है, जो कारण के अनुरूप लक्षणों वाला होता है ।

२. कोई व्यक्ति चलते-फिरते किसी विचार में तल्लीन हो-जाता है और

आवेश मे आकर, मुट्ठी कसकर, ओठ भीचकर, आकाश मे हाथ फेंककर, गर्दन और शिर हिलाकर अकेले असम्बद्ध वात करने लगता है।

३. कोई व्यक्ति स्वच्छता के प्रति इतना अधिक सबैदनशील हो जाता है कि वह बरासा-पेडा तथा चीनी धोकर खाता है और लकड़ी धोकर जलाता है। किसी के शरीर का स्पर्श होने पर, शौच जाने पर और भोजन करने के पूर्व स्नान करता है और इसी तरह प्रत्येक कार्य मे असामान्य ढग की सफाई करता है।

४ कोई रोगी अपनी वेशभूषा, क्रीज, कालर और शिर के बालों की सेर्टिंग निहारता है तथा मुड़-मुड़ कर कन्धे को देखता है।

५ कुछ लोगों को दूसरों को हानि पहुँचाने की ज्ञक, विषय-सम्बोग की ज्ञक या नशा करने की ज्ञक हो जाती है।

६. ऐसा रोगी बार-बार किसी वात को सोचता रहता है और ज्यो-ज्यो उसे भूलने की कोशिश करता है, त्योन्त्यो वह चिन्ता स्मृति-पटल पर उभड़ जाया करती है, जिसे वह भूलना चाहने पर भी नहीं भूल पाता।

७ किसी-किसी के मन मे विकृत विचार घर बना लेते हैं और ऐसा व्यक्ति असामान्य आचरण करने लगता है। जैसे—बार-बार हाथ धोना, दिन मे कई बार नहाना, प्रत्येक वस्तु को अनावश्यक झाडते-पोछते रहना, तुच्छ वस्तुओं को चुराना, बार-बार रोग का निदान कराना और औषध खाना और इसी तरह के अनगेल कार्यों को करता रहता है।

८ यह रोगी सफाई, तौर-तरीका, तहजीब, शिष्टाचार, अनुशासन की पाबन्दी के प्रति ज्यादा जागरूक रहता है।

९ वह किसी भी कार्य को शीघ्र पूरा कर लेने के प्रति हठी होता है।

१०. यह कठोर परिश्रमी, अति सचेत और अपनी डचूटी का पक्का होता है।

११ वह कष्ट सहने के लिए तैयार रहता है, किन्तु अपने हठ से टस-भस नहीं होता। वह किसी भी कार्य मे ढीलापन नहीं पसन्द करता और अपने को हमेशा सीन-काफ दुरुस्त रखता है।

चिकित्सा

इसमे उन्माद रोग की ही तरह सम्पूर्ण चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए।

बृद्धावस्थाजन्य मनोविकार

(Senile Psychosis)

परिचय—यह प्राय ७० वर्ष या उससे अधिक आयु मे होने वाला रोग है, जब कि मनुष्य की शारीरिक धातुओं तथा मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगता है। यह अल्पबुद्धि एवं अल्पसाधन वाले व्यक्तियों को अधिकाश होता है।

कारण

१. प्रीढावस्था में किसी मनोरोग से आक्रान्त होना ।
२. ७० वर्ष के आस-पास की आयु होना तथा जीवन की आवश्यकताओं का पूरा न होना तथा विविध साधनों का अभाव ।
३. किसी मानसिक आधार से बुद्धि एव स्मृति का मन्द हो जाना ।

लक्षण

१. चिड-चिडापन, संवेदनशीलता, स्मृतिनाश, तीव्र स्वार्थपरता, अनुदारता, चिन्ता की अधिकता और स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है ।
२. हठ, क्रोध, विचार-सकोच, व्याकुलता और लापरवाही बढ़ जाती है ।
३. अपनी वस्तुओं, वस्त्रों और कपड़ों को अव्यवस्थित रखता है ।
४. वह परिचितों की आङ्गुष्ठी और नाम भूल जाता है और एक ही बात बार-बार पूछता है ।
५. वह आशका से ग्रस्त होता है और लोगों पर विश्वास नहीं करता । उसे यह डर बना रहता है कि लोग मेरी सम्पत्ति हड्डियां चाहते हैं, इसलिए कही मुझे जहर न दे आदि ।
६. उसे कपड़े पहनने, उन्हें स्वच्छ रखने और तरतीब से रखने में कोई रुचि नहीं होती ।
७. वह आत्मकेन्द्रित, ईर्ष्याद्विष की भावना वाला तथा भुलक्कड़ स्वभाव का होता है ।
८. कभी-कभी वह वालको जैसा हठ और वार्तालाप तथा व्यवहार करता है ।
९. वह अधिकाश किसी कार्य की सफलता के प्रति सन्दिग्ध रहता है ।
१०. वह सभी कार्य के अन्धकार पक्ष को ही देखता है और विषादग्रस्त रहता है ।
११. कदाचित् वह सारी रात जागता रहता है और कामवासना से बेचैन हो जाता है ।

उपचार

१. रोगी को जितने से मन्त्रोप हो, उसके लिए आसन-ओढ़ना-विछावन-चादर-तौलिया, पहनने के वस्त्र एव जलपात्र-बालटी आदि स्वतन्त्र दे दे ।
 २. उसे शान्त एव निरापद स्थान में रखे, जहाँ शोर-शरावा कम हो ।
 ३. भोजन और विश्राम की समुचित व्यवस्था करे और पूछ-पूछ कर वह जो कहे उसे प्रेम से सुने और उसे पूरा कर उनसे आशीष मांगो ।
 ४. इस प्रकार के उत्तम व्यवहार से बृद्ध को प्रसन्न रखना सभी परिजनों का नैतिक कर्तव्य है ।
-

त्रयोदश अध्याय

आत्ययिक चिकित्सा, तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार के असन्तुलनजन्य विकार, दग्ध दाह एवं तीव्र रक्तस्राव

आत्ययिक चिकित्सा

निर्वचन — ‘अत्ययस्य इदम् आत्ययिकम्’ अर्थात् विनाशकारी घटना।

अत्यय के पर्याय—अतिक्रमण, कृच्छ्र, दोष, दण्ड, पञ्चता, कालधर्म, दिष्टान्त, प्रलय, अन्त और नाश^१—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

अत्यय शब्द का अर्थ—आकस्मिक घटना, सकट कठिन परिस्थिति, किसी भी सीधा को पार कर जाना, दोष की अधिकता, दण्ड, काल का स्वभाव, प्रलय और विनाशकारी स्थिति—ये अत्यय शब्द के अर्थ हैं।

आत्ययिक की परिभाषा—चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से आत्ययिक शब्द का अभिप्राय किसी रोग की उस मृत्यु-भयजनक खतरनाक परिस्थिति से है, जब रोगी मरने की स्थिति में हो और यदि यथासमय समुचित चिकित्सा नहीं उपलब्ध हो पाती है, तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

स्वरूप—आत्ययिक स्थिति अचानक किसी दुर्घटना के कारण भी हो जाती है। अथवा रोगी के रोग के बढ़ जाने या किसी प्राणधातक उपद्रव के उत्पन्न हो जाने या रोगी में पहले से उपस्थित लक्षणों के ही उग्र रूप धारण कर लेने से आत्ययिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार किसी रोगी की मृत्यु होने की आशङ्का की स्थिति को आत्ययिक कहते हैं।

प्रकार—१ यह स्थिति आगन्तुक वाह्य आघात करनेवाले कारणों अथवा आम्यन्तर के शारीर-धारक तत्त्वों के विनाशकारी प्रदूषण से होती है।

२ यह अवस्था रोगों के ^३असाध्य लक्षण या सम्पूर्ण लक्षणों के उत्पन्न होने पर होती है।

३ रोगों के मृत्युमूचक अरिष्ट^४ लक्षणों का उदय होना आत्ययिक है।

१ अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे दोषे दण्डेऽपि ।

—अमर० ३३।१५०

२ स्यात्पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तं प्रलयोऽत्ययः ।

—अमर० २।१।१६

अन्तो नाशो द्योमृत्युमर्णन निधनो स्त्रियाम् ॥

३ —तद्रत् प्रत्याख्येय त्रिदोषजम् । क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमाग्नुमारिणम् ॥

औत्सुक्यारतिसम्माहकरमिन्द्रियनाशनम् । दुर्बलस्य सुमवृद्ध व्याधि मारिष्टमेव च ॥

—चरक० सत्र० १०।१९-२०

४ नियतमरणख्यापक लिङ्गन् अरिष्टम् । —मा० नि० पञ्चनिदान श्लोक २, मधुकोश ।

४ शरीर के प्रधान मर्म,^१ यथा—हृदय, वस्त्र और शिर की क्रियाओं का व्यतिक्रम होना आत्ययिक है अर्थात् यदि किन्हीं विकृतियों के कारण हृदय का या भस्त्रिष्ठ का या वृक्कों का कार्य-व्यापार अवरुद्ध हो जाता है, तो आत्ययिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

५ ऊंचर का तीव्र हो जाना, तीव्र श्वासकष्ट, शरीर के जलाश की अल्पता, तीव्र उदरशूल, मूर्छा, हिचकी, तीव्र रक्तस्राव, मन्यास आदि का होना आत्ययिक रोग के प्रकार हैं।

सामान्य सिद्धान्त और सावधानी

१ जब कोई रोगी आत्ययिक (मरणोन्मुख) अवस्था में चिकित्सक के पास आये, तो चिकित्सक का सर्वोपरि कर्तव्य है—रोगी के प्राण की रक्षा करना। जैसे घर में आग लगी हो तो प्राथमिक कर्तव्य होता है—आग को बुझाना^२।

२ आत्ययिक स्थिति में जब रोगी वेदना को बर्दास्त न कर पाने की स्थिति में चीख-पुकार कर रहा हो, उस समय तात्कालिक वेदना-निवारक औषध तथा उपचार करना चाहिए।

३ रोगी के सकटहरण की आवश्यक व्यवस्था करने के पश्चात् रोग को किसी योग्यतम या उस रोग के विशेषज्ञ चिकित्सक के पास अविलम्ब भेज देना चाहिए।

४ विष-औषधों को वच्चों की पकड़ से दूर और लेविल लगाकर सुरक्षित स्थान में रखना चाहिए।

५ विषले पदार्थों को अति सुरक्षित ताला-बन्द स्थान में रखें, जहाँ खाने-पीने की वस्तुएँ न रखी जाती हों।

६ सकटकालोपयोगी औषधों को हमेशा तैयार रखना चाहिए। इन्हे ऐसे स्थान में रखे जिससे जरूरत पड़ने पर तुरन्त मिल जाये।

७ आकस्मिक चिकित्सा में अपने आस-पास जो भी उपयोगी वस्तुएँ मिल सके उनका प्रयोग करना चाहिए।

८ रोगी को श्वास लेने-में कठिनाई हो, तो तुरन्त कृत्रिम श्वास देने की व्यवस्था करें।

९ यदि रोगी को वमन हो रहा हो, तो उसकी गरदन एक पार्श्व में घुमाकर रखें, अन्यथा वमन पदार्थ श्वासनली में जाकर श्वास की रुकावट पैदा कर सकता है।

१० रोगी का स्थानान्तरण तब तक न करें जब तक उपयुक्त वाहन न मिले। एम्बुलेस या स्टेशन-वैगन द्वारा स्थानान्तरण कराये।

अरिष्ट का उदाहरण—

शयनं वसन यान गमन भोजन रुतम् । श्रूयतेऽमङ्गल यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥

—चरक० १० १२।३६

^१. मर्माणि वर्तित हृदय शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञा ।

—चरक० च० २६

^२ आतिपातिषु रोगेषु मिष्ठा विधिमिम चरेत् । प्रदीपागारवच्छीत्र कुर्यात् प्रनिक्रियाम् ॥

११ रोगी का जब तक ठीक-ठीक निदान न हो जाये, तब तक उसे उठने-वैठने, चलने-फिरने की इजाजत नहीं देनी चाहिए।

१२ रसोईघर के कर्मचारियों को सावधान करते रहना चाहिए कि खाद्य-सामग्री की जांच-परख करके ही उनका प्रयोग करे और भड़ारघर में केवल खाद्य सामग्री ही रखें। सभी समान ढंक कर रखना चाहिए।

१३ खाद्य और पेय पदार्थ अपने निर्धारित स्थान पर रखने चाहिए।

१४. घर-गृहस्थी के सामान तथा औषधों को उनके निश्चित स्थान में ही रखना चाहिए, जिससे ढूढ़ने से परेशानी न हो।

१५ अन्धेरे में कोई खतरनाक काम नहीं करना चाहिए। अनाडी आदमी को बिजली मिस्त्री का काम नहीं करने दे। गैस के चूल्हे को सावधानी से बन्द करना चाहिए। रसोइया को सदा ही सावधान रहना चाहिए कि खाद्यपदार्थ सुरक्षित रखी जाय। उसे आग की भट्टी से भी सर्वदा सावधान रहना चाहिए।

तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार (Electrolyte substance)

के असन्तुलनजन्य विकार^१

जल-असन्तुलनजन्य विकार और उनका उपचार

जल शरीर का पोषक और क्षतिपूरक है। शरीर के घटक द्रव्यों में जल का सर्वप्रमुख स्थान है। शरीर का ७० प्रतिशत भाग जल से निर्मित होता है। अस्थि जैसी कठोर धातु में भी जल लगभग अधीश है। शरीर के संवर्धन के लिए जल एक नितान्त आवश्यक द्रव्य है। जल का अत्पमात्रा में बार-बार पीना शारीरिक यन्त्रों के क्रियाकलाप के सचालन में सहायक होता है, देखें—‘मुहुर्मुहर्वारि पिबेदभूरि’।

शरीर के यन्त्रों की गतिशीलता के कारण शरीरगत जल का अनेक रूपों में क्षय होता रहता है और उसकी क्षतिपूर्ति के लिए जल पीना उपादेय है। जल के निकलने का मुख्य स्रोत मूत्रोत्सर्ग है। जल आहार द्रव्यों के पाचन से उत्पन्न मलों को घोलकर मूत्रमार्ग से वाहर निकालता रहता है। स्वेद या पसीने के रूप में भी जल का क्षय होता रहता है। स्वेद-निर्गमन से शरीरोष्मा के साम्य का नियन्त्रण होता है।

यदि जल का अथवा अन्य पेय द्रव पदार्थ का अत्प्रमाण में सेवन किया जाय या उष्ण वातावरण किंवा ग्रीष्मकाल के प्रभाव से पसीना अधिक निकलने लगे, तो मूत्र में अपेक्षित जल की मात्रा घटने से मूत्र का घनत्व बढ़ जाता है, जिससे मूत्रगत मलमूत्र लवण का तलछट बैठकर अश्मरी = पथरी (Stone) या शर्करा (Gravel) के रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार पित्ताशय में पित्त का घनत्व अधिक होने पर पित्ताश्मरी (Gall stone) बन जाती है।

^१. इस शीर्षक के लेखन में ‘डेविट्स-स प्रिन्सिपल्स’ लेखक—नॉन मैक्लीयॉड के १९५५ में सन्करण में मामार महायना ली गयी है।

त्वचा और फुफ्फुन से जल का वाष्पीभवन होने से भी जल का क्षय होता है। जल के क्षय का एक स्रोत मलोत्सर्ग भी है। महास्रोतस् में जल का समुचित प्रमाण न होने से मल का द्रवत्व न्यून हो जाता है और मल ग्रथित तथा शुष्क हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप मलावरोध, अधोवायु का अवरोध, आनाह और अर्श आदि विकार हो जाते हैं।

आहार में जल की मात्रा कम होने से आहार का पाचन और आहार रस का शोषण सम्यक् नहीं हो पाता है। पवव आहार रस का द्रवत्व अल्प होने से अन्यकला द्वारा उसका यथावत् शोषण नहीं हो पाता, जिसके कारण शारीर धातुओं की पुष्टि और क्षतिपूर्ति समुचित रूप में नहीं होती।

पोषण और क्षतिपूर्ति, इन दो प्रयोजनों के अतिरिक्त शरीर की अन्य आध्यन्तर क्रियाओं के सम्पादन के लिए भी शरीर में जल का यथायोग्य प्रमाण में होना आवश्यक है। जल रसधातु के रूप में शरीर में सचार करता रहता है और कुछ स्थानों में विभिन्न रूपों में स्थिर भी रहता है, जैसे—नेत्रगोलक, अस्थिसन्धि, जिह्वातल आदि में विभिन्न कफों के रूप में रसमय जल उपस्थित रहता है। त्वचा के विभिन्न स्तरों में वाह्य त्वचा का नाम उदकधरा है, जो अन्वर्यक है।

शरीर में मूत्र, स्वेद आदि का निर्माण करनेवाले कोषों में रस का यथोचित प्रमाण में प्रवेश होता रहता है और वे अपने-अपने मलों को योग्य प्रमाण में शरीर से बाहर निकालते रहते हैं एव शरीर को विशुद्ध रखते हैं। शरीर में द्रवत्व की न्यूनता होने पर मलनिर्गमन नहीं हो पाता, जैसे विशूचिका में मूत्रप्रवृत्ति का अभाव या मूत्राधार हो जाता है।

रस-रक्त में द्रवत्व समुचित हो, हृदय द्वारा इनका प्रेषण और दबाव बलवान् हो, तो धमनियों एवं केशिकाओं में पीड़न यथायोग्य होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप शरीर के कोषों में पोषक तथा धातुपाकोपयोगी अन्य द्रव्य योग्य प्रमाण में यथासमय प्रविष्ट हो सकते हैं। इस दबाव को रक्तचाप (Blood pressure) कहा जाता है। किन्तु कारणों से जब हृदय के माससूत्र दुर्बल हो जाते हैं, जिससे हृदय का जितना पीड़न होना चाहिए उतना प्रबल न होने से रक्त और रस का दबाव न्यून हो जाता है, इस स्थिति को धमनी-शैथिल्य या न्यून रक्तचाप (Low blood pressure) कहते हैं।

शारीरकोषओं को धातुपाक हेतु समुचित द्रव्यों की प्राप्ति तथा मलों के योग्य प्रमाण में उत्सर्जन के लिए शरीर को जलापूर्ति की निरन्तर आवश्यकता होती है। जल धातुपाक और मलपाक की क्रियाओं को उद्दीपित करता है। अत एव कतिपय रोगों में जल-चिकित्सा द्वारा आरोग्य-लाभ होते देखा जाता है। शरीर में कार्बो-हाइड्रेट आदि दहनशील पदार्थों के दहन से भी उनके कुल भार का आधा जल उत्पन्न होता है, इसीलिए चावल आदि द्रव्य मूत्रल होते हैं। उपयोगिता की दृष्टि में चौबीस घण्टे में ५ पाइण्ट जल शरीर में पहुँचाना ही चाहिए। जल शरीर के

प्रत्येक सेल का एक आवश्यक अवयव है। ऐसा कोई सेल नहीं, कोई उन्तु नहीं जहाँ जल का कुछ-न-कुछ अश न हो। शरीर के भार के १०० भागों में ६४ भाग जल का होता है। जल ओषजन और उदजन का सयोजित है। उदजन के दो परमाणु और ओषजन के एक परमाणु के रासायनिक संयोग से जल का एक अणु बनता है। जल का रासायनिक संकेत H_2O है। शरीर में प्रोटीन्स, वसा और कार्बोज के ओषजनीकरण से जल उत्पन्न होता है। रक्त और लसीका का अधिकांश जल ही होता है।

शरीर के कारण द्रव्य

मुख्य रूप से बारह मूलद्रव्य कोषों या उनसे बने शरीर का निर्माण करते हैं। उनमें भी प्रधान तीन हैं—१ कार्बन, २ उदजन (Hydrogen) और ३ ओषजन (Oxygen)। शेष तीन द्रव्य निम्नलिखित हैं, जिनका प्रमाण उक्त तीन द्रव्यों की अपेक्षा अत्यल्प होता है—१ नाइट्रोजन, २ फॉस्फोरस, ३ सोडियम, ४ पोटैशियम, ५ क्लोरीन, ६ कैलसियम, ७ आयरन, ८ मैग्नेशियम और ९ गन्धक।

ये द्रव्य विभिन्न समासों (Compounds) के रूप में शरीर में रहते हैं। इन समासों को दो प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—१ सेन्द्रिय समास या वे समास जिनमें कार्बन होता है तथा २ निरिन्द्रिय, जिनको सात द्रव्यों में समाविष्ट किया जा सकता है, जैसे—१ कार्बोहाइड्रेट, २ स्नेह (Fat), ३ प्रोटीन, ४ निरिन्द्रिय लवण, ५ जीवनीय (Vitamin), ६ एज्जाइम और ७ जल। अन्नपान के द्वारा ये द्रव्य मानव शरीर को उपलब्ध होते हैं।

कार्बोहाइड्रेट का प्रयोजन दहन और शक्त्युत्पादन है। स्नेहों का भी यही प्रयोजन है, किन्तु एक विशेषता है, कि मेद के रूप में उनका शरीर में सग्रह हो सकता है। कोषों और उनके द्वारा शरीर की पुष्टि और जीर्णोद्धार के लिए प्रोटीन्स का आहार के रूप में ग्रहण आवश्यक है। कई निरिन्द्रिय लवण किंवा खनिज द्रव्य शरीर में क्षारता का प्रमाण स्थिर रखते हैं। कई खनिज द्रव्य रस-रक्त या धातुओं के मध्य जल धातु के सन्तुलन का कार्य करते हैं। इनके तीन प्रमुख कार्य हैं—पुष्टि, क्षतिपूर्ति तथा अन्त-वहिं सावों और उनके सहचारी सावों का निर्माण। जीवनीय द्रव्य पुष्टि, वृद्धि और आरोग्यप्रद होते हैं।

क्षारता और अम्लता

शरीर में क्षारता और अम्लता का यथोचित प्रमाण में रहना उपयोगी है और विषम प्रमाण में (कम या अधिक) होना अनेक प्रकार के विकारों को जन्म देता है। जैसे—

गन्धक विभिन्न ग्राह्य अम्लों का एक अग होने से उपयोगी है। यह कई अन्त-सावों की रचना में भाग लेता है।

क्लोरीन सोडियम, पोटैशियम और कैलसियम क्लोराइड नामक समासों के रूप में रक्त तथा द्रव मलो (मूत्र-स्वेद-पुरीष) के अनिवार्य लवण बनाता है। ये लवण सुगमता में केशिकाओं या कोपों की दीवार के आर-पार नहीं जा सकते, अत जलाकर्षण शक्तिविशेष (ऑस्मोटिक प्रेसर—Osmotic pressure) होने से रक्त, धातु, मल, मूत्र आदि जिस किसी स्थान में रहते हैं, वहाँ जल का प्रमाण बनाये रखते हैं।

सोडियम आदि मूल द्रव्य, वाईकार्बोनेट, फॉस्फेट और प्रोटीन के आयन शरीर में उद्जन के आयनों को सम प्रमाण में रखने में अर्थात् शरीर की क्षारता और अम्लता की मात्रा समुचित रखने में भी उपयोगी है।

खाने का नमक (सैन्धव या भासुद्र आदि) सोडियम और क्लोरिन का बना एक समास है। वह महासौरम् में जल का प्रमाण सम रखता हुआ आनाह, उदावर्त आदि रोग नहीं होने देता। इसीलिए इन वातप्रधान रोगों में लवणों और क्षारों के सेवन का विधान बरलाया गया है, देखें—‘प्राशाश्र लवणोत्तरा’।

लवण रस के गुण

लवणरस वमन-विरेचन के द्वारा शरीर को शुद्ध करनेवाला, रुचिकारक, पाचक, कफ तथा पित्त का उत्पादक, पुरुष्पत्व तथा वात को नष्ट करनेवाला, शिथिलता एवं मृदुताकारक, वलनाशक और गले में दाह करनेवाला होता है।

लवण के अतिसेवन से हानि

लवण के अधिक सेवन से नेत्रपाक, रक्तपित्त, कोठ, क्षत, बली, पलित, खालित्य कुष्ठ, वीसर्प और तृष्णा रोग की उत्पत्ति होती है।

क्षार के गुण

यह उष्ण एवं तीक्ष्ण गुणयुक्त होने से पहले क्लेद उत्पन्न करता है और बाद में शोषण करता है। यह पाचन, भेदन और दाहकारक होता है।

क्षार के अतियोग से हानि

क्षार का अधिक भेदन करने से अन्धापन, नपुसकता, ‘पलित, खालित्य और हृदय में कर्तनवत् पीड़ा होती है।

अम्लरस के गुण

अम्लरन गाचक, रुचिकारक, पित्त-कफ तथा रक्त का दूषक, लघु लेखन, उष्ण स्पर्श में शीत, क्लेदकारक, वायुनाशक, स्निग्ध, वीर्य, मलावरोध, आनाह और दृष्टि को नष्ट करनेवाला, रोमाञ्चकारक, दन्तहर्पण (खट्टापन) कारक तथा नेत्र और भौंहों का मकोचक होता है।

अम्लरस के अतिसेवन से हानि

अधिक अम्ल के सेवन में भ्रम, पिपासा, दाह, तिमि, ज्वर, कण्डू, पाण्डुता, वीसर्प, शोथ विस्फोटक और कुप्तरोग होता है।

अम्लता और क्षारता का परीक्षण

जिस द्रव्य के घोल में नीला लिटमस-पत्र डालने से वह पत्र लाल हो जाये तो वह अम्ल (Acid), जाना जाता है। इसके विपरीत जिस द्रव्य के घोल में लाल लिटमस पेपर डालने पर नीला हो जाये तो उसे क्षार (Alkali) कहते हैं। इसी प्रकार जिन द्रव्यों के घोल में नीला या लाल लिटमस-पत्र डालने पर कोई प्रतिक्रिया न हो, उन्हें उदासीन (Neutral) कहा जाता है।

जिन पदार्थों को अम्ल कहा जाता है, उनकी विशेषता यह होती है कि उन्हें जल में डालने पर उनके अन्तर्गत उदजन (Hydrogen) के आयन² पृथक् हो जाते हैं जिससे द्रव का रस (स्वाद) अम्ल हो जाता है। उदजन के आयन जितनी सख्ता में पृथक् होगे, उसी के अनुसार वह द्रव्य न्यून या अधिक अम्ल होगा। जैसे, लवणाम्ल (Hydrochloric acid —हाइड्रोक्लोरिक एसिड, सूत्र—HCl) को जल में छोड़े, तो उसके घटक अणु उदजन और क्लोरीन के आयन विच्छिन्न हो जाते हैं। लवणाम्ल को तीक्ष्ण अम्ल कहा जाता है, क्योंकि उसके उदजन के आयनों का प्राय पूर्णतया विच्छेद हो जाता है। तक्राम्ल (Lactic acid) को मृदु कहा जाता है, क्योंकि उसके उदजन के आयनों का विच्छेद अल्प सख्ता में होता है।

ज्ञातव्य है, कि जैसे किसी द्रव्य की अम्लता (Acidity) उसके घोल में विच्छिन्न हुए उदजन के आयनों के अधीन है, उसी प्रकार किसी द्रव्य की क्षारता (Alkalinity) उसके उदजन और ओपजन के वर्ग हाइड्रोक्सील (Hydroxyl सूत्र—OH) के आयन के रूप में विच्छिन्न होने तथा उनकी इयत्ता (प्रमाण) पर अवलम्बित है, अर्थात् द्रव्य उतना ही क्षारीय होगा, जितना कि उसके घोल में उक्त द्रव्यों का विच्छेद होगा।

रस-रक्त में क्षारीय कि वा अम्लीय प्रतिक्रिया

रक्त की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है और अम्लता नगण्य-सी होती है। वैज्ञानिकों ने अम्लता की एक इकाई नियत की है। रक्त की अम्लता केवल ०,०००,०००,३२ इकाई होती है। अम्लता की इस सूक्ष्म मात्रा को प्रकृति रासायनिक परिवर्तनों द्वारा नियमित रखती है। यावजीवन दहन और शक्ति के प्रादुर्भाव के परिणाम-स्वरूप अङ्गाराम्ल (कार्बन-डाइ-ऑक्साइड) रस-रक्त में निरन्तर मिश्रित होता रहता है जो एक अम्ल है। पेशियों की चेष्टावश तक्राम्ल भी सर्वदा बनता रहता है, जो रम-रक्त में छोड़ा जाता है। यह भी अम्ल है। रम-रक्त की स्वाभाविक

² आयन नाम ऐसे काणों का है, जो विद्युत् से आविष्ट होते हैं। ये कण एक अणु (एटम—Atom) के रूप में ज्ञाने हैं अथवा अनेक अणुओं के वर्ग के रूप में होते हैं। इन काणों में से कई चूण विद्युत् (Negative electricity) में आविष्ट होते हैं और कई धन विद्युत् (Positive electricity) में, जैसे—लवण को जल में धोले तो वह अपने मोटियम और क्लोरीन इन दो पटक अणुओं में विच्छिन्न हो जाता है। इनमें सोटियम धन-विद्युदाविष्ट और क्लोरीन ऋण दिया गिया हाना है।

प्रतिक्रिया स्थिर रखने के लिए प्रकृति को सामान्यतया इन दो अम्लों को ही क्षार रूप में परिणत करना पड़ता है। प्रकृति अङ्गाराम्ल को सर्जक्षार (सोडा बाइकार्ब) के रूप में परिणत कर देती है। इसमें क्रिया यह होती है कि रस-रक्त गत सैन्धव और अङ्गाराम्ल के सयोग से सर्जक्षार बनता है। तक्राम्ल को दो प्रकार से अनम्ल किया जाता है—१ सर्जक्षार और तक्राम्ल के सयोग से कैलसियम लैब्टेट और अङ्गाराम्ल बनते हैं अथवा २ क्षारीय सोडियम फॉस्फेट और तक्राम्ल का सयोग होकर सोडियम फॉस्फेट और अम्ल सोडियम फॉस्फेट बनते हैं।

प्रोटीन्स के विश्लेषण से अम्ल द्रव्य बनते हैं। अम्लरक्तता का विशेष कारण स्नेहों का अपूर्ण पाक है। यह अपूर्णता दो विकृतियों में देखी जाती है—अनशन की स्थिति में और इक्सुमेह में। अनशन की स्थिति में बाहर से कार्बोहाइड्रेट नहीं जाते और शरीर में इनका सचय नगण्य है। परिणाम यह होता है कि धातुपाक के लिए पूर्वमन्त्रित स्नेहों का ही दहन होता है, परन्तु कार्बोहाइड्रेट्स के पाक से उत्पन्न द्रव्य उपलब्ध न होने से स्नेहों का पाक अपूर्ण रह जाता है, जिससे कीटोन नामक द्रव्य उत्पन्न होता है जो रस-रक्त में मिश्रित होकर अपनी अम्लता से उनकी अम्लता में वृद्धि करता है।

इक्सुमेह में इन्सुलीन की क्षीणता के कारण कार्बोहाइड्रेट्स का पाक अपूर्ण होता है। इस स्थिति में धातुपाक के लिए स्नेहों का उपयोग होने लगता है, परन्तु कार्बोहाइड्रेट्स के पाक की अपूर्णता के कारण स्नेहों का पाक भी पूर्ण नहीं हो पाता एवं कीटोन नामक द्रव्य की उत्पत्ति होती है और वह रस-रक्त में मिलकर अपनी अम्लता से उनकी अम्लता बढ़ा देता है। अम्लरक्तता के कारण शिरःशूल, बार-बार बमन और श्वासकष्ट होता है। अम्लता के और अधिक बढ़ने पर मूच्छा आने लगती है। इसे इक्सुमेहिक मूच्छा (डायबिटिक कोमा) कहते हैं।

गर्भिणी के घातक बमन में भी कार्बोहाइड्रेट्स के अयोग के कारण ही अम्लरक्तता और तज्जन्य लक्षण होते हैं। एवं आमाशय और अन्त्रों के पाक (Gastro-enteritis) में भी अम्लरक्तता और तज्जन्य लक्षण होते हैं।

कीटोसिस का उपचार

रस-रक्त में कीटोन के आधिक्य से अनशन एवं इक्सुमेह में कार्बोहाइड्रेट के अयोग के कारण स्नेहों का उपयोग होने से और उनका पाक अपूर्ण रह जाने से कीटोसिस की स्थिति होती है।

अनशनजन्य विकृति में कार्बोहाइड्रेट्स का सेवन कराना चाहिए। इक्सुमेह में विकृति का कारण इन्सुलीन का हीनयोग होता है, अतः इन्सुलीन की सूचीवस्ति देनी चाहिए।

अम्लोत्पादक और क्षारोत्पादक खाद्य पदार्थ

जितने मौलिक हमारे शरीर में पाये जाते हैं, उनमें में कुछ अम्लोत्पादक हैं और कुछ क्षारोत्पादक हैं। मुख्य अम्लोत्पादक मौलिक ये हैं—फास्फोर्ग, गन्धा

और कलोरीन। मुख्य क्षारोत्पादक मौलिक हैं—फैलमियम, पोटेशियम, सोडियम, लौह और मैग्नेशियम। जब दोनों प्रकार के मौलिक उपयुक्त परिणाम में रहते हैं, तो रक्त एवं तन्तुओं की प्रतिक्रिया ठीक रहती है; अर्थात् न अधिक क्षारीय और न अधिक अम्लीय। जब प्रतिक्रिया अधिक क्षारीय अथवा अधिक अम्लीय हो जाती है तब अस्वस्थता होती है। दूध को छोड़कर कोई ग्राश ऐसा नहीं है, जिसमें सब मौलिक उचित परिणाम में हो। दूध में भी लौह उनना नहीं होता जिनना शरीर को चाहिए।

अधिक अम्लोत्पादक (अल्प क्षारोत्पादक) खाद्य पदार्थ

मास, अण्डे, दालें, सूखे फलों की गिरी, अचरोट आदि तथा गेहूं, चावल, मक्का, जौ इत्यादि।

अधिक क्षारोत्पादक (अल्प अम्लोत्पादक) खाद्य पदार्थ

हरे पत्ते वाले साग, करमकाला, पालक, फूलगोभी, आलू, शकरकन्द, मूली, नारंगी, सेव, केला आदि।

रक्त में और शरीर के कोपो तथा रन्तुओं में क्षारीय या अम्लीय प्रतिक्रिया की समरसता के लिए मिला-जुला कुछ क्षारीय और कुछ अम्लीय खाद्य पदार्थ भोजन में लेना चाहिए। अनाज के साथ दाल, मास, हरे पत्ते का साग, आलू और फलों का प्रयोग करना चाहिए।

दूध न तो अम्लोत्पादक होता है और न ही क्षारोत्पादक।

जल और इलेक्ट्रोलाइट के सन्तुलन में वाधा

(Disturbances in Water and Electrolyte Balance)

रोगों के कारण या चिकित्सा सम्बन्धी कारणों से अथवा औपध-प्रयोग के व्यक्तिगत क्रम के फलस्वरूप शारीरिक द्रव के सगठन की जटिलता उत्पन्न हो जाती है। यह वाधा न केवल अनेकविधि रोगों के लक्षणों को प्रकट करती है, अपितु शारीरिक क्षतिपूर्ति में भी रुकावट डालती है। इसलिए यह आवश्यक है कि शारीरिक द्रव के रासायनिक सगठन को यथास्थिति में कायम रखा जाय और उसका असन्तुलन न होने दिया जाय। इस प्रकार के असन्तुलन का एक व्यापक चिह्न जलाल्पता या डीहाइड्रेशन (Dehydration) है। इस असन्तुलन का एक हेतु अविवेकपूर्ण अन्त-शिरीय समबल-आइसोटोनिक (Isotonic Na Cl) मोलूशन का प्रयोग है।

सामान्यत जल और इलेक्ट्रोलाइट असन्तुलन निम्नलिखित हैं—

- १ सोडियम का विघटन या हास।
- २ प्रारम्भिक जल का विघटन या हास।
- ३ पोटेशियम का विघटन या हास।
- ४ पोटेशियम की अधिकता और विषमयता।
- ५ मैग्नेशियम की कमी और विषमयता।

६. जलीय विप्रभयता ।

७. सोडियम और जल का सञ्चय ।

सोडियम का विघटन या ह्लास

सोडियम का स्वाभाविक सन्तुलन उसके उत्सर्ग और ग्रहण की मात्रा पर निर्भर है । स्वस्थ दशा में और समशीतोष्ण वातावरण में मल तथा त्वचा से सोडियम का उपेक्षणीय मात्रा में क्षरण होता है । लवण का जल के सन्तुलन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । सोडियम की क्षति होने पर शरीर के जल की मात्रा उसके साथ सन्तुलित रहने की मात्रा तक घट जाती है । शायद ही कभी ऐसा होता है, कि सोडियम का शुद्ध ह्लास या विघटन विना आवश्यक मात्रा में जल के ह्लास के होता हो । सम्भवतः अस्वाभाविक रूप से लवण और जल के ह्लास के परिणामस्वरूप यह स्थिति होती है, जब कि निर्वाध रूप से जल ग्रहण की अनुमति या प्रोत्साहन दिया जाता है । सोडियम के ह्लास का एक कारण अवाञ्छनीय वातावरण में रहने से पसीने का अधिक होना है और जब शरीर के द्रवाश की आपूर्ति लवण रहित द्रव से की जाती है ।

सोडियम-ह्लास के अन्य कारण

समशीतोष्ण प्रदेशों में मूत्र के द्वारा अथवा सोडियमयुक्त मलद्रव के नि सरण से लवणहीनता होती है । तीव्र या जीर्ण ग्रहणी रोग, नाडीव्रण, स्वेद-निर्गमन, वमन आदि रोगों के कारण भी सोडियम का ह्लास होता है ।

सोडियम-ह्लास का परिणाम

लवण का ह्लास वहि कोशस्थ द्रव की राशि (Volume) को घटा देता है । साल्ट और जल का विषम प्रकार का ह्लास (Disproportionate loss) वहि - कोशस्थ द्रव के प्रवाह-बल को विच्छिन्न कर देता है (Tends to render extracellular fluids hypotonic) । प्रधान रूप से साल्ट का ह्लास होना वहि - कोशस्थ द्रव के विस्तार को और प्लाज्मा को प्रभावित करता है, जब कि तन्तुओं को पर्याप्त जल प्राप्त होता है । मुख्यतः लवण का ह्लास वहि कोशस्थ जलस्तर को प्रभावित कर शारीरिक लक्षणों को उत्पन्न करता है । जैसे—त्वचा के लचीलापन (Elasticity) का ह्लास, अक्षिगोलकान्तरिक दबाव की कमी और जिह्वा की शुष्कता आदि होना, तृष्णा की अधिकता, मूत्राल्पता, यूरीमिया का बढ़ना आदि । नाड़ी की गति तीव्र होती है, त्वचा और शाखाएँ पीली और ठण्डी हो जाती है ।

चिकित्सा

मुख द्वारा लवण-जल का प्रयोग कराना चाहिए । आइसोटोनिक (Na Cl) सोलूशन का अन्त शिरीय प्रयोग करना चाहिए । जब रक्तचाप सामान्य हो और रोग उग्र न हो, तो सभी स्थितियों में उक्त सोलूशन का प्रयोग करना हितकर है ।

सामान्यत वयस्क रोगी के लिए २ घण्टे में २ या ३ लीटर आइसोटोनिक सोलूशन का अन्त शिरीय प्रयोग आवश्यक होता है। अधिक गम्भीर स्थिति में ४ से ८ लीटर तक उक्त सोलूशन दिया जाना चाहिए। इम म्थुति के नियन्त्रण के लिए आइसोटोनिक सोडियम क्लोराइड का प्रयोग समुचित है। प्रथम २-३ लीटर की मात्रा २-३ घण्टे में दे देना चाहिए और अधिक मात्रा २४ से ४८ घण्टे में देनी चाहिए। लवणहीनताजन्य लक्षणों में कमी, रक्तचाप का नार्मल होना, नाड़ी की गति सामान्य होना आदि सोडियम-हासजन्य अभन्तुलन के दूर होने के परिचायक हैं।

प्रारम्भिक जल-हास

(Primary Water Depletion)

प्राय अति सामान्य रासायनिक व्यतिक्रम के फलस्वरूप जल का हास हो जाता है। शरीर में जलसन्तुलन का हास दो प्रकार से होता है—या तो स्वतन्त्ररूप से या लवण से सम्बन्धित। वहि कोशस्थ द्रव की आसृतीय (Osmole) सान्द्रता (Concentration) बढ़ने लगती है। ५ से १ लीटर तक जल का हास प्रतिदिन होने लगता है, वह चाहे वाष्पीभवन से हो या स्वेदनिर्गमन से हो। यह क्षति लगातार होती रहती है और इसका जल पीने से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जल के निर्गमन का दूसरा मुख्य स्रोत मूत्रोत्सर्ग है।

प्रारम्भिक जल-हास का कारण

सोडियम-हास की अपेक्षा जल के हास के उदाहरण कम ही मिलते हैं। शरीर में आवश्यक जल-सन्तुलन स्थापित रखने के लिए जितना जल पीना चाहिए, उतना नहीं पीने से जल का हास होता है। यह ऐसे रोगियों में होता है, जिन्हे निर्गण-कृच्छ्रृता (Dysphagia), अन्नलिका-सकोच, बेहोशी, अवसाद, वैराग्य अथवा वृद्धावस्था होती है।

श्वास और स्वेद-निर्गमन से होने वाली आवश्यक रूप की क्षति की पूर्ति न करने से जल का हास होता है। परमअवटुकावृद्धि और ज्वर होने से जल का हास होता है। डायबिटीज और वृक्कशोथ में मूत्रधारण-क्षमता के हास के कारण अधिक मूत्रोत्सर्ग होता है। अधिक प्रोटीनयुक्त पदार्थ और नमक युक्त पदार्थ खाने से भी जल का हास होता है।

जल-हास का परिणाम

शरीर में अपेक्षित जल का प्रमाण कम होने पर वहि कोशस्थ द्रव अधिवल्य (Hypertonic) हो जाता है। तब आइसोटिक प्रेशर के बढ़ने से सेलो से जल सवित होता है और अन्त कोशीय जलात्पता हो जाती है। एवं अन्त कोश तथा वहि कोशों में समानरूप से जलात्पता होती है। ऐसी दशा में जलात्पता के लक्षण लवणहीनता (Salt depletion) की अपेक्षा कम ही प्रकट होते हैं। यदि रोगी

वृद्ध या व्याकुल न हो, तो प्यास सामान्य होती है। सामान्यत एक सीमा तक सेलो से स्रवित जल, अन्त चहि कोशो मे जल का सन्तुलन स्थापित करता है और एक सीमा तक रक्तचाप आदि सामान्य होते हैं, किन्तु अधिक जलात्पता होने पर रोगी मानसिक अशान्ति, उद्विग्नता, अगो मे वेदना, अकडन, निगरण-कष्ट तथा जिह्वाशोष का अनुभव करता है। गम्भीर स्थिति मे त्वचा के तन्तु विलक्षण रूप से सने हुए आटे की तरह सशिलप्त और घन एव सान्द्र हो जाते हैं। मूत्र की मात्रा घट जाती है और ब्लड-प्लाइया बढ जाती है।

चिकित्सा

लवणरहित द्रव का पर्याप्त मात्रा मे सेवन करना चाहिए। आइसोटोनिक सोडियम क्लोराइड सोलूशन का प्रयोग विपरीत प्रभाव प्रकट करता है। यदि रुग्ण होश मे हो और उसे बमन न हो रहा हो, तो मुख से थोड़ा-थोड़ा जल पिलाना चाहिए, जितने से प्यास मिट जाये। उत्पश्चात् आवश्यकतानुमार १-२ लीटर से ४-५ लीटर तक प्रतिदिन जल पिलाना चाहिए। ५% ग्लूकोज मिले जल का अन्त शिरीय प्रयोग करना चाहिए। जल के ह्रास के अनुपात से जल का प्रयोग करना चाहिए। सामान्यर गम्भीर रोगी के लिए ५% ग्लूकोज वाले जल की २ से ४ लीटर की मात्रा २४ घण्टे मे देना पर्याप्त है। अधिक गम्भीर स्थिति मे ५ से १० लीटर जल की आवश्यकता होती है।

रुग्ण के लक्षणो के शमन और मूत्र की मात्रा-वृद्धि से आरोग्यलाभ का आकलन किया जाता है। २४ घण्टे मे १ से ५ लीटर तक मूत्र विसर्जित हो सकता है। यदि मूत्राशय के विकास के कारण जल का ह्रास हुआ हो, तो लगातार अधिक मात्रा मे जल का सेवन करना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि जब जल का ह्रास साल्ट-ह्रास का सहचारी हो, तो आइसोटोनिक (Na Cl) सोलूशन और जल इन दोनों की उपयोगिता है और दोनों का प्रयोग साथ-साथ करना चाहिए। जल और साल्ट के ह्रास के अनुपात से ही इनका प्रयोग करना चाहिए।

पोटैशियम का ह्रास

(Potassium Depletion)

- शरीर मे पोटैशियम के ह्रास से अनेक तरह के लक्षण प्रकट होते हैं। कोई स्वस्थ व्यक्ति प्रतिदिन जितनी मात्रा मे पोटैशियम ग्रहण करता है, वह उसका एक-तिहाई शौच के साथ वाहर निकलता है और दो-तिहाई मूत्र के साथ निकलता है।

पोटैशियम के ह्रास का कारण

महास्रोत और मूत्र से अधिक मात्रा मे पोटैशियम के बाहर निकलने से शरीर मे पोटैशियम का ह्रास होता है। तीव्र गम्भीर या जीर्ण ग्रहणीरोग और उदर-विकार या श्वास से पोटैशियम का क्षय होता है। अन्य कारण निम्न हैं—

१ शरीर की सेलों के लघु छिद्रमय आयनिक पम्प की क्षमता का ह्रास होना तथा २ पोटैशियम का दूरस्थ नलिकाओं के छिद्र में फैल जाना।

पोटैशियम शरीर की सेलों में रहता है। वे परिस्थितियाँ जो वहि स्थ कोशों के द्रव में पोटैशियम को भेजने का उपक्रम करती हैं, मूत्र द्वारा पोटैशियम का ह्रास करती हैं।

पोटैशियम के ह्रास का परिणाम

मासपेशी-दुर्बलता, मानसिक क्षोभ, उदर में तनाव तथा आघ्यान आदि लक्षण पोटैशियम के ह्रास के सूचक हैं। ये लक्षण अन्य रोगों में भी होते हैं, इसलिए इनमें पोटैशियम का प्रयोग करने से यदि लाभ हो, तो पोटैशियम के ह्रास होने का निदान करना चाहिए। पोटैशियम के ह्रास से वृक्कों की धारण-क्षमता का ह्रास हो जाता है, जिससे बहुमूत्रता (Polyuria) और तृष्णा की अधिकता होती है। गम्भीर रूप से पोटैशियम का ह्रास होने पर हृदय की कार्यक्षमता का ह्रास होता है और शोथ उत्पन्न होता है। पेशी-दौर्बल्य, मृदु, पक्षाधार और आन्त्रशूल होता है। यदि समुचित चिकित्सा न की गयी, तो रोगी को मृत्यु सम्भाव्य हो जाती है।

चिकित्सा

मुख द्वारा अथवा अन्त शिरा सूचीवेद्य द्वारा पोटैशियम का प्रयोग करना चाहिए। इसका मुख द्वारा प्रयोग अल्प हानिकर है। सामान्यत प्रतिदिन पोटैशियम २-३ ग्राम की मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

१ पोटैशियम-ह्रास की मध्यम श्रेणी की गम्भीरता (About 400 MMO) का उपचार प्रतिदिन मौखिक रूप में १०-१५ ग्राम तक पोटैशियम क्लोराइड के प्रयोग से किया जा सकता है। पोटैशियम बहुल आहार के साथ कुछ दिनों तक फल और फलों के रस का सेवन कराना चाहिए।

एंटेरिक कोटेड (Enteric coated) पोटैशियम क्लोराइड की गोलियाँ कभी-कभी महास्रोत में दाह उत्पन्न कर देती हैं। पोटैशियम क्लोराइड की स्लो रिलीज (Slow release) गोलियाँ अपेक्षाकृत अल्प उपद्रवकारक होती हैं। प्रत्येक टेबलेट में ६०० मि० ग्रा० KCl की मात्रा होती है।

२ जो रोगी मुख द्वारा पोटैशियम लेने योग्य नहीं होते, उन्हे अन्त शिरामार्ग से पोटैशियम क्लोराइड देना चाहिए, किन्तु जब रासायनिक परीक्षण से हाइपो-कैलीमिया (Hypokalaemia) का होना प्रमाणित हो जाय, तभी देना चाहिए। पोटैशियम क्लोराइड का अन्त शिरीय प्रयोग तभी करना चाहिए, जब कि मूत्राधार या अल्पमूत्रता हो और जब पुनः रासायनिक परीक्षण की सुविधा उपलब्ध होने की सभावना हो।

पोटैशियम की अधिकता और विषमयता

अस्वाभाविक रूप से जब पोटैशियम रक्त किंवा बहि कोशस्थ द्रव (Extra-cellular fluid) में जमा हो जाता है तो मूत्राल्पता, मूत्रकूच्छ या मूत्राधार

हो जाता है। भावान्वय युक्तो तो निक्षिप्तता में वह नियति रोती है। जिसी कारणबन रक्तात्पत्ता होना या गोट लगना या गम्भीर न्यून में एडीगल्न डिजीज (Addison's disease) होने के साथ रक्तगत्तन की पश्चिमा में बाधा उपस्थित हो जाती है। यह नियति दायरिटा केटोएनिकोमिस (Diabetic ketoacidosis) में भी हो जाती है, यदि पर्याप्त इन्सुलीन और अन्त नियत गोल्तुण्णन द्वारा उचित उपचार न होना जाए। युक्त लोप्त यूक्त-नियतियता के रौप्यी हाईपरकॉलीमिया (Hyperkalaemia) में यहाँ भी दार्त्ति है।

पोटैशियम की अधिकता के परिणाम

हाइपरकॉलीमिया हो जाती है, जोर दग्ध अक्सिल मुस्त, लायर और तन्त्रायुक्त हो जाता है। धीर-धीर पद्धताएँ और युक्तिहाता बढ़ती जाती हैं, तथा युक्त पद्धाधार हो जाता है। नाड़ी अनियमित होती है और दृश्यमन्दता बढ़ जाती है। विपाक्त क्षयण दीप्ति एवं पुनः पुनः नियान पर रक्त की नियति गत जायजा नेते रहना चाहिए।

चिकित्सा

१. नर्वप्रवर्ष पोटैशियमजनित विपाक्तता के साथ उल्लम्भ गूप्तात्पत्ता और मृत्युपात्र या नियानरण गरना चाहिए।

२. युक्तो यी नियिक्यता में मेवनीय उचित पथ्य की व्यवस्था करें।

३. तत्काल ऐसे आहार (फल या फलों के रस) का भेवन गेंक देना चाहिए, जिन आहारों में पोटैशियम की बहुलता हो।

४. नमुचित उपायों द्वारा इव जल का मन्तुलग बनाये रखना चाहिए।

५. धानुषाक या भेटाखोनिजमजनित अपवा श्वास-मन्दान गम्यन्धी अम्लोत्कर्प का नुधार करने का प्रयास किया जाय।

६. वहि कोशस्थ द्रव में पोटैशियम को मेलो में स्थानान्तरित करने के लिए गुकोज और इन्सुलीन का प्रयोग करना चाहिए।

७. गलने योग्य (Soluble) इन्सुलीन की १० यूनिट की मात्रा अधस्त्वक् मूचीवेघ से दें और ५० ग्राम ग्लूकोज मुख में दें। इस मात्रा को प्रति २ में ४ घण्टे बाद दुहराना चाहिए। यदि इसके साथ-साथ २ से १ लीटर तक आइसोटोनिक सोटियम बाईकार्बोनेट (Isotonic sodium bicarbonate) का मिरा में सूचीवेप्र किया जाय, तो अधिक लाभ होगा।

८. कैल्शियम ग्लूकोनेट (१० प्रतिशत) १० मिली० लिरा द्वारा देने से और पुनः २-३ घण्टे बाद प्रयोग करने में पोटैशियम की विपाक्तता का हृदय पर पड़ने-वाला प्रभाव मन्द जाता है।

९. यदि उपर्युक्त उपचार असफल हो जाये और पोटैशियम का संग्रह होना जारी रहे, तो अन्वावरणीय डायलिसिस अथवा हीमोडायलिसिस (Peritoneal dialysis or haemodialysis) द्वारा पोटैशियम को हटाना चाहिए।

मैग्नेशियम की न्यूनता और विषाक्तता

मैग्नेशियम की न्यूनता का कारण वहुधा अधिक समय तक अतिसार या वमन होना होता है, जिसकी चिकित्सा में मैग्नेशियम रहित पोषक द्रवों का प्रयोग किया गया हो। कभी-कभी दीर्घकाल तक मूत्रवर्धक औपचार्यों के सेवन से भी यह स्थिति हो जाती है। कदाचित् जीर्ण अतिसार होने के साथ कुपोषण होना भी इसका कारण होता है।

लक्षण

नाड़ियो में और मासपेशियो में कम्पन होना, लासकायसदृश (Choreiform) गतिशीलता, विस्तर के कपड़ों को निष्प्रयोजन नोचना, मानसिक अवसाद, घबड़ाहट, उत्तेजना, बेहोशी, आक्षेप और तरह-तरह के अत्यन्त उत्पन्न होना आदि लक्षण मैग्नेशियम के हास के कारण होते हैं।

चिकित्सा

पोषक तत्त्वों द्वारा मैग्नेशियम की कमी का उपचार सुचारू रूप से किया जा सकता है। 50 MMOL मैग्नेशियम क्लोरोइड को ५% ग्लूकोज वाले १ लीटर घोल के साथ मिलाकर अथवा आइसोटोनिक सोलुशन के साथ १२ से २४ घण्टे तक देना चाहिए। इसे प्रतिदिन पुनर्पुन दे, जब तक कि प्लाज्मा का संगठन स्वाभाविक स्तर पर न आ जाये।

विषाक्तता

तीव्र वृक्क विकार के कारण अथवा जीर्ण वृक्क विकार में मैग्नेशियम के हास के कारण विषाक्तता हो जाती है, जिससे केन्द्रीय नाईमण्डल प्रभावित होता है।

जल की विषाक्तता

(Water Intoxication)

एक स्वस्थ व्यक्ति बिना किसी परेशानी के पर्याप्त मात्रा में जल पी सकता है और प्रबल रूप से मूत्रोत्सर्ग द्वारा उसे बाहर निकाल सकता है। जब इलेक्ट्रोलाइट (Electrolyte) के बिना जल का सेवन किया जाता है, तो मूत्र के रूप में जल का निकलना, गुत्सिकीय परिस्नावण (Glomerular filtration) तथा वृक्क की दूरस्थ क्षुद्रनलिकाओं की मूत्र-निर्माण की शक्ति पर निर्भर होता है। विभिन्न कारणों से पीड़ित ऐसे भी रोगी होते हैं जो जल तो अधिक परिमाण में पीते हैं, किन्तु जल के अनुपात में उनके वृक्क मूत्र का निर्माण नहीं करते। ऐसे रोगी दोनों या जीर्ण वृक्कीय व्याधि, उपवृक्कस्तर की अक्षमता, गम्भीर हृदय-कार्यक्षमता अथवा याकृत अपक्रान्ति (Hepatic cirrhosis) के पीड़ित होते हैं। कभी-कभी फुफ्फुस या डिम्बग्रन्थि के अंतर्द्वारा एक दुरुपाचेय (Polypeptide) मूत्र-निर्माणवरोधक तत्त्वों से युक्त ऐसा स्नाव छोड़ते हैं जो जल की विषाक्तता उत्पन्न करते हैं। शल्यकर्म के द्वारा मूत्रवाहिनी-मकोच की स्वतन्त्रता होने से शल्यकर्म के पश्चात वे

अग मूत्र-निर्माण में अद्यम हो जाते हैं। कुछ औपर्यं भी मूत्रावरोध को प्रोत्साहन देती हैं, क्योंकि उनमें मूत्र-निर्माणरोधी हार्मोन जैसा प्रभाव होता है, उनसे भी जल की विपाक्तता होती है।

लक्षण

ऐसी स्थिति में घोड़ा भी जल पीना प्लाज्मा की आम्योनेलिटी (Osmolality) और नोटियम के एकत्रीभवन की क्षिया को पठा देता है एवं मस्तिष्कविकृति के लक्षणों को उत्पन्न करता है, जैसे—गिर में चक्कर आना, गिर शूल, वेचैनी, चमन और माननिः व्याकुलता होती है।

अधिक गम्भीर रूप में जड़यिपानकर्ता होने पर आधेप, वेहोणी और मृत्यु होने की नशाबना होती है।

चिकित्सा

कुछ दिनों तक जल न दिया जाय। गम्भीर रोग में १०० मिली० ५ प्रतिशत नोटियम क्लोराइट सॉल्यूशन गा अन्त शिरीय नूचीवेध करना चाहिए। यदि मन्तोपजनक लाभ न हो, तो पुन कुछ घण्टे के बाद इसी प्रकार नूचीवेध से औपर्यं में दे। एडोमन्स टिजीज में और अवृंद के कारण हाइपोनेट्रिमिया (Hyponatraemia) में फ्लुड्रोकार्टीसोन (Fludrocortisone) का प्रयोग लाभदायक होता है।

सोडियम और जल का सञ्चय

(Sodium And Water Accumulation)

स्वस्थ दण में विभिन्न आहारद्रव्यों में रूप में प्रतिदिन बड़ी मात्रा में सोडियम का सेवन किये जाने पर भी शरीर में एक तुच्छ परिमाण में ही वह गृहीत होता है। जब आनुपस्थिक रूप से सोडियम के सञ्चय के साथ स्थिर सोडियम की अवशिष्ट राशि होती है तो वृक्कों में उभका स्रबण होता है, जिसकी खाये हुए सोडियम की मात्रा के साथ कोई तुलना नहीं होती। सामान्यत जलनिर्हरण की रुकावट के साथ ही सोडियम का सञ्चय होता है, ताकि वहि कोश में सोडियम का एकत्रीभवन वस्तुत प्राकृतिक रूप में परिवर्तित न हो जाय। जब अवरुद्ध द्रव का मामान्य रूप में वितरण होने लगता है, तो वहि कोश में सोडियम के व्यय की मात्रा का पता नहीं चल पाता, जब तक कि वह मात्रा बढ़कर १५ % न हो जाय।

लक्षण

जल और सोडियम का सञ्चय होने से हाइपोनेट्रिमिया हो जाती है, जिससे आज्मोटिक प्रेमर कम हो जाता है, जैसा कि वृक्कम्वन्धी रोगों में होता है। जब द्रववाही कोषों से द्रव सेलों में स्थानान्तरित होता है और शिरीय जल-स्थिति का दबाव बढ़ जाता है तो हृदय-नगति में अवरोध की आशङ्का होती है, और वृक्कों में जल और लवण का अवरोध होना तीव्र वृद्धिशील गुत्तिमीय वृक्कशोथ का

जनक होता है। अन्य प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं, जो आगे चलकर लवण और जल के अवरोध को बढ़ावा देती हैं।

कॉर्टीसोन (Cortisone), कॉर्टीकोट्रॉफिन (Corticortropin), एण्डोजन्स (Andogens) और ईस्ट्रोजेन (Oestrogen) मिश्रित गर्भ-निरोधी (Contraceptive) द्रव्यों का प्रयोग जल और लवण का अवरोधक होता है। ये वृक्क को प्रभावित करते हैं।

दूसरे ड्रग्स भी यह कार्य करते हैं, जैसे—कार्बेनोक्सोन (Carbenoxone), फेनिलबूटाजोन (Phenilbutazone) और अन्य हाइपरटेन्सिव ड्रग्स प्रायः सामान्य गर्भाविष्ठा में, वृक्कविकार में और मूत्र में प्रोटीन जाने की स्थिति में शोथ हो जाता है।

चिकित्सा

१. वह सभी उपचार करना चाहिए जो शोथ को दूर करने में सक्षम हो।

२. हृदय की कार्यक्षमता में डिजिटेलिस, गुत्सिकीय वृक्कशोथ (Glomerulonephritis) में कोर्टीकोस्टेराइड (Corticosterone) और हाइपोप्रोटीनीमिया (Hypoproteinæmia) में प्लाज्मा प्रोटीन का अन्तर शिरीय प्रयोग अथवा लवणरहित एल्ब्युमीन का प्रयोग करना चाहिए।

३. अपश्य सेवन से उत्पन्न शोथ में, याकृत अपक्रान्ति में और वृक्कशोथ में भरपूर प्रोटीनयुक्त आहार देना चाहिए।

४. आहार में कच्चे पदार्थों का सेवन तथा लवण एवं जल का सेवन प्रतिषिद्ध करना चाहिए।

५. ऐसे प्रबल प्रभावकारी द्रव्यों का प्रयोग कराये जो लवण एवं जल का निर्हरण करे। जो द्रव्य वृक्कनली द्वारा होनेवाले सोडियम के शोषण को रोके और नलियों के द्रव में घुलनशील द्रव्यों की वृद्धि करे जिससे अधिक मात्रा से मूत्रोत्सर्ग हो।

आवश्यकतानुसार उच्च शक्तियुक्त मूत्रवर्धक (High potency diuretic) औषधों का प्रयोग करे। जैसे—फ्लूसेमाइड (Frusemide) ४० से ८० मिग्रा० तक प्रतिदिन मुख से देवें अथवा शिरा द्वारा २० से ४० मिग्रा० तक प्रयोग करे।

इसी प्रकार मध्यम शक्ति (Medium potency) या अल्पशक्ति (Low potency) वाले मूत्रवर्धक औषधों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार की औषधों का विशेष विवरण इसी पुस्तक के मूत्रकृच्छ्र-मूत्राधात तथा अझरी शीर्षक में देखें।

दृग्य-दाह

आचार्य मुश्शुत ने कहा है कि जो रोग औषध, शस्त्र और क्षार के प्रयोग से

नहीं ठीक होते हैं, वे रोग अग्नि द्वारा जलाने से ठीक हो जाते हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि अग्नि^१ से जले हुए रोगों की पुन उत्पत्ति नहीं होती।

अग्नि द्वारा जलाये जाने के लिए—त्वचा के दहनकर्म में पिप्पली, बकरी की मिंगनी, गोदन्ती, बाण और शलाका का प्रयोग, मांसगत दहनकर्म में सोना, चाँदी, तावाँ आदि धातुओं का, प्रयोग एव सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थिगत रोगों के दहनकर्म में मधु, तेल, धी आदि स्नेहों के उपयोग का विधान बतलाया गया है^२।

दग्ध के प्रकार

रुक्ष दग्ध (Burn)	स्निग्ध दग्ध (Scalds)
------------------------	----------------------------

१ शुष्क द्रव्यों के ताप (Dry heat) से होनेवाले दग्ध को रुक्ष दग्ध (Burn) और २ ताल द्रव्यों के ताप (Moist) से होनेवाले दग्ध को स्निग्ध दग्ध (Scalds) कहते हैं।

अग्निकर्म के स्थल

१ त्वचा, मास, शिरा, स्नायु, सन्धि या अस्थि में होनेवाली वायुजन्य तीव्र पीड़ा में।

२ जिस व्रण में मास उभर आये और कठोर तथा शून्य हो जाये।

३ ग्रन्थि, अर्श, अर्वुद, भग्नदर, अपची, श्लीपद, चर्मकील, तिलकालक, आन्त्र-वृद्धि, सन्धि के रोग तथा सिराओं के कट जाने पर।

४ नीडीव्रण तथा रक्त का अधिक साव होने पर—अग्निकर्म करना चाहिए।

इतरथा दग्ध या प्रमाद दग्ध

रोगनिवारणार्थ किये जानेवाले विधिविहित अग्निकर्म से दग्ध होने के अतिरिक्त दग्ध के अन्य भी कारण होते हैं, जैसे—अग्नि की ज्वाला, गरम धातु के टुकड़े, गरम दूध, चाय, जल, धी, तेल, वाष्प, क्ष-किरण, रेडियम और विद्युत् आदि। इनके प्रमादपूर्वक प्रयोग से होनेवाला दग्ध, अथवा टेरिलीन, नाइलोन आदि के वस्त्रों में आग लगने या दहेज-उत्पीड़न की आग से जलने या किन्हीं आक्रोशों की असहिष्णुता से होनेवाले आत्मदाह जैसी अत्यधिक दर्दनाक दग्ध की दुर्घटनाओं को प्रमाद दग्ध कहते हैं।

१ क्षारादग्निगर्तीयान् क्रियासु व्याख्यात तददर्थाना रोगाणाम् अपुनर्भावाद् भेषजशस्त्रा रौसाध्याना तत् साध्यत्वाच् ।

—सु० स० ११४

२ सु० स० १२४ ।

कारण

- १ अज्ञानता (Ignorance) ।
- २ असावधानी (Carelessness) ।
- ३ उपेक्षा (Neglect) ।
- ४ घरेलू वस्तुओं को अव्यवस्थित रखना (Bad house-keeping) ।
- ५ सामानों के संरक्षण और रख-रखाव की गलत आदत (Bad maintenance practice) ।

प्रकारः

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में दग्ध की छह अवस्थाएँ मानी गयी हैं—

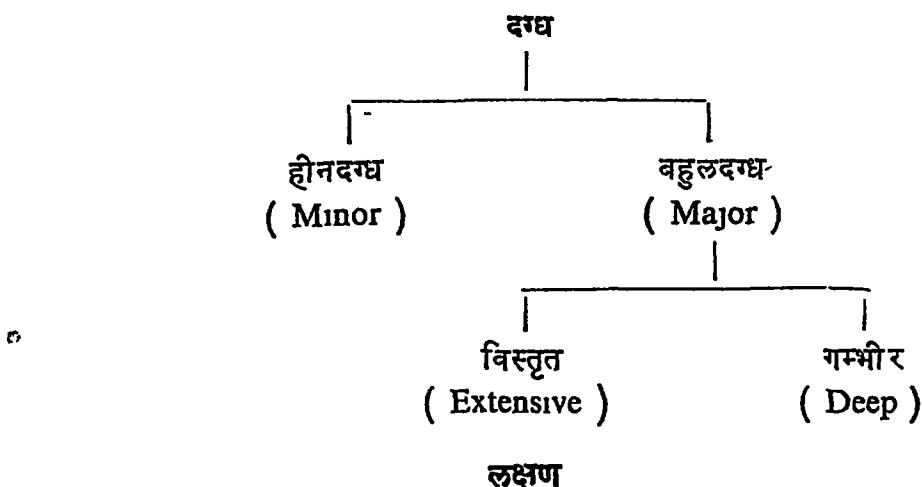
- १ प्रथमावस्था में चमड़ी का रग लाल और विवर्ण हो जाता है, त्वचा विकृत हो जाती है तथा झुलस जाती है, इसे प्लुष्ट कहते हैं।
- २ द्वितीयावस्था में त्वचा की ऊपरी पर्त में लसीका का सञ्चय होकर फफोले बन जाते हैं, इसे दुर्दग्ध कहते हैं।
- ३ तृतीयावस्था में त्वचा की ऊपरी पर्त तथा त्वचा का स्वल्प भाग नष्ट हो जाता है, किन्तु स्वेदग्रन्थियाँ, स्पर्शाकुर, रोमकूप और तैलग्रन्थियाँ नष्ट नहीं होती हैं, यह सम्यग्दग्ध की अवस्था है।
- ४ चतुर्थावस्था में सम्पूर्ण त्वचा तथा उपत्वचा का कुछ भाग नष्ट हो जाना है।
- ५ पञ्चमावस्था में त्वचा, उपत्वचा और पेशियाँ नष्ट हो जाती हैं।
- ६ षष्ठावस्था में शरीर के अवयव, सिरा, सन्धि, अस्थियाँ नष्ट और विघटित होती हैं।

वक्तव्य—चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ—ये तीनों अवस्थाएँ अतिदग्ध के मान हैं।

दग्ध के प्रकार और लक्षण

दग्ध			
प्लुष्ट	दुर्दग्ध	सम्यग्दग्ध	अतिदग्ध
(प्रथमावस्था) त्वचा में विवर्णता, विकृति, झुलसना और फफोले न उठना ।	(द्वितीयावस्था) त्वचा के बाह्य स्तर और गम्भीर स्तर पर दग्ध के छोटे-बड़े फफालों का उठना, तथा स्तब्धता ।	(तृतीयावस्था) बाह्य त्वचा नष्ट, किन्तु स्पर्शाकुर व स्वेद ग्रन्थियाँ नष्ट नहीं होती,	(चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ अवस्थाएँ) जल- कर मास का लटक जाना, सिरा, स्नायु व अस्थिनाश, पूरा स्तब्धता । तीव्र वेदना और अग जल जाना व तीव्र स्तब्धता ।

चिकित्सा की सुविधा की दृष्टि से परवर्ती चिकित्सक दग्ध के दो भेद मानते हैं।



लक्षण

हीनदग्ध में त्वचा दग्ध से प्रभावित और झुलसी होती है, किन्तु नष्ट नहीं होती इसमें विशेष प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती और यदि विस्तृत भाग प्रभावित न हुआ हो तो कोई उपद्रव भी नहीं होता है।

बहुल दग्ध के विशिष्ट लक्षण—बहुल दग्ध के कारण शरीर के तरल का हास होता है। तरल निकलता रहता है और उसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है। प्रोटीन तथा तरल की कमी से स्तव्धता के लक्षण प्रकट होते हैं, पिपासा और मूर्छा होती है। उपर्युक्त चिकित्सा के अभाव में मृत्यु भी हो जाती है। बहुल दग्ध में गम्भीर स्थित धातुएँ भी नष्ट हो जाती हैं। उनमें कोथ उत्पन्न होकर वह भाग अलग हो जाता है और ब्रणमात्र शेष रह जाता है, जिसका रोहण विलम्ब से होता है।

उपद्रव

१. दाह का विस्तार तथा गहराई अधिक होने से शॉक (Shock) उत्पन्न होता है और हृदय-गत्यवरोध होकर मृत्यु की सम्भावना होती है।

२. ज्वर, दाह, पिपासा और मूर्छा होना—ये विशेष उपद्रव हैं।

३ यदि दग्ध शिर, वक्ष और उदर आदि मर्मस्थानों पर हो, तो मस्तिष्क-वरणशोथ, फुस्फुसावरणशोथ, न्यूमोनिया आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

४ दग्ध स्थान में जीवाणुओं के उपसर्ग से विसर्प, धनु स्तम्भ (टिटेनस) आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

५ ब्रणरोहण के पश्चात् सम्बद्ध स्थान में सकोच और कुरुपता हो जाती है।

६ ब्रणवस्तु (Scar) ऊतकों पर कार्सीनोमा हो जाता है।

साध्यासाध्यता

१. वृद्धों और बालकों में दग्ध के परिणाम अच्छे नहीं होते।

२ शरीर के वाह्य भाग का आधे में अधिक जल जाना धातक होता है।

३ दग्ध जितना अधिक गहरा होता है उतना हीं धातक होता है।

४ मुखमण्डल, श्रोणिप्रदेश और मध्यकाय (धड) का जलना, हाथ-पैर के जलने की अपेक्षा अधिक घातक होता है ।

५ रासायनिक और विद्युद दग्ध के परिणाम भयज्ज्वर होते हैं ।

६ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सख्त्या में दग्ध होती हैं या कूर सास-सुर, ननद-देवर के द्वारा जला दी जाती हैं और समुचित चिकित्सा के अभाव में वे दम तोड़ देती हैं ।

दग्धस्थान के अनुसार शरीर का १०० भागों में विभाजन

१ शिर	६ प्रतिशत
२ दोनों हाथ	१८ प्रतिशत
३ दोनों पैर	३८ प्रतिशत
४ धड (उदर और वक्ष)	१८ प्रतिशत
५ पीठ	<u>२० प्रतिशत</u>
	<u>१०० प्रतिशत</u>

दग्ध चिकित्सा की हिदायतें

१ दग्ध के स्थान पर टैनिक एसिड का कोई लेप न लगाये ।

२ जले हुए भाग पर धी या मक्खन न लगाये, क्योंकि इनको छुड़ाने में कठिनाई होती है और सक्रमण (Infection) होने की सम्भावना होती है ।

३ खुले व्रण पर रुई नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि वह चिपककर कट्टकर हो जाती है ।

४. व्यापक दग्ध पर बोरिक एसिड का मलहम नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि व्रण में अधिक बोरिक एसिड पहुँचकर हानिकर हो जाता है ।

५ यदि दग्ध स्थान पर अधिक फफोले हो, तो उनके काटने की उचित व्यवस्था न होने पर उन्हें स्वयं फोड़ना ठीक नहीं है ।

चिकित्सा

प्लुष्ट या हीनदग्ध-चिकित्सा

१ यदि प्लुष्ट या हीनदग्ध १० प्रतिशत से अधिक न हो, तो जले भाग को अग्नि से तपाना चाहिए ।

२ प्लुष्ट में वाह्य आलेपन और आभ्यन्तर पान आदि में भी उच्चवीर्यवाली औपर्याँ ही प्रयुक्त करनी चाहिए ।

बक्तव्य—दग्ध के कारण शरीर के अधिक स्विन्न हो जाने से रक्त भी स्विन्न हो जाता है । ऐसी दशा में यदि सेचन आदि के रूप में शीतल जल का प्रयोग किया जाय या शीतोपचार किया जाय, तो शीतल जल या औपर्यथ एकत्र हुए रुधिर को अधिक स्कन्दित (गाढ़ा) कर देना है, जिससे जले हुए स्थान में बेदना और दाढ़ बढ़ जाते हैं । इमलिए त्रणप्रक्षात्रनार्थ या पीने के लिए शीतल जल का प्रयोग नहीं

करना चाहिए। इसके विपरीत उप्पण उपचार एकत्र हुए रक्त को विलीन कर देता है, जिससे प्लुष्ट दग्ध की वेदना और दाह का शमन हो जाता है।^१

टुर्डर्ग्ध^२ (बहुलदग्ध) चिकित्सा

१ इसमें चिकित्सक आवश्यकतानुभार अपने विवेक से उप्पण और शीत, इन दोनों उपचारों का प्रयोग करे।

२ घृत का आलेपन और नेचन का प्रयोग शीत रूप में ही करे।

वक्तव्य—जहाँ दग्ध अधिक हो वहाँ और अधिक उप्पण चिकित्सा से हानि होती है; और यदि दग्ध हीन हो, तो उप्पण चिकित्सा करने से रुधिर विलीन (द्रव) हो जाता है, जिसमें स्थानिक तनाव कम हो जाता है।

सन्ध्यगदग्ध-चिकित्सा

१ इसमें वशलोचन, पाकड़ की छाल, लालचन्दन, सोनागेरु और गुरुच को पत्थर पर वारीक पीसकर, घृत मिलाकर दग्ध पर आलेपन करना चाहिए।^३

२ यदि दग्ध स्थान पर या मर्वशरीर में दाह मालूम हो रहा हो, तो पित्तविद्रधि (चरक० चि० २१) के समान चिकित्सा करनी चाहिए। जैसे आहारार्थ—फालसा, मुनक्का, अनार और अंवला के कल्क से यथाविधि बनाया हुआ जागल पशु-पक्षियों का मामरस देना चाहिए। यह तरल आहार पर्याप्त प्रोटीनयुक्त होता है।

अतिदग्ध-चिकित्सा

१ अतिदग्ध में पहले जले हुए मास को निकालकर शीतल उपचार करे।

२ व्रण पर अगहनी चावल का चूर्ण तथा धी मिलाकर प्रलेप करे।

३ तिन्दुक की छाल के क्वाथ में धी मिलाकर प्रलेप करे।

४ दग्ध व्रण को गुरुच या कमलपत्रों से ढँक देना चाहिए।

५ अन्य उपचार पित्तविद्रधि की तरह करना चाहिए।^४

६ मधूच्छिष्टादि घृत का रोपणार्थ प्रयोग करना चाहिए।

योग—मोम, मुलहठी, लोध, राल, मजीठ, लालचन्दन और मूर्वा—इन्हें समभाग में लेकर, साफ पत्थर पर पीसकर कल्क बना ले, फिर कल्क से चतुर्गुण घृत और घृत से चतुर्गुण जल डालकर घृतावशेष तक पाक कर ले और छानकर सुरक्षित रख ले।

१ प्लुष्टस्याग्निप्रतपन कार्यमुण्ड तथोपधम्। शरीरे स्विन्नभूयिष्ठे स्विन्न भवति शोणितम्॥

प्रकृत्या द्युदक शीत स्कन्दयत्थतिशोणितम्। तस्मात् सुखयति द्युष्ण न तु शीत कथञ्चन्न॥

—सु० स० १२।१९-२१

२ शीतामुण्डाच्च टुर्डर्थे किया कुर्याद् भिषक् पुन। घृतालेपनमेकाँस्तु शीतानेवास्य कारयेत्॥

—सु० स० १२।२२

३ मन्धगदर्थे तु गाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकै। सामृतै सर्पिषा मिनग्धेरालेप फारयेद् भिषक्॥

—सु० स० १२।२३

४. कियाद्र निखिला कुर्याद् भिषक् पित्तविसपवत्।

—सु० स० १२।२६

—सु० स० १२।२६

७ टैल-घृत आदि स्नेह द्रव्यों से दग्ध होने पर विशेषकर रुक्ष क्रियाएँ करनी चाहिए।

दग्ध की तात्कालिक चिकित्सा

१ सर्वप्रथम मार्फीन $\frac{1}{2}$ ग्रॅम का इण्ट्रामस्कुलर इज्जेक्शन दे।

२ दग्ध-शरीरावयव को स्वच्छ वस्त्र से ढँक दे और यदि बन्धन-योग्य हो तो ब्रणबन्धन करे।

३ यदि रोगी के कपड़ों में आग लगी हो और पास में कोई नहीं हो, तो जमीन पर लेटकर करवटे लेनी चाहिए।

४ आग की लपटों को बुझाने के लिए कम्बल आदि लपेट ले।

५ खुली हवा में न भागे और सहायता के लिए चिल्लाना चाहिए।

६ नगर या मकान में आग लगी हो तो फायर ब्रिगेड को सूचित करे।

७ रोगी को किसी एकान्त स्थान में लिटाना चाहिए।

८ ए० टी० एस० १५०० यूनिट्स का इण्ट्रामस्कुलर इज्जेक्शन दे।

९ आवश्यकता समझे तो ऑक्सीजन सुधाये।

१० गम्भीर दग्ध में एवं २५ प्रतिशत से अधिक जलने पर रुधिराधान करना चाहिए। रक्त रोगी के रक्त के ग्रुप का ही होना चाहिए।

११ रक्त मिलने की व्यवस्था होने तक ग्लूकोज सेलाइन को सिरामार्ग द्वारा विन्दु-पद्धति (Drip method) से देना चाहिए।

१२ २५ प्रतिशत से अधिक जलने पर रुधिराधान आवश्यक है।

१३ यदि किसी वच्चे में शरीर का बाह्य स्तर १० प्रतिशत से अधिक जल गया हो अथवा युवक में १५ प्रतिशत से अधिक भाग जल गया हो, तो प्लाज्मा, डेस्क्रान (Dextran), डेक्स्ट्रावेन (Dextraven) अथवा किसी प्लाज्मा के यौगिक का तत्काल प्रयोग आवश्यक है। हो सके तो रुधिराधान करे, जिससे स्तब्धता का भय दूर हो जाये।

१४ अधिक दग्ध होने पर डेकाड्रान (Decadran), बेट्नीसोल, (Betnesol) आदि का इज्जेक्शन प्रतिदिन दें।

१५ रोगी को पर्याप्त मात्रा में विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स, विटामिन सी०, डी०, ई० देते रहना चाहिए। हूथ, छेना, फलों का रस तथा पर्याप्त मात्रा में जल पिलाते रहना चाहिए।

१६ सक्रमण के रक्षार्थ व्रण को स्ट्रेलाइज्ड वस्त्र से ढँक कर रखना चाहिए।

१७ जले हुए स्थान को डेटाल आदि एण्टी-सेप्टिक की सहायता से भाफ कर विकृत तन्तुओं को कैची से काटकर अलग कर दे। तत्पश्चात् पेनिसिलीन, सिवाजोल, वर्नलि या सोटावेलान को किसी स्वच्छ वस्त्र पर फैलाकर व्रण पर रख दे।

१८ अल्पदग्ध में बनालि, विटाप्लेक्स, टेनोफेक्स जेली अथवा सुप्रामाइसीन लगाना चाहिए।

१९ जलने के २४ घण्टे के भीतर ही रोगी को A T S १५०० यूनिट्स का इण्ट्रामस्कुलर सूचीवेध देना चाहिए, जिससे आगे चलकर टिटेनम होने की सभावना न रहे। साथ में टिटेनस टॉक्साइड का भी अन्त पेशी प्रयोग करना चाहिए। चार-छह सप्ताह में पुन एक सूचीवेध देना चाहिए।

२० अन्धन रहित विधि (Exposer method)—वर्ण स्थान को भलीभाँति स्वच्छ तथा शुष्क कर उस पर सल्फोनामाइड पेनिसिलीन पाउडर अधिक मात्रा में छिड़ककर खुला छोड़ दे। इस प्रकार व्रण पर जो आवरण बनता है, वह सक्रमण रोकने में सहायक होता है। एतदर्थं जेन्सियन वायोलेट, एक्निफेवीन और ब्रिलियेण्ट ग्रीन का बनाया हुआ योग—‘पेण्ट ऑफ क्रिस्टल वायोलेट कम्पाउण्ड’ का भी प्रयोग होता है।

हिमदग्ध

(Frost bite)

परिचय—जब वायुमण्डल का रापमान शून्य डिग्री से नीचे चला जाता है, तब हवा में ठिठुरन बढ़ जाती है, जिससे ऐमा प्रतीत होता है कि हाथ-पैर की बैंगुलियाँ, नाक, कान आदि कटकर शरीर से अलग हो जायेंगे और ये अग शून्य हो जाते हैं।

कारण

अतिशय शारीरिक परिश्रम, दीर्घकालीन रोगजन्य दुर्बलता, अस्वस्थता, चिरकालीन मदात्यय और लगातार अनशन करने से शरीर पर शीत का अधिक प्रभाव पड़ता है। वाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था और अधिक समय तक शीत में रहने से अल्पशक्ति वाले व्यक्ति को पाला मार जाता है और वह हिमदग्ध का रोगी हो जाता है।

चिकित्सा

१ रोगी को मोटे कम्बल या रजाई से अच्छी तरह ढौँक देना चाहिए।

२ रोगी के विछावन पर गरम जल में भरी हुई धैली या गरम जल की बोतले रख देनी चाहिए।

३ सर्वशरीर में गरम तेल की मानिश करनी चाहिए।

४ रोगी की चाय, काफी, ब्रॉण्डी तथा गरम दूध पिलाना चाहिए।

५ हिमदग्ध अग को गरम फलालेन के कपड़े से ढौँक कर रखे। दग्ध स्थान पर दवाव नहीं पड़ना चाहिए।

६ यदि रोगी अधिक उच्च भूभाग में हो, तो ऑक्सीजन देना चाहिए।

७ ऐमी औपघे दे जिससे रक्तवाहिनियाँ प्रमात्रित हो और रुग्ण अग में रक्त का

सञ्चार वढे । जैसे — मकरध्वज, सभी रपन्नग रस, मल्लमिन्दूर, रसराज रस, वृहद्वार चिन्तामणि, महायोगराज गुग्गुलु, शृङ्खभस्म आदि ।

एवं च प्रिस्कोफेन (Prescophen), प्रिस्कोल (Prescol), कोम्प्लामिन (Complamina), अलिडीन (Arlidin) और डुआडिलान (Duadilan) की गोली या इज्जेक्शन आवश्यकतानुसार देना चाहिए ।

प्रतिषेधात्मक चिकित्सा

१ शीतलहरी के समय पर्याप्त ऊनी वस्त्र धारण करना चाहिए ।

२ हाथों में दस्ताने, पैरों में मोजे, शिर में कनटोप और बूट जूता पहनना चाहिए ।

३ उष्ण वातावरण में रहना चाहिए । हीटर अथवा अँगीठी जलाकर कमरे को गरम रखना चाहिए ।

४ गरम जल का प्रयोग तथा गरम तेल की मालिश करनी चाहिए ।

विद्युत तथा रासायनिक पदार्थों से दाह

१ विजली के तीव्र करेण्ट के लगने से यह दाह होता है । इसमें हृदय अथवा श्वाससम्बन्धी उपद्रव होते हैं । इसमें सर्वप्रथम विद्युत स्तब्धता की चिकित्सा करनी चाहिए ।

२ रासायनिक पदार्थों से दाह—यह दाह शरीर के किसी अग पर तेजाव या तेज क्षारीय पदार्थ के गिर जाने से होता है ।

चिकित्सा

१ सभी जले कपड़ों को हटा देना चाहिए, उसके बाद जले भाग को देर तक पानी से धोना चाहिए ।

२ धोने के बाद तेजाव से जले भाग को सोडाबाईकार्ब के २०% के घोल से धोना चाहिए एवं क्षारीय पदार्थ से जले भाग को सिरके के मन्द घोल से धोना चाहिए ।

३ कार्बोलिक एसिड से दाह होने पर दग्ध स्थान पर अल्कोहल मलकर धोना चाहिए ।

४ यदि नेत्र में कार्बोलिक एसिड पड़ जाये, तो हल्का सेधानमक डालकर बनाये हुए गुलाबजल के द्रव से नेत्र को धोना चाहिए । तत्पश्चात् नेत्रविन्दु या लाकुला आदि का ड्रॉप डालते रहे ।

इन्द्रवज्राग्नि दरध (विजली मारना)

परिचय—यह एक जानलेवा सकन्त की घड़ी होती है, जब कि आसमान से किसी मनुष्य के शरीर पर विजली गिर पड़ती है । वर्षा ऋतु में या वेमौसम भी जब आकाश में बादलों का भीषण गर्जन-तर्जन उमड-घुमड के साथ तूफान उमडता है, तो ऐसे मौसम में दिल को ढहला देनेवाली तडप और अँखों के 'सामने चकाचौंध'

ना देनेवाली चमक के साथ विजली गिरती है। इसकी चपेट में आनेवाला शायद ही कोई भाग्यशाली जीवित बचता है।

सुरक्षा-स्वच्छ

१ जब बरगत का मौसम अन्धार और तूफान से गाव उत्तर आया हो और रह-ख़्वार विजली की कड़क हो और रोणनी भी चमक जाती हो, तो उस समय अपने जीवन की रक्षा के लिए किसी कमरे के भीतर रहे और खिड़की-दरवाजे बन्द कर लें।

२ आग, विजली की भेन स्वच्छ, रेडियो रधा टेलिविजन के तार से दूर रहना चाहिए।

३ यदि कहीं रान्हे में ऐसा हो, तो वहाँ किसी टीने पर या दूटे मकान में या बोटरकार ने जरण लें।

४ किसी खाई या गढ़े में रुद तक नेटे रहे जब तक कि वर्षा न रहे।

५ यदि कपड़े भीगे हो तो तुरन्त बदल दें, यद्यकि गीले वस्त्र के भाघ्यम से विद्युद धारा (करेण्ट) प्रवाहित होती है।

६ दुर्दिन में अकेले पेट के नीचे, दीवार के पास या पोखरा या नदी के किनारे रहना खररा मोल लेना है।

चिकित्सा

जिम पर विजली गिरी हो, उसे किसी मूले तथा मुरक्खित स्थान पर ले जाकर कृत्रिम श्वास देना चाहिए। यह किया पर्याप्त समय तक करे। रोगी को वेहोश देखकर निराश नहीं होना चाहिए। हृदय की उत्तेजना के लिए शरीर को गरम करने का प्रयत्न करे। कोरामिन, कार्डियाजोल, वेरीटाल, इनमें से किसी एक का डब्ल्यूक्षण दें।

तीव्र रक्तस्राव : कारण और प्रकार

रक्त को जीवन का आधार माना गया है—‘रक्त जीव इति स्थिति’। किसी भी कारण जब शरीर से रक्त का स्राव होने लगता है, तब शरीर निस्तेज, शिथिल और निर्बल हो जाता है। ओठ, गला एवं मुख मूखने लगते हैं, जिससे प्यास अधिक लगती है। यदि रक्तस्राव शीघ्र नहीं रोका जाता है तो मृत्यु भी हो सकती है।

शरीर की जिन प्रणालियों से रक्त का सवहन होता है, वे तीन प्रकार की हैं, इमलिए स्राव भी तीन प्रकार के हैं—

१ धमनी का रक्तस्राव (Arterial haemorrhage)।

२ सिरा का रक्तस्राव (Venous haemorrhage)।

३ कोशिका का रक्तस्राव (Capillary haemorrhage)।

निम्नलिखित धमनियों से ३ मिनट से अधिक समय तक रक्तस्राव का होना प्राणघातक होता है—

- १ गले की धमनी (Carotid artery) ।
- २ कक्षा धमनी (Axillary artery) ।
- ३ बाहु की प्रगण्ड धमनी (Brachial artery) ।
- ४ पैर की ऊरु धमनी (Femoral artery) ।

रक्तवाहिनी भेद से स्राव के प्रकार

- १ धमनियों से होने वाला रक्तस्राव प्राय लाल और चमकीला (किन्तु फुफ्फुसीया धमनी को छोड़कर) और वेग के साथ निकलता है ।
- २ सिराओं से होने वाला रक्तस्राव (फुफ्फुसीया सिरा को छोड़कर) कालिमा लिए हुए अशुद्ध और बिना वेग के निकलता है ।
- ३ केशिकाओं से होने वाला रक्तस्राव लालवर्ण का होता है । यह रक्त तन्तुओं से धीरे-धीरे स्वित होता है और अधिक घातक नहीं होता । इसे आसानी से रोका जा सकता है ।

बाह्य स्राव और उपचार

- १ शिर का रक्तस्राव—शखप्रदेश से रक्तस्राव होने पर शखधमनी पर सीधे दबाव डालना चाहिए । इसमें चेहरे पर पीलापन, नाड़ीगतिमन्दता, श्वासकष्ट और हाथ-पैर ठड़ा होना, ये लक्षण होते हैं ।

उपचार—रक्तस्राव को रोकने के लिए शिर पर ठड़े जल की पट्टी या वर्फ रखना चाहिए । ग्रीवा की सामान्य कैरोटिड धमनी (Common carotid artery) पर दबाव डालकर रक्तस्राव को रोके । यदि रोगी बेहोश हो तो सावधानी के साथ धमनी पर दबाव डालना चाहिए । रोगी को एकान्त स्थान में रखना चाहिए । बाह्य आधार में क्षतस्थान पर सामान्य चिकित्सा करे । किसी भी सक्रमणरोधी औषध से ड्रेसिंग करे । बड़ा क्षत हो तो टाँका लगाये । यदि रोगी बेहोश हो, तो उसे समझाग नौसादर और चूना किसी सीसी में डालकर हिलाकर बन्द रखे और उसे सुंघाये । चेहरे पर बारी-बारी से ठड़े एवं गरम जल के छीटे दें । कपालास्थिभन हो तो विशेषज्ञ के पास चिकित्सार्थी भेजे ।

- २ कर्ण-रक्तस्राव—हाथ के तलवे से झापड़ मारने से या किसी अन्य प्रकार से कनपटी पर चोट लगने से बाह्यकर्ण या कर्णपाली या कर्णपटल के फट जाने से कर्णरक्तस्राव होता है ।

इससे तत्काल रुई के फाहे से क्षतस्थान के रक्त को साफ कर लाइकर एडीन-लीन के साथ कोई जीवाणुनाशक औषध मिलाकर कर्णकुहर पर रख दे और कान के चारों ओर ठड़े पानी की पट्टी या वर्फ रखे ।

- ३ नासिका-रक्तस्राव—इस तरह का स्राव बच्चों में अधिकाश होता है । उच्च रक्तचाप, जीर्ण प्रतिशयाय, पीनस एवं रक्तपित्त के कारण और आधार लगने से नासा-रक्तस्राव होता है ।

ऐसी स्थिति में रोगी को किनी ठडे स्थान में खुली हवा में सिरहाना नीचा रखकर सुलाये। छाती पर के कसे कपडे ढीले कर दे। नाक और गरदन पर वर्फ के पानी में भीगे कपडे रखें। रोगी को मुख धोलकर श्वास लेने को कहे। शिर में हिमांशु या हिमसागर तंत्र की मालिश करे।

रक्तस्त्वम्भक नस्य^१—१ नीलबमल पुष्प, गेरु, शुद्धभस्म और सफेद चन्दन को चीनी के शर्वत में पीन-छानकर नाक में बूँद-बूँद टपकायें।

२ जाम की गुठली, लज्जावन्ती, धाय का कूल, मोचरस और पठानी लोध को चीनी के शर्वत से पीन-छानकर नस्य दे।

उभी प्रकार अलग-अलग—३ अगूर ना रस, ४ ईंघ का रस, ५ गोदुध, ६ दुर्वा-स्वरम, ७ जवानामूल-स्वरस, ८ प्याज-स्वरम और ९ अनार की कली के स्वरम का नस्य देने में नासा-रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

४ दाँत का रक्तस्राव—किसी ठोम वस्तु से चोट लगने में जब दाँत टूट जाते हैं, तो कष्ट के साथ रक्तस्राव होने लगता है। क्षत पर फिटकरी का चूर्ण रखकर रुई से दवा देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

५ जिह्वा का रक्तस्राव—कभी-कभी दाँतों के नीचे अचानक जीभ के आ जाने से वह क्षतिग्रस्त हो जाती है और उसमें रक्तस्राव होने लगता है। क्षत को बैंगुली से दवा दे और उम पर वर्फ का टुकड़ा रगड़कर फिटकरी का चूर्ण डालकर कुछ देर रुई से दवा दे। जब तक क्षत का रोहण न हो, तब तक तरल और शीतल आहार दे।

६ ओठ का रक्तस्राव—किसी ठोम वस्तु की टक्कर लगने अथवा अन्य आघात लगने में ओठ कट जाता है और उससे रक्तस्राव होने लगता है। क्षत पर सिवाजोल पाउडर या फिटकरी का चूर्ण लगाना चाहिए। अधिक कटा हो तो टाँका लगाये।

७ गुदा से रक्तस्राव—पित्तार्श,^२ रक्तार्श,^३ रुधिरार्बुद,^४ भगन्दर,^५ रक्तातिसार,^६ अधोग रक्तपित्त, सरक्ता प्रवाहिका^७ आदि में गुदा से रक्त का स्राव होता है। इनमें मृदु-ग्राही औषध का प्रयोग करे।

१ नीचोत्पल गैरिकशङ्खयुक्त सचन्दन स्यात् सिताजलेन।

—च० चि० ४ ९९

नस्य तयाऽऽन्नास्तिरस समझा सधातकीमोचरस सलोध्र ॥

—माधवनिदान

२ तन्वस्रसाविणो विस्तास्तनवो मृदव शथा ।

—मा० नि०

३ स्वनिनि सहसा रक्त तस्य चानिप्रवृत्तित । भेकाभ पीटथते दुखे शोणितक्षयसम्भवै ॥

—मा० नि०

४ करोत्यजस्य रुधिरप्रवृत्तिमसाध्यमेतद् रुधिरात्मकं तु ।

—मा० नि०

५ वहुवर्णरुजास्रावा पिटका गोस्तनोपमा ।

—मा० नि०

६ तदोपजायतेऽभीक्षण रक्तातीसार उल्वण ।

—मा० नि०

७ प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात्सदाहा सकफा कफाच्च ।

—मा० नि०

सशोणिता शोणितसम्भवा च ता स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ॥

—मा० नि०

चिकित्सासूत्र

१ रक्तस्राव को रोकने के लिए रक्तवाहिनियों पर सीधा दबाव डाले एवं क्षत के ऊपर अनेक तह किया हुआ विमुक्तिमित गाँज रखे ।

२. क्षत-स्थल के किनारों को अँगुली से पकड़कर क्षत को शुद्ध गाँज से ढँक देना चाहिए ।

३ जिस स्थान से रक्तस्राव हो रहा हो, उसको हृदय की सरह से काफी ऊपर उठाकर रखना चाहिए ।

४ शिया या केशिका से होनेवाले रक्तस्राव में स्रावस्थान से पाईर्व को पकड़कर जीवाणुरहित गाँज रखकर सुरक्षित कर देना चाहिए ।

५ किसी मर्मस्थान से रक्तस्राव की गम्भीर स्थिति हो, तो प्राथमिक उपचार के पश्चात् रोगी को तुरन्त विशेषज्ञ चिकित्सक या चिकित्सालय में स्थानान्तरित कर देना चाहिए ।

६ रक्तस्राव को रोकने के बाद उससे उत्पन्न स्तब्धता (Shock) को दूर करने का प्रयास करना चाहिए ।

७ रक्तस्राव का रोगी घबड़ाया हुआ, बैचैन और भयग्रस्त होता है। उसे आश्वासन देकर एवं धैर्य बैधाकर उसके भय को दूर करना चाहिए ।

८ रोगी को पूर्ण ऑक्सीजन मिल सके, इसके लिए उसे स्वच्छ एवं खुले स्थान में रखे ।

९ यदि रोगी बेहोश न हो अथवा उदरीय आघात (Abdominal injury) न हो, तो उसे पर्याप्त जल या अन्य तरल पदार्थ देते रहना चाहिए ।

१० जब तक रक्तस्राव रुक न जाय, तब तक उसे गरम चाय, काफी या कोई उत्तेजक पदार्थ न दे ।

आन्तरिक रक्तस्राव

१ फुफ्फुस—जब फुफ्फुस से रक्तस्राव होता है, तो खाँसी के साथ कफमिथित रक्त बाहर निकलता है, जिसका रग लाल होता है। जैसे—१रक्तपित्त, २उर क्षत, ३क्षतज कास, ४राजयक्षमा, ५तुष्णा आदि का रक्तस्राव ।

२ आमाशय—यदि आमाशय से रक्तस्राव होता है, तो वमन के साथ वह लाल

- | | |
|--------------------------------------------------------------|-----------------------|
| १. सान्द्र सपाण्डु सस्नेह पिण्डिल च कफान्वितम् । | —मा० नि० रक्तपित्तनि० |
| २. उरोरक् शोणितच्छर्दि. कासो वैशेषिक क्षते । | —मा० नि० क्षतक्षीणनि० |
| ३ रुक्षस्थोर.क्षत वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् । | —मा० नि० कासनि० |
| ४ भक्तदेषो ज्वर. श्वास. कास शोणितदर्शनम् । | —मा० नि० राजयक्षमानि० |
| ५. क्षतस्य रुक्षोणितनिर्गमाभ्या तुष्णा चतुर्थी शनजा मता तु । | —मा० नि० तुष्णानि० |

रग का होता है। यदि आमाशय में देर का रक्तस्राव हुआ है तब काँफी के रग का रक्त वमन के साथ दिखलाई देगा। जैसे—अम्लपित्त^१ आदि में।

३. यदि आंतो से शनै शनै रक्तस्राव होता है, तब वह मल के साथ काले रग का होता है। जैसे—आन्त्रिकज्वर,^२ अतिसार^३ आदि में।

४ जब आंतो के बहुत निचले भाग से रक्तस्राव होता है, तब मल के साथ लाल धारी दिखलाई देती है और जब धारी अधिक हो जाती है तो समूचा मल रक्तयुक्त ही जाता है।

५ वस्ति—मूत्रकृच्छ्र,^४ मूत्राघात^५ एव प्रमेह^६ में मूत्र के साथ रक्त आता है।

वक्तव्य—कारण एव स्थान आदि के अनुसार रक्तस्राव के अनेक प्रकार हैं, उनमें से कुछ का सकेत किया गया है, किन्तु यह सकेत अति सक्षिप्त है। अलग-अलग नामों में—१. रक्तज्ठीवन, २ रक्तवमन, ३ नासारक्तस्राव, ४ रक्तातिसार, ५ प्रवाहिका, ६ रक्तार्श, ७ रक्तपित्त, ८ रक्तमेह, ९ मञ्जिष्ठामेह, १० रक्त-प्रदर, ११ त्वचागत रक्तस्राव तथा १२ विषभक्षणजन्य त्वचागत रोमकूपो द्वारा रक्तस्राव आदि मुख्य हैं।

रक्तज्ठीवन—खांसी के साथ रक्तस्राव को रक्तज्ठीवन कहते हैं। इसके कारणों में राजयक्षमा (Pulmonary tuberculosis) रोग प्रधान है तथा श्वासपथ में व्लन, दक्षिण-हृदयातिपात (Congestive heart failure), रक्त के रोग, फुफ्फुस अन्तः-स्राव, फुफ्फुस अर्बुद, फुफ्फुस में विद्वधि, कर्दम (Gangrene), उच्च रक्तनिपीड़, वक्ष पर आघात आदि के कारण भी इस प्रकार का रक्तस्राव होता है।

रक्तवमन—यह आमाशय में रक्तस्राव होने से होता है। आमाशय में रक्तस्राव होने से पूर्व हृल्लास (वमनेच्छा) तथा मूच्छा होती है। यह रक्तवमन भद्रज यकृद्वृद्धि एवं आमाशयिक व्लन (Gastric ulcer) के कारण सम्भावित है। आमाशयिक विकार में कण्ठ में पीड़ा, वमन तथा रक्तवमन ये प्रधान लक्षण हैं। वमन में रक्त काँफी की तरह धूसर या ब्राउनिश आता है। यह भोजन द्रव्य से मिला हुआ या स्वतन्त्र भी हो सकता है। आमाशय में अर्बुद (Cancer) से कारण भी रक्तवमन हो सकता है।

^१ वान्त हरित्पीतकनीलकृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाम्लभ्।

मांसोदकाभ त्वतिपिण्डिलाच्छ श्रेष्ठमानुजात विविध रसेन ॥ —मा० नि० अम्लपित्तनि०

^२ दशाहात परत क्वापि दारुणो रक्तनि व्रव । —सि० नि० आन्त्रिक ज्वरनि०

^३ पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यशनाति पैतिके । तदोपजायतेऽभीक्षण रक्तातिसार उद्वण ॥ —मा० नि० अनिसारनि०

^४ पीत सरक्त सरुज सदाह कृच्छ्र सुहुर्मूत्रयतीह वित्तात् ।

^५ मूत्र हारिद्रमयवा सरक्त रक्तमेव वा । कृच्छ्रात् पुन पुनर्जन्तोरुणवात् नुवन्ति तम् ॥ —मा० नि० मूत्रकृच्छ्रनि०

^६ विन्नमुष्ण सलवण रक्ताभ रक्तमेहत ॥

—मा० नि० मूत्रकृच्छ्रनि०

—मा० नि० मूत्राघातनि०

—मा० नि० प्रमेहनि०

सापेक्ष निदान

रक्तघोषन		रक्तवमन
१ रक्त निकलने के पूर्व खाँसी आती है।	१	रक्तवमन के पूर्व मे मिचली और वमन होता है।
२ रक्त फेनयुक्त होता है।	२	रक्त के माथ भोजनकण मिलते ह।
३ श्वीवन क्षारीय व रक्तवर्ण का होता है।	३.	वमन अम्लीय होता है।
४ यह अनेक दिवसस्थायी होता है।	४	यह आकस्मिक होता है।
५ श्वसन-स्थान के रोग का इतिहास मिलता है।	५	पाचन-स्थान के रोगों का इतिहास मिलता है।

नासा-रक्तस्राव—अधिक मात्रा मे नासिका से रक्त निकले तो उसे रक्तपित्तज जानना चाहिए। अधिक व्यायाम, वायुमण्डल का ताप अत्यल्प या अत्यधिक होने से, वायुमण्डल के दबाव की कमी होने से या अप्राकृतिक ऋतु के कारण नासा रक्तस्राव होता है। नासाव्रण, कण्ठशालूक, तीव्र नासाव्रणशोथ, नासागत शल्य या रक्ताधिक्य, नासार्श, फिरग या धातक अर्बुद के कारण भी रक्तस्राव होना सम्भव है।

गुदामार्ग—रक्तातिसार, प्रवाहिका, रक्तार्श तथा अधोग रक्तपित्त, आन्त्रिक ज्वर, पेप्टिक अल्सर, कालाजार, अन्त्रगत कर्कटार्बुद, क्षय एव व्रण के कारण गुदा से रक्तस्राव हो सकता है।

मूत्रमार्ग—वृक्कशोथ, वृक्कीय अर्बुद, वस्त्रिगत अश्मरी एव अर्बुद के कारण मूत्रमार्ग से रक्तस्राव सम्भावित है।

चिकित्सा-सहायक उपचार

१ दाह-शमनार्थ शीतल गर्भगृह, रमणीय उद्धान, शीतल वातावरण, शीतल पदार्थों का संस्पर्श, शीतल जल से भीगे पखे की हवा, कूलर की हवा और शीतल प्रदेह, प्रलेप, अभ्यङ्ग, अवसेचन आदि करना चाहिए।

२ सफेद चन्दन, खस, सुगन्धवाला, कमलदण्ड, नीली ढूब, सेवार, अनन्तमूल तथा गूलर, महुआ, लोध, पीपर की गीली छाल का बारीक कल्क बनाकर लेपन करना चाहिए। इससे रक्तपित्तज दाह शान्त होता है।

३ पैतान की ओर खाट के पायों के नीचे दो-दो ईंट रखकर ऊँचा करे।

४ धातक रक्तस्राव मे रक्तप्रमाण की रक्षा के लिए रुधिर का आभरण कराये।

५ रोगी को आतुरालय मे रखकर पूर्ण विश्राम दे।

६ रोगी की नाड़ी और रक्तभार की अनेक बार परीक्षा करे।

७ पथ्य मे धान का लावा, साबूदाना, मूँग, मसूर, पुराना बासमती चावल, भिण्डी, परवर, सेमर का फूल, कच्चनार का फूल एव पलाण्डु दे। बकरी या गाय का दूध है। धी, मक्खन, अनार, आँवला, फालसा, सिंघाडा, किसमिस, कच्ची गरी, गन्ने का रस तथा मिश्री भी देना चाहिए।

शीतल जल-स्नान, शीतल चन्दनानुलेप, कमल, गुलाब, बेला या चमेली की माला, चन्द्रिका, सुरम्य उद्यान एवं नदी या नद तट का सेवन करना चाहिए।

औषधीय चिकित्सा

बाह्य रक्तस्राव—१ रक्तस्राव को रोकने के लिए लाइकर एड्रीनलीन (Lq; Adrenaline) १ - १०००, फिटकरी का घोल, टिक्चर फेराई परक्लोर (Tin Ferri perchlor) को रुई के फाहे में भिगोकर बांध दे।

२ शुद्ध फिटकरी अद्भुत रक्तस्तम्भक है। किसी भी कारण से होनेवाले बाह्य रक्तस्राव में शुद्ध फिटकरी का चूर्ण बुरकना चाहिए। दाँत से होनेवाले रक्तस्राव में इसका चूर्ण दाँत के मूल, मसूड़े एवं कोटर में लगाने से खून आना बन्द हो जाता है।

३ कुकुरीधा के पञ्चाङ्ग को पीसकर उसकी लुगदी बनाकर रक्तस्राव के स्थान पर रखकर बांध देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

आम्यन्तर प्रयोग—१ विटामिन-सी १०० मि० ग्रा०, विटामिन-के १० मि० ग्रा०, कैलसियम लैक्टेट १५ ग्रेन—इन्हे मिलाकर ३ मात्रा बनाकर दिन में ३ बार दे।

२ अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कैलसियम ग्लूकोनेट १० सी० सी० १० प्रतिशत, २५ सी० सी० २५ प्रतिशत सुपर ग्लूकोज सोल्यूशन में मिलाकर उसमें ५०० मि० ग्रा० विटामिन-सी मिलाकर शनै शनै सूचीबंध करने से रक्तस्राव शीघ्र बन्द हो जाता है।

३ ऊर्ध्वग रक्तपित्त में अरुस पञ्चाग, मुनक्का और वडी हरे के फल का छिलका समभाग लेकर कवाथ बनाकर ५० मि० ली० ले। उसमें नीलकमल, गुद्ध स्फुटिका, फूलप्रियगु, लोध और रसौत—इनका मिलित चूर्ण ४०० मि० ग्रा० तथा मिश्री मिलाकर प्रात-साय पिलाये।

४ लाक्षाचूर्ण वारीक ३ ग्राम की १ मात्रा को मधु ५ ग्राम और धी १० ग्राम के साथ दिन में ३-४ बार दे। यह तुरन्त लाभ करता है।

५ काँचनार, फूलप्रियगु और सेमर के समभाग फूल के चूर्ण को ३-३ ग्राम की मात्रा मधु से दिन में ३-४ बार दे।

६ रक्तपित्तकुलकण्डन रस ३ ग्राम, गुद्ध स्वर्णगैरिक १ ग्राम, बोलपर्टी २ ग्राम—इनकी ४ मात्रा बना ले तथा अरुस के स्वरस और मधु से ४ बार दे।

७ उशीरादि चूर्ण या किराततिक्तादि चूर्ण (दोनों च० च० अ० ४) ३-३ ग्राम की १ मात्रा दिन में ४ बार अरुस के रस और मधु से दे।

८ प्रियडग्वादि पेय—फूलप्रियगु, सफेद चन्दन, पठानी लोध, अनन्तमूल, महुआ, नागरमोथा, खश और धावा के फूल को समभाग में कूटकर चूर्ण बनाकर रख लें। इसमें से १०० ग्राम चूर्ण को १ लीटर जल में रात में भिगो दे और मवेरे मसलकर

छान ले और उसमें कचंटी मिट्टी वान रथान का निथरा जल और चावल का धोवन ५०-५० मि० ली० मिलाकर बार-बार पिलाना रक्तस्तम्भक है ।^१

९ अधोग रक्तपित्त मेर रक्तपित्तकुलकण्डन ५०० मि० ग्रा०, बोल २ ग्राम, शुद्ध स्वर्णगैरिक २ ग्राम, मोचरम चूर्ण ६ ग्राम/४ मात्रा, तण्टुलोदक ५० ग्राम और मधु से दिन मेर ४ बार दे ।

१० वरगद, गूलर, पीपर, पाकड, जामुन के सभ माग छाल का चूर्ण २ ग्राम, मोचरम १ ग्राम और लाक्षाचूर्ण १ ग्राम/१ मात्रा, मधु से ३-४ बार प्रतिदिन ।

मूत्रमार्गवत् रक्तपित्त —

११ शतावरीक्षीर^२—शतावर और गोदृगु, दोनों का व्याय आधा-आधा लीटर और इनका कल्क १००-१०० ग्राम डालकर १ लीटर दूध को दुग्धावशेष पाक कर, घोड़ा-थोड़ा करके पिलाने मेर शूल के माथ मूत्रमार्ग मेर निकलने वाला रक्त बन्द हो जाता है ।

१२ गुदमार्गगत^३ रक्तपित्त—इसमे मोचरसकल्क से सिद्ध गोदुग्ध अथवा वरगद की वरोह और ठूसे के कल्क से सिद्ध गोदुग्ध अथवा सुगन्धवाला, नीलकमल और सोठ के कल्क से पकाया गया गोदुग्ध पिलाना लाभकारक होता है ।

१३ वासाघृत^४—अस्स के पञ्चाङ्ग का व्याय बनाये और उसमे अरुम के ही फूल का कल्क डालकर विधिवत् गोघृत का निर्माण करे । इस घृत मेर मधु मिलाकर सेवन करने से शीघ्र ही रक्तपित्त का शमन हो जाता है । पथ्य मेर दूध-भात देना चाहिए ।

^१ प्रियद्रुकाचन्दनलोध्रसारिवामधूकमुस्ताभयधातकीजलम् ।

—च० चि० ४१८१

समृतप्रसाद सह पष्टिकाम्बुना सशर्कर रक्तनिवर्हण परम् ॥

^२ शतावरीगोक्षुरकै शृत वा शृत पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभि ।

—च० चि० ४१८५

रक्त निहन्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गत् सरुज प्रयाति ॥

^३. विशेषतो विटपथसम्प्रवृत्ते पयो मत मोचरसेन मिद्धम् ।

—च० चि० ४१८६

वटावरोहैवर्टशुङ्कैर्वा हीवेरनीलोत्पलनागरैर्वा ॥

^४ वासा सशाखा सपलाशमूला कृत्वा कषाय कुम्भमानि चास्या ।

—च० चि० ४१८८

प्रदाय कल्क विपचेद् घृत तद् भक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ॥

चतुर्दश अध्याय

तीव्र उदरशूल, तीव्र श्वासकाठिन्य एवं वृक्कशूल

तीव्र उदरशूल

परिचय—उदर-प्रदेश में शकु (खूंटा) धोसाने के रामान तीव्र वेदना का होना तीव्र उदरशूल कहा जाता है ।^१

सामान्य निदान

वात (अपानवायु), मूत्र तथा मल के वेग को रोकना, अत्यधिक भोजन करना, अजीर्ण, अद्यग्न, अधिक परिश्रम, विश्वद्व भोजन और उड्ड पीनकर बने पदार्थ तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ का खाना शूलरोग का कारण होता है । नाड़ी-तन्तुक्षेप के कारण भी शूल होता है । सभी शूलों में वायु की प्रधानता रहती है ।

उदरशूल सापेक्ष निदान

परिणामशूल	अम्लपित्त	अन्नद्रवशूल	गुल्म
१ शूल-पच्यमान अथवा पक्वा- वस्था में	पच्यमानावस्था में	निरन्तर	जीर्णवास्था में विशेष
२ दोष-वातप्रधान	पित्तप्रधान	पित्तप्रधान	वातप्रधान
३ वमन-क्वचित्	अम्लपित्त का वमन	विदर्घ पित्त-वमन	नहीं
४ उदर की स्थिति-दबाने से स्पर्शमिहत्व	-	--	उत्सेध (भ्रमण- शील) स्पर्श- सहत्व
५ शमन-स्तिर्ध, उष्ण भोजन तथा मर्दन से	वमन में	वमन से	स्तिर्ध, उष्ण भोजन एवं मर्दन से
६. अन्य लक्षण- विवर्ध, आधमान	हृत्कण्ठदाह, अरुचि, अग्निमान्द्य	दाहयुक्त शूल	विवर्ध, आधमान

१ शङ्कुस्कोटनवत् तस्य यस्मात् तीव्राश्च वेदना ।

शूलमत्कस्य लक्ष्यन्ते तस्मात् शूलमिहोच्यने ॥

वातप्रधान^१ शूल—यह वातप्रकोपक आहार-विहार से होता है। यह भोजन के पच जाने पर, सायकाल, वर्षाक्रिस्तु तथा शीत के समय विशेष रूप से बढ़ जाता है। यह वार-वार घटता-बढ़ता रहता है। इसमें मल तथा वायु का अवरोध हो जाता है। इसमें सूई के समान चुभन और भेदनवत् (तोड़ने जैसी) पीड़ा होती है।

चिकित्सासूत्र^२—स्वेदन, अभ्यङ्ग, मर्दन तथा स्निग्ध एवं उष्ण गुणयुक्त आहार देना लाभकर होता है।

चिकित्सा

१ सर्वप्रथम गरम जल भरे बोतल अथवा हॉट वाटर बैग (Hot water bag) से उदर को सेकना चाहिए।

२. उदर पर महानारायण रैल या अन्य उपलब्ध वातव्य रैल की मालिश कर, खीर या खिचड़ी (स्निग्ध) की पोटली बनाकर तवे पर वार-वार गरम कर महन करने योग्य होने पर उससे उदर को सेकना चाहिए।

३ तदनन्तर राई और सहिजन की छाल सममात्रा में लेकर गाय के मटुे में पीसकर गरम कर लेप करे। अथवा—

४ देवदारु बुरादा, वच, कूठ, सौफ, हीग और सेधानमक—इन्हे सम प्रमाण में लेकर वारीक पीसकर उदर-प्रदेश पर सुखोष्ण लेप करे। अथवा—

५ जौ का आटा २५० ग्राम और जवाखार ५० ग्राम लेकर मटुे में पीसकर गरम कर उदर पर लेप करे।

६ आश्यन्तर प्रयोग—घी में भुनी हीग ३०० मि० ग्रा० सुखोष्ण जल से निगलवाना वातानुलोमक और तीव्र उदरशूलनाशक है।

७ शिवाक्षार पाचन चूर्ण ३ ग्राम और मीठा सोडा १ ग्राम/१ मात्रा सुखोष्ण जल से दे। आधा-आधा घण्टे पर ४-५ बार उक्त मात्रा दे। दवा देने के बीच के समय में १-१ गोली हिंगवादि वटी चूसने को दे।

८ कुबेराक्ष वटी—बालू में भुना करञ्ज बीज (छिलका रहित), कालानमक, सोठ, घी में भुना लहसुन प्रत्येक १०-१० ग्राम, घी में भुनी हीग और भुना सोहागा ५-५ ग्राम लेकर सहिजन की छाल के रस में घोटकर गोली बनाये और १-१ ग्राम की मात्रा आधे-आधे घण्टे पर सुखोष्ण जल से दे।

९ शूलवज्रिणी वटी २-२ गोली गरम जल से आधे-आधे घण्टे पर दे। अधिक तीव्रशूल में शूलवज्रिणी २ गोली, शखभस्म २५० मि० ग्रा०, क्षारराज १ ग्राम या सोडावाईकार्ब १ ग्राम मिलाकर थोड़ी-थोड़ी देर पर देते रहे।

१० विवर्धजन्य शूल में इच्छाभेदी रम ३०० मि० ग्रा० ठड़े जल में दे। अथवा नाराच रस २०० मि० ग्रा० शीतल जल से दे।

१ जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोप समुपैति गाढम् ।

मुहुर्मुहुशोपशमप्रकोपौ विड्वातमस्तम्भनतोदभेदै ॥

२ मस्वेदनान्यजनमर्दनाद्य निग्योग्य भोज्यैथ शर्म प्रयाति ।

—मा० नि०

—मा० नि०

११ पित्तजशूल में नीम की पत्ती पीसकर उसे पिलाकर वमन कराये। तत्पश्चात् ऐनीमा दे अथवा निशोथ चूर्ण ४ ग्राम खिलाये।

१२ शूल-शमनार्थ नारिकेल लवण १-२ ग्राम की मात्रा में बार-बार दे।

१३ अर्कलवण १ ग्राम, शम्बूक भस्म २५० मि० ग्रा० और शूलवज्जिणी वटी २ गोली/१ मात्रा जल से आधे-आधे घण्टे पर दे।

१४ अविपत्तिकर चूर्ण २-२ ग्राम २-२ घण्टे पर २-३ बार दे।

१५ केवल सोडावाइकार्ब १-१ ग्राम १५-२० मिनट बाद ३-४ बार देते रहे।

१६ अन्नद्रवशूल या परिणामशूल में शूलवज्जिणी १ गोली, शम्बूक भस्म २५० मि० ग्रा०, क्षारराज १ ग्राम/१ मात्रा १-१ घण्टे पर दे।

१७ धात्री लौह या सप्तामृत लौह १ ग्राम, मुक्तागुक्ति भस्म २५० मि० ग्रा०/१ मात्रा आँखें के १ मुखबे से दिन में ४ बार दे।

१८ आनाह या उदावर्त्ज शूल में वातानुलोभन उपचार करे और सममात्रा में जौ मिश्रित चने का सत्तू धी-चीनी २०-२० ग्राम मिलाकर खाने के लिए थोड़ी-थोड़ी देर पर देते रहे।

तीव्र श्वासकाठिन्य

(Acute Respiratory Failure)

परिचय—इसमें श्वास ग्रहण करने एवं छोड़ने में बड़ा भयङ्कर कष्ट होता है तथा प्राणान्त हो जाने का भय और श्वास होता है। रोगी श्वास लेने में अत्यधिक वेदना का अनुभव करता है। वह शिर नहीं सम्भाल पाता एवं वह पीछे की ओर झुक जाता है। आँखें बाहर निकल जाती हैं, मुखमण्डल नीला पड़ जाता है और श्वास लेने की कोशिश करने पर पेट में वायु भर जाती है। रक्त में ऑक्सीजन अल्प अनुपात में पहुँचता है और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है तथा वह निकल नहीं पाती है। फुफ्फुस के वायुप्रकोष्ठ अपना कार्य ठीक से नहीं कर पाते हैं और श्वसनकर्म में व्यवधान हो जाता है। यदि श्वसन-सकटावस्था (Respiratory emergency) का तुरन्त निराकरण नहीं किया जाता, तो प्राण-सकट उपस्थित हो जाता है।

कारण

१ श्वासप्रणाली में वाह्य पदार्थ—भोजन के कण, वमन के पदार्थ एवं कृत्रिम दाँत आदि का पहुँचना।

२ अत्यधिक मद्यपान, स्वररज्जुशोय (Swelling of vocal cords), पर्वतीय प्रदेशों में ऊँचाई पर ऑक्सीजन की कमी होना।

३ रक्तसवहन की विकृति, मस्तिष्क आघात, अहिफेन विष एवं यूरीमिया।

४ वालपक्षाधात, कपालास्थि का अस्थिभग तथा गर्दन का अस्थिभग।

५ निद्राकर औषध-मैवन, जैसे -कोडीन, मार्फिया, वार्विट्यूरेट आदि जैसे

जैसे — सल्फर-डाइ-ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, एमोनिया, हाइड्रोजन सल्फाइड, हाइड्रोजन साड़नाइट, कार्बन मॉनोक्साइड आदि ।

६ मुँह और नाक का एक साय वन्द होना, सीने को जोर से दबाये रखना, खिड़की-दरवाजा वन्द कर एक कमरे में अधिक व्यक्तियों का सोना तथा वन्द कमरे में कोयल की अग्नीठी जलाकर सो जाना ।

७ श्वसन केन्द्र की क्रियाहीनता, मरितप्कगत रक्तन्धूनता ।

८ हृदय-फुप्फुस-श्वासप्रणाली तथा महाप्राचीरा पेशी के विकार, आमाशय का आधमान, वृक्क विकार, रक्तवाहिनियों के उच्च रक्तचाप युक्त विकार, विप्रमयता ।

९ अत्यधिक रक्ताल्पता, मधुमेहजन्य सन्यास, जनपदव्यापी शोथ ।

१० तुण्डकेरी (Tonsilitis), रोहिणी (Diphtheria), निमोनिया, राजयक्षमा या किमी अन्य कारण से श्वासपथ का मकीर्ण हो जाना ।

११ श्वासकर्म-भायक पेशियों के कार्य में किसी तरह का व्यवधान हो जाना, जैसे — ऊर स्थल या उदरशोथ के कारण पीड़ा का होना, वक्ष स्थ पेशियों का घात होना, महाप्राचीरा पेशी की अकर्मण्यता, आधमान, उदावर्त या जलोदर होना— ये कारण हैं जिनसे श्वासकाठिन्य होता है ।

श्वासकाठिन्य के प्रकार

श्वासकृच्छ्रुता के अनेक रूप होते हैं, जैसे —

१ अन्त श्वसन-कृच्छ्रुता — इसमें श्वास लेने में कष्ट होता है । इसे इन्स्प्रेटरी डिस्प्नोइया (Inspiratory dispnoea) कहते हैं । इसमें श्वास छोड़ने में कष्ट नहीं होता । यह लैरिंग्स (Larynx) में रोहिणी (Diphtheria) होने से होती है ।

२ बहिश्वसन-कृच्छ्रुता (Expiratory dispnoea) — इसमें श्वास छोड़ने के समय कष्ट होता है । यह वक्ष में वायु के भरे होने से होता है । श्वास छोड़ने में उदर की पेशियों को अधिक क्रियाशीलता की जस्तत पड़ती है ।

३ श्वासप्रणालीगत श्वासकृच्छ्रुता (Bronchial asthma) — इसमें श्वास ग्रहण करने और छोड़ने दोनों समय कष्ट होता है । इसके होने में मूत्रविषमयता, जनपदव्यापी शोथ और मधुमेहजन्य सन्यास, ये कारण होते हैं ।

चिकित्सासूत्र

१ सावधानी से निदान कर रोगजनक कारणों का परिवर्जन तथा निदान के विपरीत भेपज, आहार-विहार और उपचार करे ।

२ लवण्यमिश्रित वारहर तैल से स्नेहन करके यथाचिन स्वेदन करे ।

३ भरपेट इक्षुरस पिलाकर मदनफल १० ग्राम, पीपर २ ग्राम, सेधानमक २ ग्राम इन्हे पीसकर मधु से चटाकर बमन कराये । बमन से कफ के निकल जाने से प्राणवह स्रोत के अवरोध के हट जाने पर वायु का मञ्चार निर्बाध होने लगता है । तत्पश्चात् शेष कफ को हटाने के लिए धूमगान कराना चाहिए ।

४ हरिद्रा, तेजपात, एरण्डमूल, लाक्षा, मन शिला, देवदारु, जटामसी—इन्हे पीसकर धूमवर्ती बना धी में भिगोकर धूमपान कराये ।

५ कफ-वातनाशक, उष्ण तथा वातानुलोभक औषध, अन्न, आहार-विहार और पेय पदार्थों का सेवन कराये ।

६ श्वासप्रणाल को उत्तेजित करनेवाली औषधे दे तथा आँक्सीजन उपलब्ध कराये । आदी को महीन कूच कर मधु मिलाकर चूसने को दे या त्रिकटुचूर्ण और मधु मिलाकर मुख में चुभलाने के लिए दे ।

७ अग्निमान्द्य, आमरस-दुष्टि, आधमान, उदावर्त तथा प्राणवह स्रोत के अवरोध को ध्यान में रखते हुए दीपन-पाचन, आमदोष-नाशक, कफवातध्न और प्राणवह स्रोतस् शोधक उपचार करना चाहिए ।

चिकित्सा

१ तमक श्वास में वेगशमनार्थ एड्रीनलीन (Adrenalin 1 : 1000) को अधस्त्वक् मार्ग से प्रति मिनट ५ बैंड की दर से $\frac{1}{2}$ से १ सी० सी० तक देना चाहिए । अथवा आइसोप्रोपेनील (Isopropyl) या नियो एफीनीन (Neo ephine) की टिकिया जीभ के नीचे रखने के लिए दे ।

२ श्वासवेगाधिक्य के कारण होने वाली वेचैनी और श्वासावरोध के शमनार्थ —

श्वासकासचिन्तामाणि	५०० मि० ग्रा०
शृग भस्म	१२ ग्राम
नरसातर	७५० मि० ग्रा०
मुलहठी चूर्ण	१० ग्राम
	५ मात्रा

इसे अरूप के रस और मधु से, प्रति २ घण्टे पर देते रहे ।

३ सुखोष्ण धी में महीन सेधानमक और कपूर मिलाकर छाती के दोनों ओर हल्की मालिश करे ।

४ एक लीटर गरम जल में २ चम्मच सोडावाइकार्ब और २ चम्मच सेधानमक मिलाकर रख दे और इसे सुखोष्ण कर आधा-आधा कप बार-बार पिलाते रहे ।

५ श्वासोपद्रव-शमनार्थ निम्नाङ्कित योग दे—

इफेड्रिन हाइड्रोक्लोर	४ ग्राम
प्रेडनीसोन	५ मि० ग्रा०
एमिनोफाइलिन	१२ ग्राम
फेनोबार्बिटोन	४ ग्राम
	१ मात्रा

३-४ घण्टे के अन्तर पर आवश्यकतानुसार देते रहे ।

१. यत्किञ्चित् कफवातध्नमुष्ण वातानुलोभनम् । भेषज पानमन्न च तद्दित श्वासहिक्कने ॥

—च० च० १७

अथवा—

६. शृङ्गारांश्र ५०० मि० ग्रा० तथा अकं लवण ५ ग्राम/४ मात्रा। पान के स्वरम १ चम्पच और मधु में २-२ घण्टे पर दें। अथवा—

७. सोमचूर्ण १० ग्राम, रससिन्हूर १ ग्राम, श्वासकुठार १ ग्राम/११ मात्रा। २-२ घण्टे पर मुखोप्त जल में दें।

८. शृग्यादि चूर्ण ३ ग्राम और शुद्ध टकण २५० मि० ग्रा०/१ मात्रा। १-१ घण्टे पर भयु भिलाकर ५-७ बार दें।

९ शुद्ध टकण २५० मि० ग्रा० की मात्रा में जर्दारहित पान के बीड़े में रखकर चूसने को दे। अथवा—

१० शुद्ध मन शिला ५० मि० ग्रा० पान के लगे बीड़े में रखकर चूसने के लिए दे। इसे २-२ घण्टे पर देते रहे।

११ सभी प्रकार के श्वासकष्ट में देने योग्य योग—

श्वासकासचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
शृग्यारांश्र	५०० मि० ग्रा०
शिलाजत्वादि लौह	५९० मि० ग्रा०
श्वासकुठार	५०० मि० ग्रा०
मोमचूर्ण	१ ग्राम
यवक्षार	५०० मि० ग्रा०
तालीशादि चूर्ण	६ ग्राम
३-३ घण्टे पर मधु से दें।	४ मात्रा

१२ कफप्रधान तमकश्वास में—

श्लेष्मान्तक रस	५०० मि० ग्रा०
कपूरादि चूर्ण	५ ग्राम
श्वासकुठार रस	५०० मि० ग्रा०
३-३ घण्टे पर आद्रक स्वरस व मधु से।	५ मात्रा

१३ वातप्रधान तमकश्वास में—

मल्लसिन्हूर	५०० मि० ग्रा०
अध्रकभस्म	१ ग्राम
३-३ घण्टे पर मधु में।	५ मात्रा

१४ कतिपय सिद्ध योग—

चूर्ण—१ शृग्यादि चूर्ण	(रसतन्त्रसार, भाग १)
२ तालीशादि चूर्ण	(भै० र०)
३. समशक्कर चूर्ण	(„)

४. यवक्षारादि चूर्ण	(शा० स०)
५ सौवर्चलादि चूर्ण	(च० च० १७)
अवलेह—१ वासावलेह	(भै० २०)
२ व्याघ्री हरीतकी	(„)
३ भार्गी गुड़	(„)
रस—१. श्वासकुठार	(„)
२ चन्द्रामृत	(„)
३ मल्लसिन्हर	(रसतन्त्र०)
४ पिष्पत्यादि लौह	(भै० २०)
५ श्वासकासचिन्तामणि	(„)
६ नागार्जुनाभ्र	(„)
७. पचामृत रस	(„)
८ निद्रोदय	(„)
आसव-अरिष्ट—१. कनकासव	,
२ वासारिष्ट	
३ द्राक्षारिष्ट	

१५ श्वासहर द्रव्य—श्वासोच्छ्वास मे रुकावट और श्वास के प्रकोप को दूर करनेवाली औपधियाँ—

१ अश्रुक भस्म, २. शृगभस्म, ३ मन शिला, ४ काकडासिंगी, ५ मदार के फूल, ६, अरूप, ७ नवसादर, ८ कलमीसोरा, ९ मीठाबच, १० शहद, ११. कटकारी, १२ अपामार्गक्षार।

१६ श्वासकेन्द्र उत्तेजक—१ तमाखू के व्यसनी को तमाखू का धूम्रपान कराये। २ पूर्णचन्द्रोदय रस, ३. लवग, ४ धतूरा, ५ गाँजा, ६ भाँग, ७ दालचीनी, ८ पीपर, ९ सोठ, १० कालीमिर्च ११ तेजपात आदि का सुविधानुसार प्रयोग करे।

१७ विशेष निर्देश—१ रोगी के पहने वस्त्रो को एकदम ढीला कर दे।

२ मुख, नाक और कफ को निकालते और पोछते रहे तथा ठड़ से बचाये।

३ रोगी के पूर्ण स्वस्थ होने तक उसे अकेला न छोड़े।

४ श्वासावरोध होता देखे तो तत्काल विशेषज्ञ चिकित्सक द्वारा कृत्रिम श्वास देने की व्यवस्था करे।

५ सावधानी से पथ्य-परहेज का पालन करे एवं शीघ्र अस्पताल मे दाखिल करे।

वृक्षशूल

(Renal Colic)

परिचय—यह शूल मूत्र की रचना तथा मूत्रनिर्गमन मे भाग लेनेवाले अवयवों ने सम्बद्ध है। वे अवयव हैं—दो वृक्क (Kidneys), दो गवीनियाँ (Ureters), एक वस्त्र (Bladder) और एक मूत्रप्रसेक (Urethra)।

वृक्क—द्रव मल को शरीर से विसर्जित करने वाले कोण्ठाङ्ग वृक्क हैं। ये दो हैं, जो सेम के बीज के आकार के होते हैं और उदरगुहा के पृष्ठभाग में अन्तिम पर्शुकाओं पर दक्षिण और वाम पाश्वों में एक-एक कर स्थित हैं। वृक्कों में सूक्ष्म रक्तवाहिनी केशिकाओं का जाल होता है और उनसे आन्त्र नामक प्रणाली के कोष मूत्राश का निर्हरण कर लेते हैं। आन्त्रों के सूक्ष्म छिद्रों से रिस-रिस कर मूत्र क्रमश वृक्क, गविनी और वस्ति को पूरित करता है। प्रत्येक वृक्क से एक-एक गविनी मूत्र को वस्ति में भेजती है।

वस्ति—तुम्बी के आकार का अल्पमासमय आशय है, जिसका मुख नीचे होता है। यह नाभि-पृष्ठ-कटि-वृपण-गुद-वक्षण और उपस्थ के बीच में स्थित है। वस्ति में मूत्र एक नियत प्रमाण में ही रह सकता है और अधिक होने पर मूत्र का वेग उठता है तथा वस्ति का अधोवर्ती मुख खुलकर वस्ति के सकोच से मूत्रप्रसेक (शिशनमार्ग) द्वारा मूत्र बाहर निकल जाता है।

मूत्रप्रसेक—यह पुरुषों में एक बालिशत तथा स्त्रियों में लगभग १२५ इच्च लम्बा होता है। पुरुषों में मूत्रप्रसेक का आदि भाग वस्तिशिर (Prostate) नामक ग्रन्थि से वेष्टित है। यह ग्रन्थि १२५ इच्च मोटी, ३५ इच्च लम्बी और १२५ इच्च ऊँची होती है। मूत्रप्रसेक में इस ग्रन्थि के स्राव के अतिरिक्त वृषणों, शुक्राशयों और शिशनभूल ग्रन्थियों के हर्पादिवश उत्पन्न स्राव भी अपनी-अपनी वाहिनियों द्वारा स्रुत होते हैं। वृद्धावस्था में कदाचित् वस्तिशिर ग्रन्थि मोटी हो जाती है, जिससे मूत्रकृच्छ्र हो जाता है। इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं।

मूत्र—मूत्र में ९६% जल होता है और शेष ४% घन द्रव्य होते हैं, जिसमें अर्धांश यूरिया होता है। यह प्रोटीन के धातुपाक से उत्पन्न मल है। इसके अतिरिक्त अन्य भी सेन्द्रिय अथवा निरन्द्रिय घन द्रव्य होते हैं।

निदान एवं सम्प्राप्ति

अश्मरी-शर्करा-वृक्कशूल—जब वायु वस्तिगत शुक्र, मूत्र, पित्त या कफ को दूषित कर सुखा देती है, तो अश्मरी की उत्पत्ति होती है। मूत्र में घनत्व की वृद्धि होना अश्मरी का मुख्य कारण है। जब चयापचय (Metabolism) की विकृति से यूरिक एसिड और फॉस्फेट की अधिक उत्पत्ति होकर उनके कण एकत्र होने लगते हैं तो श्लेष्मा के सहयोग से परस्पर मिलकर अश्मरी का रूप धारण कर लेते हैं।

एवं जब अश्मरी के टुकड़े होते हैं, तो वडे टुकड़े को शर्करा और छोटे कण को सिकता कहते हैं। इनकी रचना और स्थिति वृक्क, गविनी या मूत्राशय में कही भी हो सकती है। इनके वृक्क या गविनी में अवरुद्ध होने से वृक्कशूल होता है। यह शूल वृक्क, गविनी या वस्ति में जमे हुए रक्त, कफ, पूय आदि के रक्ने एवं उनके द्वारा अवरोध होने पर भी उत्पन्न होता है।

लक्षण

१. मिक्ता कणों के एकप्र होकर मूत्रप्रवृत्ति में अवरोध उत्पन्न करने से वृक्कशूल होता है।

२. मूत्र अम्लीय हो जाता है।

३. मूत्र का वर्ण गाढ़ा धूमर हो जाता है और परीक्षण करने पर मूत्र में कौल्नियम आँग्जलेट की उपलब्धि होती है। इसके कण जब मूत्र-प्रणाली में क्षत उत्पन्न करते हैं तो मूत्र में रक्त बाने लगता है।

४. इनमें कटि के ऊपरी पाश्व में उत्पन्न हुई पीड़ा वक्षण तथा वृष्णिकोश की ओर फैलती है।

५. मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छू, कुधिशूल, उष्णवार, अरुचि और तृष्णा आदि के होने की भभावना होती है।

६. मूत्र में मिक्ता, अश्मरीकण, रक्त या पूय की उपस्थिति हो सकती है।

७. वेग के माध्य वृक्कप्रदेश (कटि) में शूल होता है, जो ऊर और वृष्ण की ओर फैलता है।

८. वमन, कटिप्रदेश में स्पर्शमहिष्णुता, वार-वार मूत्रत्याग की इच्छा एवं कदाचित् मूत्राघात हो जाता है।

चिकित्सासूत्र

१. पद्मासन में जल या गन्ने का रस, फलों का रस अथवा ठढ़ई में कासनी खीरे का दीज, सौफ आदि डालकर भरपेट पिलायें।

२. थोड़ी-थोड़ी देर पर पचतृणमूल क्वाय अथवा वहणादि क्वाय पिलाते रहे।

३. स्नेहन-स्वेदन, वातहर उपचार, मूत्र-विरेचनीय प्रयोग, मूत्रविशेषधन तथा अश्मरीहर द्रव्यों का प्रयोग करें।

४. तीव्र वृक्कशूल में उष्ण कटिस्नान और उष्ण पेय दें।

५. अपेक्षित व्यायाम और विभिन्न आसन-स्थितियाँ अश्मरी को गविनी में से निकालने में महायक होती हैं।

^१ सुश्रुत-निदानस्थान अ० १ में इसी प्रकार के लक्षणों में युक्त दो वातरोगों का वर्णन किया गया है, जिन्हें तूनी और प्रतितूनी कहते हैं—

(क) अधो या वैदना याति वचोमूत्राशयोत्थिता।

भिन्दतीव गुदोपस्य सा तूनी नाम नामत ॥

अर्थात् जो पीड़ा मलाशय और मूत्राशय से उठकर नाचे की ओर जाकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय का भेदन करती हुई सी प्रतीत हो, उसे तूनी कहते हैं।

(ख) गुदोपस्थापिता या तु प्रतिलोमं प्रथाविता।

वेनै. पक्वाशय याति प्रतितूनीति सोच्यते ॥

अर्थात् जो पीड़ा गुदा और मूत्रेन्द्रिय से आरम्भ होकर ऊपर की ओर पक्वाशय तक जाती है, उसे प्रतितूनी कहते हैं।

६. गविनी के अधोभाग में अवरुद्ध अश्मरी को सकीरण (मूत्र) शलाका (Bougies) के प्रयोग से शस्त्रकर्म के बिना भी निकाला जा सकता है ।

७ अतिमात्रा में तरल-द्रव पीने से कैलशियम फॉस्फेट की अश्मरियाँ घुलकर निकल जाती हैं ।

८ सिस्टीन की बनी छोटी अश्मरी क्षारीय मूत्र में घुल जाती है, एतदर्थ अम्लीय मूत्र को क्षारीय बनाने के लिए सोडियम साइट्रेट एवं सोडा बाईकार्बनेट (Soda citrate & Soda bicarbonate) मिक्शर पिलाना चाहिए ।

चिकित्सा

१ तीव्र व्यथा में मार्फीन १० मि० ग्रा० अथवा पेथीडिन १०० मि० ग्रा० का सूचीवेध करके वेदना का निवारण करे ।

२ नोवाल्जीन या वेराल्गन ४-५ ग्राम आवश्यकतानुसार दे ।

३ पेण्टाजोसीन (Pentazocine) ३० मि० ग्रा० का पेशीगत सूचीवेध करे ।

४. शक्तिसरक्षणार्थ—मकरध्वज, वसन्ततिलक, हृदयार्णव रस, विष्वेश्वर रस का उचित मात्रा में प्रयोग करे ।

५ अश्मरी-शर्करा पातनार्थ—त्रिविक्रम रस, पाषाणभिद् रस, बदरीपाषाण भस्म, क्षारपर्पटी, अश्मरीहर वटी तथा चन्द्रकला रस, वरुणादि क्वाथ, तृण पञ्चमूल क्वाथ आदि का यथायोग्य प्रयोग करे ।

पञ्चदश अध्याय

मूत्रावरोध, अन्त्रावरोध, हच्छूल तथा मूच्छी मूत्रावरोध

(Retention of Urine)

परिचय—एक भी सार भर्मस्थानों में तीन (१ वस्ति २ हृदय और ३ शिर) प्रधान भर्म कहे गये हैं। उनमें वस्ति अन्यतम भर्म है। वस्ति शब्द से मूत्र-निर्माण एवं मवहन यन्म अभिप्रेर है, जिसके अन्तर्गत वृक्क, गविनी, वस्ति (मूत्राशय) और मूत्रप्रसेक हैं। यह एक प्रधान रक्तशोधक कोष्ठाङ्ग है और इसके रुण होने पर शिर, हृदय और नमस्त्र शरीर रोगी बन जाता है। जब मूत्रमस्थान, रुण हो जाता है, तब रक्त से मूत्र में छनकर जाने वाले विषात्मक द्रव्य रक्त में ही रह जाते हैं और शरीर में व्याप्त होकर विषवत् प्रतिक्रिया करते हैं, जिसे धूरीभिया कहते हैं।

वृक्क और सम्बद्ध अवयवों की क्रियाहानि होने पर मूत्र-निर्माण न होने अथवा मूत्र के बनते रहने पर भी मूत्राशय की दुर्बलता या मूत्र-मार्ग के अवरोध के कारण मूत्रोत्सर्ग न होने की स्थिति का नाम मूत्रावरोध है।

इस आत्ययिक स्थिति को व्यक्त करनेवाले आयुर्वेद में दो रोग कहे गये हैं—

१ मूत्रकृच्छ्र (Painful diminished output of urine) ।

२ मूत्राघात (Obstructed micturition) ।

इनमें मूत्राघात का सम्बन्ध मूत्रावरोध से है। मूत्राघात १३ प्रकार का कहा गया है, उनमें से—१ वातवस्ति २ मूत्रोत्सर्ग और ३ मूत्रक्षय, ये तीन मूत्रावरोध के लक्षणवाले स्पष्टत दीख पड़ते हैं।

कारण

१ वातवस्ति, मूत्रोत्सर्ग और मूत्रक्षय (इन मूत्राघातों का) होना ।

२ नरसिंह रूप अर्धाङ्गवात (Paraplegia) होना ।

वातवस्ति—मूत्र के वेग को धारण करनेवाले व्यक्ति का वायु उसकी वस्ति में प्रवल अवरोध उत्पन्न कर देता है, जिससे मूत्र बाहर नहीं निकलता और मूत्रसर्ग हो जाता है, जिसे वातवस्ति कहते हैं।

मूत्रोत्सर्ग—प्रकृष्टि वायु वस्ति या शिश्नमणि में अवरोध उत्पन्न करके वेदना के साथ या विना वेदना के योडी-योटी मात्रा में कभी-कभी सरक्त मूत्र की प्रवृत्ति कराता है, उसे मूत्रोत्सर्ग कहते हैं।

मूत्रक्षय—रक्ष प्रकृतिवाले पुरुष जब अधिक परिश्रम करते हैं, तब उनका वस्तिगत पित्त और वायु प्रकृष्टि होकर मूत्र का क्षय करते हैं। मूत्र के क्षय से वस्ति रिक्त रहती है और उसमें दाह तथा पीड़ा उत्पन्न होती है।

- ३ मूत्राशय से सम्बद्ध अवयवों की क्रियाहानि ।
- ४ तीव्र विषमयता एव मूर्च्छा तथा सुपुस्ता के रोग होना ।
- ५ अष्टीलावृद्धि या मूत्राशय की अश्मरी से मूत्रवहस्तोतोवरोध ।
- ६ अशुधात, दक्षिण हृदयातिपात की गम्भीर स्थिति ।

७ जलाल्पता, भय, सत्रास, आरक आदि का वारावरण । आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से निम्न तीन ऐसी स्थितियाँ हैं, जिनमें मूत्रावरोध की सभावना होती है—

- १ डिस्यूरिया^१ (Dysuria—painful micturition)—मूत्रकृच्छ्र ।
२. रिटेंशन आफ यूरिन^२ (Retention of urine)—मूत्राधार ।
- ३ ओलीगूरिया^३ (Oliguria—diminished output of urine)—वातकुण्डलिका ।

चिकित्सासूचि

१ निदान का परित्याग दृढ़तापूर्वक करना चाहिए । विकृति का सही निदान कर मूत्रावरोध को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

२ मूत्रल, दीपन, पाचन, मूत्रवह स्रोतस् और शामक औषध दे ।

Causes—

- १ (i) Urethral Acute urethritis, gonorrhoea, balanitis
 (ii) Prostatic. Acute gonococcal prostatitis, carcinoma
 (iii) Bladder diseases. Acute cystitis, bladder-stone.
 (iv) Gynaecological and rectal Fibroids, carcinoma
- २ (i) Urethral causes Stricture or calculus
 (ii) Prostatic Congestion or inflammation.
 (iii) Bladder Atony due to overdistension
 (iv) Past-operative
 (v) Post-anæsthetic After spinal anaesthesia
 (vi) Neurological Spinal cord lesion
 (vii) Psychogenic, Nervousness
३. (i) Physiological. Humidity, environment, work
 (ii) Poor intake of fluids
 (iii) Loss of fluids Dehydration
 (iv) Excess of sugar and salt in diet
 (v) Cardiac, congestive failure, left ventricular failure
 (vi) Renal Acute nephritis, collagen disease, uraemia.
 (vii) Drugs. Sulfonamides, mercury
 (viii) Vascular Thrombosis of renal artery or vein or of inferior vena cava

३. न्वेदन, उप्पन कटिस्नान एव मूयशलाका का प्रयोग कर मूत्र का उत्सर्ग करायें तथा क्षार और द्रव पदार्थ पीने को द ।

४. नस्तिन्ध विरेचन दें, उत्तर्खन्ति का प्रयोग करे तथा वातहर उपचार करें ।

५. कलमीसोरा, नीमादर और कपूर ३-३ ग्राम लेकर २०० ग्राम जल मे मिलाकर घुला लें, फिर उन द्रव मे चार परत का वस्त्रखण्ड भिगोकर या गहीदार रुई भिगोकर नाभि के नीचे रखें । अथवा —

६. कलमी सोरा और कपूर वरावर-वरावर लेकर पीसकर भीगी हुई रुई मे लपेट कर नाभि के नीचे रखे और थोड़ी-थोड़ी देर पर ४-६ बूँद जल रुई पर डालते जाये ।

७. प्रतिदिन पोटान के हूँके धोल या एंजिप्सेलेविन (१ १०००) या मरक्यूरोकोम (१ १००) के धोल मे मूत्राशय प्रक्षालित करने के बाद मूयशलाका बदल देनी चाहिए । ३-४ दिनों तक इस क्रम ने मूत्र का शोधन करते रहने पर मूत्राशय का नकोच-नामर्थ उत्पन्न हो जाता है और अपने आप मूत्र का उत्सर्ग होने लगता है ।

चिकित्सा

१. फर्मेयोइड आयोडाइड (Furmethide iodide) की १० मि० ग्रा० की गोली ८-१० घण्टे के अन्तर पर देने से अगधातजनित मूत्रावरोध दूर होता है ।

२. कैफीन सोडा बेजोएम (Caffin soda ben/oas) की १० ग्रैन की मात्रा को २ मी० मी० जल मे पेशी द्वारा या डाइयूरेटिन का मुख द्वारा विवेकानुसार प्रयोग करे ।

३. यवाखार दू ग्राम और चीनी १ ग्राम मिलाकर आधा-आधा घण्टे पर ठण्डे जल से ४-५ बार दें ।

४. कूप्याण्टस्वरम, कदलीस्तम्भ जल, नारीकेल जल अथवा चीनी के शर्वरत मे १ ग्राम क्षारपर्टी डालकर प्रति आधा घण्टे पर लाभ होने तक दे ।

५. गोक्षुरादि गुग्गुलु १ ग्राम, चन्द्रप्रभावटी १ ग्राम, शिलाजतु १ ग्राम और चन्दनादिचूर्ण १० ग्राम लेकर ५ मात्रा बनायें और २-२ घण्टे पर इक्षुरस या वरुणादि क्वाथ या पुनर्नवाष्टक क्वाथ अथवा पञ्चतृणमूल क्वाथ के नाथ देना चाहिए ।

६. वरुणादि नीह, चन्द्रकलारम, त्रिविक्रमरम और वृहदगोक्षुरग्राहवलेह तथा एलादि चूर्ण का आवश्यकतानुसार प्रयोग करे ।

७. एकल द्रव्यो मे शीतल चीनी, नीमादर, कलमीसोरा, यवाखार, पलाश-पुष्प, पुनर्नवा, राल, छोटी इलायची, कुलयी, मुलहठी, कमलगद्वा, ईसबगोल की भूसी, गोखरू, अनन्तमूल, छोटी दूधिया, सोडावाटर, दूध-जल को लस्सी, गन्ध-विरोजा, सतावर, तालमखाना और पापाणभेद -- इनका आवश्यकतानुसार आम्यन्तर और वाह्य प्रयोग करना चाहिए ।

अन्त्रावरोध/बद्धगुदोदर (Intestinal Obstruction)

परिचय—यह एक गम्भीर आत्ययिक स्थिति है, जब कि अन्त्र के पूर्णत अवरुद्ध हो जाने से मल तथा अधोवायु की प्रवृत्ति एकदम वन्द हो जाती है। अथवा मल गुदनली में अटक जाता है और कष्टपूर्वक थोड़ा-थोड़ा निकलता है। उदर में पीड़ा होती है, वमन होता है, जिसमें पहले पित्त सहित भुक्तान्न, फिर अन्त्र में रुका हुआ मल निकलता है। इसमें उदरशूल, वमन और मलावरोध, ये तीन विशिष्ट लक्षण होते हैं।

जिहाज़'

- १ पिच्छल, अभिष्यन्ती और ग्राही गुणयुक्त आहार का अधिक सेवन।
 - २ भोजन के साथ बाल तथा बालू आदि के कणों का अन्त्र में जाकर रुकावट करना।
 - ३ उदावर्त, आनाह या अर्शाकुरो से गुदमार्गविरोध होना।
 - ४ बच्चों में सन्निरुद्ध गुद (Strictur of the rectum) का होना।
 - ५ अन्त्रान्त्र-प्रवेश (आंतों का उलझा जाना), उदरगुहा के भीतर अर्बुद, ग्रन्थि अन्त्र-सकोच एवं गण्डूपद कृमि (Round worms) का होना।

संस्कृति

पूर्वोक्त कारणों से अँतों की अवरोधात्मक विकृति होने से प्रकुपित अपानवायु जठराग्नि को मन्द करके अँतों में मल, पित्त एव कफ का सचय कर बद्धगुदोदर या अन्त्रावरोध रोग को उत्पन्न करती है।^३

लक्षण

- १ मल-मूत्र एवं अपानवायु के निर्गमन का पूर्णत अवरोध या अधिकाशत अवरोध होने पर कष्ट के साथ उत्पण प्रवृत्ति होना ।
 - २ मलावरोधजन्य मल की सडन और उससे दुर्गन्धित गैस की उत्पत्ति तथा गैस का जमाव होना ।
 - ३ गैस-सचय से हृदय और नाभि के मध्य उभार होना ।
 - ४ गैस-सचय से उत्पन्न विष का आँतो मे लीन होकर शीतकाय वमन, नाडीक्षीणता आदि घोर लक्षणो की उत्पत्ति होना ।

२ यस्यान्वमन्त्रैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहित यथावत् ।
 मञ्चीयते तस्य भल सदोष क्रमेण नाल्याभिव सङ्करो हि ॥
 निरुद्धयते चास्य गुदे पुरीष निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
 हन्त्राभिमध्ये परिवृद्धिमेति यन्नोदर विट्समगन्धिक च ॥
 प्रच्छर्द्यन बद्धगदी विभाव्य ॥ —सु० नि० ७

2 Intestinal obstruction is a condition in which passage of faeces and flatus through the bowel is delayed or prevented (Savill).

५. पिर, हृदय, नागि और गुदा में शूल, अरोचक, अविग्रह करना।

६. कदाचित् पुरीष के समान गन्धवाला उमन होना।

७. उदर स्पिर, निश्चल एवं नाभि के ऊपर गोपुच्छाकृति का उभार होना।

८. तृष्णा, दाह, ज्वर, गुण-तानुगोप, कास-श्वास, दौर्वंत्य आदि।

चिकित्सासूत्र

१. महानायण रूल का अभ्यग कर रखेदन करे।

२. उत्तम कोटि की हींग ५०० मि० ग्रा० नेकर भोटा चूर्ण कर २०-२५ ग्राम थी में हल्का भूनकर पिलाना चाहिए।

३. गुदा में गुदवर्णी (गपोजिटरी) लगाना चाहिए।

४. तीक्ष्ण औपध युक्त निरुद्धवर्ति एवं अनुवाननवस्ति दे।

५. वारानुलोमन औपध द्वारा वायु के अनुलोग हो जाने पर तीक्ष्ण विरेचन औपध उच्छाखेदो रस या नाराच रस आवश्यकतानुभार दे।

६. वातनिरोध-प्रधान अन्त्रायरोध में न्यैहन-रखेदन करके आस्थापन वस्ति दे तथा पुरीषनिरोध में आनाहरोग-नाशक उपचार करे और मूत्रनिरोध में मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरीरोग-नाशक चिकित्सा करे।

७. अन्त्रान्त्रायरोध—आंतों के उलझने की स्थिति में रोगी को शल्य-चिकित्सक के पास भेजें।

८. वातानुलोमन तथा मलनि मारक द्रव-प्रधान औपध एवं आहार दे।

घ्यवस्था-पथ

१. १-१ घण्टे पर ४-४ वार—

नारायण चूर्ण	१५ ग्राम
शिवाक्षारपाचन चूर्ण	१५ ग्राम
पश्यादि चूर्ण	१० ग्राम
गरम जल से।	५ मात्रा
तत्पञ्चात् हिंगवादि वटी २-२ गोली चूसना।	

अथवा—

२. १-१ घण्टे पर—

हिंगुद्विगुत्तरादि चूर्ण	१५ ग्राम
मोडा वाईकार्ब	५ ग्राम
गरम जल से।	५ मात्रा

३. विवन्ध की प्रबलता में—

एरण्ड रूल	७०-८० मि० ली०
१ गिलास गरम में पिलाये।	१ मात्रा

अथवा—

४ नाराच चूर्ण

गरम जल से ।

१० ग्राम

१ मात्रा

५ नाभि पर लेप—देवदारु, बच, कूठ, सौफ, हिंगु और सेधानमक समभाग लेकर गरम कर नाभि के नीचे लेप करे ।

६ रसोन योग—लहमुन का स्वरस २० मि० ली०, एरण्डरैल १० ग्राम, सेधानमक ३ ग्राम, शुद्ध हींग १ ग्राम/१ मात्रा सभी को एक मे मिला गरम कर पिलाये ।

७ त्रिकट्टवादि वर्ती—सोठ, मरिच, पीपर, सेधानमक, सरसो, कूठ, मदनफल सब समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर समभाग गुड़ मिलाकर चासनी पकाये और अगूठे जितनी मोटी यवाकार वर्ती बनाये । वर्ती तथा गुदा मे धी या तेल लगाकर वर्ती को धीरे-धीरे गुदा मे प्रविष्ट करे ।

पथ्य-अपथ्य

पुराना चावल और मूँग की दाल की पकी अधिक धी डाली खिचडी, पतली मूली, बथुआ, सहिजन की फली, हींग, अदरक, कागजी नीबू, मुनक्का, दूध, समान मात्रा मे धी-चीनी मिला जी-चने का सत्तू, ये पथ्य है ।

गुरु, आलू तथा कन्द, बेसन के बने पदार्थ, कस्तूरे पदार्थ, कटहल, कोहडा, दहीबडा आदि अपथ्य है ।

हृच्छूल

परिचय—शरीर मे एक सौ सात मर्म-स्थान है, जिनमे तीन (हृदय-वस्त्रिं-जिर) प्रधान है और उनमे भी सबसे प्रधान हृदय है^१ । हृदय की धड़कन जब तक होती है तब तक ही जीवन है और धड़कन का बन्द होना मृत्यु है । मर्म^२ उस स्थान को कहते है जिस पर आघात होने से या जिसके विकृत होने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है ।

हृदय रस या रक्त का स्थान है । आहार का तेजस्वी सारभाग रस या रक्त है और वह अहनिष गतिशील रहकर शरीर का पोषण, धारण और सर्वर्धन करता रहता है^३ । पुरुष को रस से ही उत्पन्न हुआ समझना चाहिए । इसलिए बुद्धिमान पुरुष सावधान^४ होकर हितकर अन्न, पान और आचार से रस की रक्षा करे ।

^१ सप्तोत्तर मर्मशन युक्त शरीरसङ्ख्यामधिकृत्य तेभ्य ।

मर्माणि वस्त्रि हृदय शिरथ प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञा ॥

प्राणाश्रयात् तानि हि पीटयन्तो वानादयोऽसूनपि पीटयन्ति । —च० चि० २६।३-४

^२ व्रियतेऽनेन 'मृड़ प्राणत्यागे' (तु० आ० अ०) 'मर्वंधतुभ्यो मनिन्' (उ० ४।४५) ।

—अमर० ३।५।३० रामाश्रमी

^३. कृत्स्न शरीरमहरहम्तर्पयति वर्यति धारयति यापयति च । —सु० स० १४।३

^४ रमज पुरुष विद्याद्रम रक्षेन्प्रयत्नत । अन्नात्पानाच्च मतिमानाच्चाराच्चाप्यतन्द्रित ॥

—सु० स० ४।१२

रस आदि नात धातुएँ शरीर का धारण करती हैं, उसलिए उन्हें धातु कहा जाता है और इन धातुओं की क्षीणता और वृद्धि का फारण रक्त है^१। रक्त का निर्माण रस धातु से होता है।

‘रक्त-परिभ्रमण का यन्त्र हृदय है और जब तक रक्त समस्त शरीर में परिभ्रमण करता रहता है, तब तक जीवन सुरक्षित रहता है। जब हृदय की आङ्गिक विकृति अथवा क्रियाहानि होती है तब हृच्छूल उत्पन्न होता है।

रक्त-परिभ्रमण (Blood circulation) हृदय के सङ्कोच से रक्त बड़े बेग से वृहद् धमनी में प्रवेश कर उसकी विभिन्न शाखाओं द्वारा समस्त शरीर में फैलता है। धमनी से रक्त धमनिका तथा केशिकाओं (Capillaries) में जाता है तथा उनकी दोवारों से परिस्तुर पोषक रस एवं प्राणवायु से अङ्ग-प्रत्यङ्ग पोषित होते हैं। फिर केशिकाओं के मिलने से शिराएँ बनती हैं, जिनसे रक्त हृदय की ओर वापस आता है और अन्त में नीचे तथा ऊपर गया हुआ रक्त अधोग महाशिरा तथा ऊर्ध्वग महाशिरा द्वारा हृदय के दक्षिणालिन्द में आ जाता है। हृदय के दक्षिण नियल से रक्त शुद्ध होने के लिए फुफ्फुसों में जाता है तथा वहाँ से शुद्ध होकर शिराओं द्वारा हृदय के वामालिन्द में वापस आ जाता है। फिर वहाँ से वामनिलय में होकर वृहद् धमनी में जाकर समस्त शरीर में भ्रमण करता रहता है। एक बार के रक्तपरिभ्रमण में अनुमानत १५ सेकण्ट लगते हैं।

शरीर में चार प्रकार के रक्त-परिभ्रमण माने गये हैं—

१. शारीरिक रक्तपरिभ्रमण (General blood circulation)।

२. फुफ्फुसीय रक्तपरिभ्रमण (Pulmonary blood circulation)।

३. याकृत रक्तसवहन (Partial blood circulation)।

४. वृक्कीय रक्तसवहन (Renal blood circulation)।

हृदय का रक्त द्वारा सम्यक् रीति से पोषण न होने के कारण होनेवाला अथवा हृदय के अवयव-सम्बन्धी विकार के कारण या क्रिया-सम्बन्धी विकार के कारण हृदय में होनेवाला शूल हृच्छूल है। हृदय में आघात या विकार का होना घातक होता है। आयुर्वेद में वात-पित्त-कफ —त्रिदोष और कृमि से होने वाले ५ प्रकार के हृदरोग कहे गये हैं। उनमें वातज हृदरोग में शूल एक प्रधान लक्षण है। कोई भी शूल विना वायुप्रकोप के नहीं होता—‘नर्तेऽनिलाद् रुक्’। इसलिए वातज हृदरोग को हृच्छूल समझना चाहिए। रसक्षय में भी शूल एक विशेष लक्षण है।

आयुर्वेद^२ में रसक्षय के जो लक्षण दिये गये हैं, वे हृच्छूल के अतिशय के निकट हैं, जैसे—

१. तैषा क्षयवद्दी शोणितनिमित्ते ।

—सु० स० १४।२१

२. छदो रसो नि सरति तत एव च मर्वत । सिराभिर्हृदयञ्चैति ।

—मैलसहिता

३ (क) रसक्षये हृत्पीडा, कम्प, शून्यता तुष्णा च ।

—सु० स० २५।२३

(ख) घट्टते सहते शब्द नोच्चैर्द्वति शूल्यते । हृदय ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ॥

—च० स० १७।६४

- १ हृतपीडा (Angina or pain in heart) ।
- २ कम्प (Murmur or tremor) ।
- ३ शून्यता (Lightness) ।
- ४ तृणा (Thirst) ।
- ५ घट्टन—हीलदिल-घबड़ाहट (Palpitation) ।
- ६ उच्च शब्द की असहिष्णुता—जोर की आवाज वर्दास्त न होना ।
- ७ हृदयद्रव—धड़कन वढ़ जाना ।
- ८ तीव्रशूल ।
- ९ हृदय में ग्लानि (दिल बैठ जाना) ।

निदान^१

१ शोक, २ उपवास, ३ व्यायाम, ४ रुक्ष-शुष्क आहार, ५ अल्पाहार, ६ अतिवमन, ७ अतिविरेचन, ८ अतिवस्ति, ९ चिन्ता, १० भय, ११ त्रास, १२ वेगावरोध, १३ शारीरिक, हार्दिक या मानसिक आघात आदि । १४ रसक्षय, १५ रक्तक्षय, १६. हृदयपेंगी-धमनी-सिरा विकृति, १७ हृतपेशीशोथ तथा १८ शिरागत वारं आदि ।

सम्प्राप्ति^२

रसक्षय आदि उक्त कारणों से हृदय की पेशी में अवरुद्ध कफ एवं पित्त वायु के साथ रक्तसवहन में अवरोध कर पेशी में विकृति कर हृदय में शूल उत्पन्न करते हैं । एवं हार्दिक या मानसिक आघात लगने से बढ़ी हुई वायु हृदय-प्रदेश में जाकर अत्यधिक शूल उत्पन्न करती है ।

वक्तव्य—एञ्जाइना पेक्टोरिस (Angina pectoris) और कोरोनरी श्रोम्बो-

१ आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से निम्न रोगों में हृच्छूल हो सकता है—

- (i) Angina pectoris
 - (ii) Coronary thrombosis
 - (iii) Coronary occlusion
 - (iv) Intermediate coronary syndrome
 - (v) Pericarditis
 - (vi) Myocarditis
 - (vii) Endocarditis
 - (viii) Ischaemic diseases of the heart
 - (ix) Cardiac neurosis
 - (x) Congenital heart disease
 - (xi) Hypertension
 - (xii) Rheumatic heart disease
- २ कफपित्तावरद्धन्तु मासूत रम्मूच्छ्वानागोथक परम ॥
स हृच्छूल दृष्टि व्यातो रममारुतमस्मव ।

सिस (Coronary thrombosis) में हृच्छूल अनिवार्य रूप से रहता है। इन दोनों में शूल की प्रकृति तथा अन्य लक्षणों में भिन्नता होती है, जो नीचे के कोष्ठक में प्रदर्शित है—

एंजाइना (Angina)	हृदयवाहिनी घनात्ता (Coronary thrombosis)
१ परिश्रम, भावावेश अथवा भोजनो-परान्त शूल का आक्रमण।	१ रात्रि में आराम के समय आक्रमण।
२. रोगी निश्चल खड़ा रहता है, हिलने से डरता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, पसीना आ जाता है और शीत का अनुभव करता है।	२ रोगी बेचैन होकर इधर-उधर घूमता रहता है, शरीर गरम होता है, चेहरे पर श्यावता (Cyanosis) होती है।
३ कुछ मिनट में आवेग समाप्त हो जाता है।	३ आवेग कुछ घण्टों तक भी रह सकता है।
४ शूल का प्रचलन अनिवार्य रूप से वामवाहु या कभी-कभी दोनों वाहु की ओर होता है।	४ शूल का इस प्रकार में प्रचलन नहीं होता। यह उर फलक के पीछे और कुछ नीचे तक रहता है।
५ रक्तवाहिनी-प्रसारक औषधियों के प्रयोग से शूल शान्त होता है।	५ ऐसी औषधियों के प्रयोग से शूल की वृद्धि होती है।
६ धमनीगत रक्त का दाव बढ़ जाता है।	६ धमनीगत रक्त का दाव कम रहता है और शिरागत दाव बढ़ जाता है।
७ ज्वर नहीं रहता।	७ ज्वर अल्प अश में रहता है।
८ रक्तगत घनता साधारण होती है।	८ रक्त की घनता बढ़ जाती है।

लक्षण^१

१ हृदय-प्रदेश में पीड़ा, हृदय की घड़कन बढ़ जाना, हृदय में एठन होना, हृदय की गति में रुकावट होना तथा हृदयशून्यता।

२ हृदय-दौर्वल्य, भेदनवत् या मन्थनवत् पीड़ा, हृत्कम्प।

३ हृदय में खिचावट, मूचीवेधनवत् पीड़ा, कर्तेनवत् पीड़ा।

४ मूच्छा, भय, त्रास, चक्कर आना, शब्दासहिष्णुता।

५ श्वासावरोध, शोक, दैन्य, विवर्ध, आध्मान।

चिकित्सासूत्र

१. पूर्ण विश्राम करे और क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता आदि से दूर रहे।

^१ च० स० १७१३२ तथा सु० उत्तर० ४३।६ एव च० चि० २६।७९।

- २ अधिक बोलना, भाषण-प्रवचन, विवाद और धूप से बचे।
- ३ ब्रह्मचर्य का पालन करें, कामवासना एवं उद्दीपक कारणों से बचे।
- ४ सभी प्रकार की उत्तेजनात्मक परिस्थितियों से परहेज करें।
- ५ रोगी को सान्त्वना व आश्वासन दे और भीड़भाड़ से बचाये।

चिकित्सा

- १ तत्काल उचित उपचार की व्यवस्था करनी चाहिए।
- २ एंजीसेड (Angised) या सार्बिट्रेट (Sorbitrate) की गोली रोगी की जीभ के नीचे रखवाना चाहिए।
- ३ नाइट्रोग्लिसरीन (Nitroglycerine) $\frac{1}{200}$ ग्रैम की १-२ गोली रोगी की जीभ के नीचे रखवाये या पेनिट्रेट (Penetratc) अथवा डायलेट्रेन (Dilatrane) की गोली का प्रयोग कराये।
४. पैथिडीन ५० से १०० मिलीग्राम का सूचीबंध प्रयोग करें।
- ५ एमाइनोफाइल्लिन (Aminophylline) १५ ग्रैम की गोली दिन में ३ बार दे।
- ६ क्षीरपाक-विधि से अर्जुन की छाल या शालिपर्णी या वरियार अथवा दशमूल डालकर पकाया हुआ दूध दे।
- ७ नागवली, अर्जुनत्वक, पुष्करमूल, जटामसी, सोठ तथा कुटकी के समभाग का चूर्ण २-२ ग्राम की मात्रा में २-२ घण्टे पर दूध के साथ दे।
- ८ घवडाहट, बैचैनी और उद्वेग होने पर अजवायन का अर्क या लताकस्तूरी का अर्क अथवा सौंफ या पुदीना का अर्क गुलाबजल मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पीने को देते रहे।
- ९ सिद्ध योग—नागर्जुनाभ्र, प्रभाकर वटी, हृदयार्णव रस, मृगशृङ्ख भस्म, चिन्तामणि रस, जवाहरमोहरा, अर्जुनाटिष्ट, हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण, हिंगवादि चूर्ण, हिंगवादि वटी आदि का आवश्यकतानुसार प्रयोग करें।

व्यवस्थापन

१ २-२ घण्टे पर—

मकरध्वज	५०० मिं ग्रा०
प्रवालपिण्डी	१ ग्राम
मृगशृङ्ख भस्म	१ ग्राम
प्रभाकर वटी	५०० मिं ग्रा०
जवाहरमोहरा पिण्डी	५०० मिं ग्रा०
अर्जुनचूर्ण १ ग्राम एवं मधु से।	१५ मात्रा

अथवा ३-३ घण्टे पर—

नागार्जुनाभ्र	१ ग्राम
योगेन्द्र रस	५०० मि० ग्रा०
शृग भस्म	१ ग्राम
वातकुलान्तक	५०० मि० ग्रा०
पुष्करमूल चूर्ण १ ग्राम एव मधु से ।	४ मात्रा

२ भोजन के बाद २ बार—

अर्जुनाद्यरिष्ट	४० मि० ली
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

३ १-१ घण्टे पर—

हिंश्वादि वटी १-१ गोली चूसना ।

४ प्रातःसाय—

अर्जुनत्वक्-सिद्ध क्षीर का प्रयोग ।

५ रात में सोते समय—

हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण ४ ग्राम सुखोष्ण जल से ।

पथ्य

गेहूं की रोटी, मूँग की दाल, पुराना चावल, परवर, करेला, आँवले का मुरब्बा सेव का मुरब्बा, पेठा, मुनक्का, किसमिस, अगूर, अजवायन, सोठ, छोटी हरे, लहसुन, पतली मूली, गुलाबजल, अजवायन अर्क आदि पथ्य हैं ।

अपथ्य

थ्रमजनक कार्य करना, व्यायाम, गुरु आहार, कषायरस वाले द्रव्य, वेगावरोध, अध्यशन, नदी जल, खट्टे पदार्थ, मट्टा, महुआ का फल और पत्रशाक अपथ्य हैं ।

मूर्च्छा

(Fainting)

परिचय—सज्जाहीनता, बेहोशी, अचेतनता, ये मूर्च्छा के पर्याय हैं । हृदय में पीड़ा, जँभाई, किसी कार्य को करने में अनिच्छा और चेतना-ह्रास एव सुख-दुःख के विवेक का नाश कर उमोगुण तथा पित्तप्रधान दोष व्यक्ति को बेहोश बना देते हैं और वह कटे हुए वृक्ष की तरह गिर पड़ता है । इस अवस्था को मूर्च्छा कहते हैं । दोषों के प्रकोप का आवेग जब शान्त हो जाता है तो रोगी स्वयं सचेत हो जाता है । यदि वह खड़ा होता है तो मूर्च्छा का वेग आने पर अचेत होकर पुन गिर पड़ता है और नाड़ी निर्बल और तेज चलने लगती है अथवा अत्यन्त धीमी पड़ जाती है । श्वास अनियमित रूप से तेज या लम्बी चलने लगती है और मुख पीला पड़ जाता है ।

निदान

१. शरीर की धातुओं की क्षीणता ।
२. अत्यधिक तम-प्रित्तप्रधान दोष-प्रकोप ।
३. अधारणीय वेगों का धारण ।
- ४ मस्तिष्क का तीव्र आघात ।
- ५ मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में रक्तसवहन-वाधा ।
- ६ किसी विष के प्रभाव से मस्तिष्क की बड़ी धमनी का फट जाना ।
- ७ सज्जाहर औषध का दुष्प्रभाव ।
८. उच्च रक्तचाप ।
- ९ अतितीव्र सराप, लू लगना या आग का साहचर्य ।
- १० मादक द्रव्य (अफीम, भाग, धतूरा, मद्य आदि) का सेवन ।
- ११ हीन मनोबल—हिस्टीरिया एवं अपस्मार सदृश रोग होना ।
- १२ अहितकर आहारजन्य अम्लोत्कर्प (Acidosis), क्षारोत्कर्प (Alkalosis) अथवा मूत्रविषमयता (Uraemia) ।

वक्तव्य—मूर्च्छा का विशेष सम्बन्ध हृदय या सम्पूर्ण रक्तवहस्थान और मस्तिष्क की विकृति से होता है। अत इसे सिनकोप (Syncope) और कोमा (Come) की मिली हुई अवस्था कह सकते हैं।

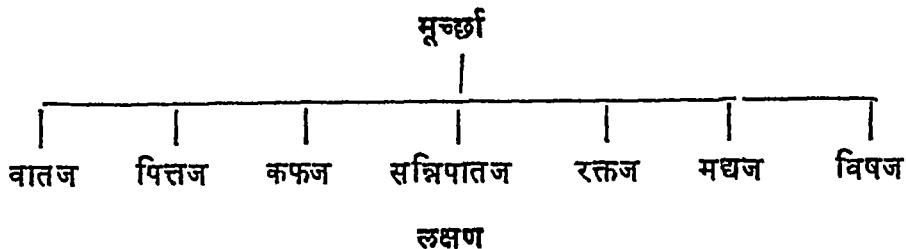
रक्त-सवहन के विकार (Circulatory disturbances) दो प्रकार के होते हैं—
 १ हृदय-सम्बन्धी (Cardiac) और २ परिसरीय (Peripheral) । पहले प्रकार की विकृति का केन्द्र हृदय ही होता है। रक्त की पर्याप्त मात्रा रहते हुए भी वह हार्दिक पेशीगत तथा हार्दिक कपाटगत विकृति के कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में पोषण के लिए रक्त की पर्याप्त मात्रा पहुँचाने में असमर्य रहता है। दूसरे परिसरीय रक्तसवहनावरोध प्रकार में कुछ अगों में केशिकाओं का विस्फार (Dilatation) होने के कारण हृदयगामी शिरागत रक्तप्रवाह स्वभावत कम हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप हृदय में रक्त की कमी हो जाती है। हृदय में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क को सामान्यतया मिलनेवाली मात्रा भी कम हो जाती है।

दोनों प्रकार से होनेवाला रक्तसवहनावरोध (Circulatory failure) मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा तज्जन्य मूर्च्छा का उत्पादक होता है, फिर भी परिसरीय प्रकार का कारण विशेष महत्त्व रखता है।

सम्प्राप्ति

दुर्बल मनोबल वाले व्यक्ति की सज्जावाहिनी नाड़ियाँ पूर्वोक्त कारणों से जब दोषावृत हो जाती हैं, तो आँखों के आगे सुख एवं दुख के विवेक को नष्ट कर देने वाला अन्धकार या तमोगुण छा जाता है और सुख-दुख का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मनुष्य कटी ढाल की तरह जमीन पर गिर पड़ता है, इसे ही मूर्च्छा कहते हैं।

मूच्छा के भेद एवं लक्षण



वातज—१ आकाश को नील, कृष्ण या अरुण रंग का देखते हुए मूर्च्छित होना । २ शीघ्र होश आना । ३ कुशरा, कम्प, अगमद, झाँईदार या गुलाबी चेहरा ।

पित्तज—१ आकाश को रक्त, हरा या पीले रंग का देखते हुए मूर्च्छित होना । २ पसीना होकर होश आना । ३ तृष्णा, दाह, लाल-पीली व्याकुल आँखे । ४ पीताभ एवं अनियन्त्रित मल-त्याग ।

कफज—१ आकाश को मेघाचलन्न होते देखकर वेहोश हो जाना । २ देर से होश आना । ३ अशो का गुरु तथा आद्र्वस्त्र या चर्म से आवृत-सा लगना । ४ लालासाव एवं मिचली होना ।

सन्धिपातज—१ सभी दोषों के पूर्वोक्त लक्षण और २ शीघ्र वेहोश होना ।

रक्तज—१ रक्त के गन्ध या दर्शन मात्र से मूर्च्छित होना । २ अगो में जकड़न । ३ आँखों में टकटकी और ४ गहरी श्वास लेना ।

मध्यज—इसमें रोगी प्रलाप करता हुआ सज्जाहीन या विक्षिप्त चित्त होकर हाथ-पैर पटकता हुआ तब तक मूर्च्छित रहता है जब तक कि मध्य का परिपाक नहीं हो जाता ।

विषज—कम्पन, निद्रा, तृष्णा, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना तथा विष की उग्रतानुसार मृदु, तीव्र या अतिरीत्र लक्षणों का होना ।

सापेक्ष निदान

मूच्छा	अपस्मार	संन्यास
१ वेग क्रमिक	वेग सहसा	वेग सहसा
२ आक्षेप नहीं	आक्षेप उपस्थित	आक्षेप नहीं
३ प्राय हृद्विकारजन्य	मनोदोषज	मनोदोषज
४ प्रत्यावर्तन-क्रिया	प्रत्यावर्तन-क्रिया	प्रत्यावर्तन-क्रिया
विद्यमान	विकृत	अनुपस्थित
५ वेग स्वय शान्त	वेग स्वय शान्त	वेग औषध से शान्त

चिकित्सासूत्र

प्रबोधनार्थ उपचार—

१ सर्वप्रथम रोगी को समुचित रूप से करवट या पेट के बल सुलाये ।

२. रोगी को निकट के किसी आदुरालय में प्रविष्ट कराना चाहिए ।

३ रोग के कारण के अनुरूप चिकित्सा करना उत्तम है । अधिकतर पित्तदोष की अधिकता या प्रबलता मूर्च्छा को उत्पन्न करती है ।

४ बेहोशी दूर करने के लिए तत्काल—१ अञ्जन, २. अवपीडन नस्य, ३ तीव्र गन्ध द्रव्य का धूम, ४ सूचीवेध, ५ केशलुञ्चन, ६ दाहकर्म, ७ शीरल जलाव-सेचन, ८ आत्मगुप्तावधर्षण (केवांच की फली के रोये देह में रगड़ना), ९. दन्त-दशन तथा १० प्रधमन नस्य का सुविधा के अनुसार प्रयोग करना चाहिए ।

५ पखे की ठड़ी-ठड़ी हवा (कूलर लगाकर या खस का पखा गुलावजल में तरक्कर), शीरल सुगन्ध माला का धारण, सुरुचि पूर्ण इन्तका अनुलेप, अगो का मृदुल सवाहन या उदधर्षण कर रुग्ण का प्रबोधन करे ।

होश आ जाने पर पुनः बेहोशी के निवारणार्थ उपचार—

१ आश्र्यंचित करना, २ भनोऽनुकूल प्रसङ्ग छेड़कर भनोविनोदन, ३ प्रिय गीत-वाद्य ध्वनि सुनाना, ४ विचित्र वाति-प्रसङ्ग सुनाना, ५ रोगी के बल तथा दोष का विचार कर स्नेहन-स्वेदन पूर्वक पञ्चकर्म कराना, ६ तीक्ष्ण धूम-अञ्जन और कवलग्रह कराना, ७ रक्तमोक्षण, ८ व्यायाम, ९ विचित्र वस्तु का दर्शन कराना और १० चिन्ताजनक परिस्थितियों को बचाना चाहिए तथा ११ धूत-दुग्ध, रसायन-वाजीकरण औषध, अनिद्रा एव मूर्च्छाहरण औषध-सेवन का प्रयोग करायें ।

चिकित्सा

प्रबोधन (ससङ्ग) करने हेतु प्रयोग—

१ सोठ-मरिच-पीपर को समभाग वारीक पीसकर इनका अञ्जन लगाये ।

२. चन्द्रोदयावर्ती या तुत्थकादिवर्ती का अञ्जन लगाये ।

३ (क) रक्तज मूर्च्छा में शीतजलावसेचन या बरफ रगड़ना चाहिए ।

(ख) मद्यज मूर्च्छा में हल्का मद्य पिलाये और निद्राप्रद औषध दे ।

(ग) विपज मूर्च्छा में विपनाशक औषधों का प्रयोग करें ।

४. कट्फल की छाल का महीन चूर्ण कागज की मिगरेट में रखकर नस्य दे । सिगरेट में नस्य रखकर रोगी की नाक में कूंक दे ।

५. माहेश्वर धूप जलाकर रोगी की नाक में धुर्मा दे ।

६. किसी निरापद औषध का सूचीवेध करें या सूई से कष्ट दे ।

७ शिर के दो चार वालों को पकड़कर ग्रीचना चाहिए ।

८ समभाग चूना और नौसादर किसी बन्द सीसी में रखकर १-२ बँद जल डालकर हिलाकर रोगी को सुँधाने से तुरन्त होश आता है।

९ नाक और मुख बन्द करना तथा नखों में सूई धौंसाना सज्जाकारक है।

१० शलाका गरम कर ललाट पर दागना अथवा केवाच की फली के रोये शरीर में लगाना, ये वेहोशी को दूर करते हैं।

औषध-प्रयोग—

१ कोलमज्जादि चूर्ण—सूखी वेर का गुहा, काली मरिच, खस और नागकेशर के समभाग का चूर्ण ३-३ ग्राम शीतल जल से दिन में ३ बार दें।

२ प्रात काल १० ग्राम आदी और २० ग्राम गुड खिलायें और रात में ६ ग्राम त्रिफला चूर्ण मधु से चटायें।

३ मीठा बच चूर्ण १-१ ग्राम प्रात -साथ गोदुग्ध से दे।

४ मूच्छान्तक रस ३०० मि० ग्रा०/२ मात्रा सबेरेन-शाम गोदुग्ध से दे।

५ अनिन्द्रा में सर्पगन्धा चूर्ण २ ग्राम गुलकन्द के साथ रात में दें।

उपचारपञ्च

१ प्रात -साथ-मध्याह्न—

चन्द्रावलेह (सिं यो० स०)	<u>३० ग्राम</u>
----------------------------	-----------------

गोदुग्ध से।	<u>३ मात्रा</u>
-------------	-----------------

अथवा—

स्मृतिसागर	<u>३०० मि० ग्रा०</u>
------------	----------------------

योगेन्द्र रस	<u>३०० मि० ग्रा०</u>
--------------	----------------------

प्रवालपिण्डी	<u>६०० मि० ग्रा०</u>
--------------	----------------------

मधु से।	<u>३ मात्रा</u>
---------	-----------------

अथवा—

मूच्छान्तक रस	<u>१ ग्राम</u>
---------------	----------------

३-३ घण्टे पर अँवले के मुरब्बे के साथ।

५ मात्रा

२. भोजनोत्तर दो बार—

अश्वगन्धारिष्ट	<u>५० मि० ली०</u>
----------------	-------------------

ममान जल से पीना।

२ मात्रा

३ रात में—

सर्पगन्धा घनवटी १ ग्राम गोदुग्ध से।

४ शिर में—

हिमागु चैल की मालिश करें।

पथ्य

छाया, वर्षा का पानी, शतधौत घृत, मृदु तथा तिक्त पदार्थ, लाजमण्ड, पुराना जौ, अगहनी चावल, पुराना धी, मूँग का यूष, गोदुग्ध, परवर, केला, अनार, नारियल, अद्भुत वस्तुओं का दर्शन, उच्च स्वर में गायन-वाद्य आदि।

मूर्च्छितावस्था में रोगी की नाक तथा भुख की वायु को रोकना, आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन, लघन का प्रयोग, भयभीत करना, क्रोध उत्पन्न करना, कष्ट प्रद शय्या पर सुलाना, विचित्र कथा सुनाना, मनोहर दृश्य दिखलाना, उबले जल में स्नान, मलयचन्दन का लेप लगाना—ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य

ताम्बूल-भक्षण, सरसो आदि का शाक, धूप-सेवन, विषद्व आहार, मैथुन, स्वेद, कटुपदार्थ, पिपासा और निद्रा के बेग को रोकना और तक्र या भट्ठा—ये सभी मूर्च्छा में अपथ्य हैं।

घोड़ा अध्याय

मधुमेहजन्य उपद्रव, उदर्याकलाशोथ, अन्तरशोथ, तीव्र ज्वर तथा औषध-प्रतिक्रिया एवं विपाक्तता

मधुमयताधिक्य

(Hyperglycaemia)

मधुमेह या ओजोमेह मे मूत्र के साथ अपर ओज का निष्कासन होता है। इस रोग मे निकलने वाला अपर ओज मधुर स्वभाव का होता है, अतएव मधुररम्लोभी चीटियाँ उस मूत्र से आकृष्ट होकर रसपान करती हैं। ओज को सुवोध भाषा मे ग्लूकोज (Glucose) कहते हैं, इसे मधु, शर्करा एवं मधुशर्करा भी कहते हैं। साधारणतया नीरोग व्यक्ति के मूत्र मे शर्करा का क्षरण नहीं होता। प्राकृत अवस्था मे मूत्र का सापेक्ष गुरुत्व (Specific gravity) १०१५ से १०२५ तक होती है, किन्तु शर्करा की उपस्थिति होने पर यह १०३० से अधिक हो जाती है।

मूत्र मे शर्करा की उपस्थिति का प्रधान कारण कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates) के समवर्त (Metabolism) की विकृति है, जिसका ज्ञान कर लेना अनिवार्य है—

कार्बोहाइड्रेट आन्त्रिक पाचन के द्वारा ग्लूकोज के रूप मे परिणत होकर शेषित हो जाता है और रक्तवाहिनियों द्वारा यकृत मे पहुँचकर ग्लाइकोजन के रूप मे सचित हो जाता है। इसका कुछ भाग पेशियों मे भी सचित होता है। आवश्यकता पड़ने पर यह पुनर्ग्लाइकोजिनेज नामक किण्व (Enzyme) के द्वारा ग्लूकोज के रूप मे परिवर्तित होकर शरीर के काम मे आता है। रक्त मे भी यह एक निश्चित परिणाम मे बना रहता है, जो पेशियों को शक्ति प्रदान करता है। सामान्यतया यकृत मे इसकी मात्रा ००८ से ०१८ तक होती है। शर्कराबहुल पदार्थों के अधिक सेवन से इसकी मात्रा बढ़ती है और बन्द कर देने पर घटती है। रक्त मे आवश्यकता से अधिक शर्करा होने पर यकृत मे उसका सचय ग्लाइकोजन के रूप मे हो जाता है। जब यकृत भी इससे परिपूर्ण हो जाता है, तो ग्लूकोज मेद के रूप मे परिवर्तित होकर शरीर की विभिन्न धातुओं मे सचित हो जाता है।

शर्करा रक्त से वृक्कों द्वारा छन कर ही मूत्र मे आती है। सामान्यत जब तक रक्त मे १ द प्रतिशत से कम शर्करा होती है, तब तक वृक्क उसे नहीं छानते। इसे वृक्क-देहलीमर्यादा (Renal threshold) कहते हैं। जब शर्करा की प्रतिशत मात्रा इस मर्यादा को अतिक्रान्त कर जाती है, तब वृक्क द्वारा शर्करा का क्षरण होने लगता है। कुछ रोगियों मे जब वृक्क-देहलीमर्यादा ही स्वभावत कम होती है,

तब उक्त प्रमाण से कम प्रतिशत प्रमाण में रहने पर भी उसका क्षरण हुआ करता है। इसे वृक्कज मधुमेह कहते हैं।

वृक्क के अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट-वहुल पदार्थों के अधिक सेवन से वृक्क-देहली मर्यादा का अतिक्रमण होने पर भी मूत्र में शर्करा की उपस्थिति मिलती है। इसे सन्तर्पणजन्य मधुमेह कहते हैं। यह स्थिति चिन्ताजनक नहीं है, क्योंकि आहार में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा घटा देने से यह विकृति ठीक हो जाती है।

मधुमेह का मुख्य कारण कुछ अन्त सावी ग्रन्थियों के स्रावों की विकृति है। अग्न्याशय (Pancreas), चुलिलकाग्रन्थि (Thyroid), अधिवृक्क (Suprarenal) तथा पीयुषग्रन्थि (Pituitary body)—ये चार ग्रन्थियाँ कार्बोहाइड्रेट के समवर्त का नियन्त्रण करती हैं।

अग्न्याशय—इससे दो प्रकार के स्राव निकलते हैं—१ अग्न्याशय रस (Pancreatic juice) पच्यमानाशय (Duodenum) में पित्त के साथ मिलकर प्रधानतया वसा तथा आहार के अन्य अवयवों का भी पाचन करता है और २ अन्त स्राव इन्स्युलीन (Insulin) है, जो रक्तप्रवाह में मिलकर क्रिया करता है। यह पेशियों द्वारा शर्करा का उपयोग तथा यकृत के द्वारा इसका सचय करता है।

इसका अभाव होने पर पेशियाँ शर्करा का उपयोग नहीं कर सकती और न यकृत में ही इसका सचय हो सकता है, जिसके परिणामस्वरूप रक्तगत शर्करा बढ़कर वृक्क-देहली मर्यादा का अतिक्रमण करके मूत्र के द्वारा क्षरित होने लगती है। इस शर्कराधिक्य की स्थिति को डायबिटिक हाइपर ग्लाइसोमिया कहते हैं। यह चिन्ताजनक स्थिति है। इस अवस्था में वृक्क पूर्णतया स्वस्थ रहते हैं। शेष तीन ग्रन्थियाँ मधुनिषूदनी (Insulin) की क्रिया को रोकती हैं। इस प्रकार इन्स्युलीन की कमी या उसकी सक्रियता के ह्रास से यह स्थिति उत्पन्न होती है।

यह रोग द० प्रतिशत पचास वर्ष से ऊपर की आयु में होता है। आनुवशिकता, स्थूलता, व्यायाम का अभाव, समृद्ध आहार का अधिक मात्रा में उपयोग, नवीन अन्न का प्राय प्रयोग, मधुर पदार्थों का अतिसेवन और आलस्य, इस रोग के जनक हैं। यह एक जीर्ण रोग है। इसका प्रभाव कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा और एलेक्ट्रोलाइट के सर्वर्त (Metabolism) पर पड़ता है। कदाचित इस रोग के गम्भीर परिणाम होते हैं। शरीर की सेलों पर इसका क्रियात्मक और रचनात्मक दोनों तरह का प्रभाव होता है। इसका प्रभाव नेत्र, वृक्क और नाडीमण्डल पर ह्रासात्मक होता है। मुख्य रूप से यह अन्त सावी ग्रन्थियों की क्रिया की अव्यवस्था से होने वाला रोग है।

चिकित्सासूत्र

१ रोगी के बल और दोष का तथा स्थूलता और कृशता का विचार कर यथायोग्य सशोधन या सशमन उपचार करना चाहिए।

२ रोग के कारणों वा परिवर्जन करना चाहिए।

- ३ आलस्य, नवाज्ञ, दही और मधुर पदार्थों का परित्याग करे।
- ४ नियमित रूप से यथाशक्य व्यायाम करे।
- ५ रुक्ष अफ्फ जौ, चना, सावाँ, कोदो, टागुन (पुराने) का सेवन करे।

चिकित्सा

१. एकल द्रव्यों में निम्बपत्र, वट, पीपर, बबूल, गुलर, विल्व, खेर, करञ्ज, गुग्गुलु, त्रिफला, जम्बूबीज, दिजयसार, सप्तरंगी, गुडमार, लामज्जाफ़, पलाण्डु, रसोन आदि का सुविधानुसार प्रयोग करे।

२. वसन्तकुसुमाकर, त्रिवंग भस्म, स्वर्णदग, नागभस्म, चन्द्रप्रभा वटी, चन्द्रकला वटी, हरिशकर रस, मेहकुञ्जरकेशरी आदि का उचित मात्रा और अनुपान में प्रयोग करें।

ठथवस्थापन

१. प्रात-साय—

वसन्तकुसुमाकर रस	<u>२४० मि० ग्रा०</u>
हरिद्वाचूर्ण ३ ग्राम के साथ।	२ मात्रा

अथवा—

शिवा गुटिका	<u>४ वटी</u>
गोदुग्ध के साथ।	२ मात्रा

२. ९ बजे व ४ बजे—

न्यग्रोधादि चूर्ण	<u>६ ग्राम</u>
जल से।	२ मात्रा

३. रात-मे—

चन्द्रप्रभावटी	<u>२ ग्राम</u>
दूध से।	१ मात्रा

पथ्यापद्य

पथ्य—गेहौं, चना, जौ, मूँग, अरहर, परवल, करेला, मरिच, सेधानमक, तिक्त-शाक तथा टहलना, धूमना, खेती, वागवानी या अन्य श्रम के कार्य पथ्य है।

अपथ्य—अधिक समय तक बैठना, दिन में सोना, नवीन अन्न, दही, चावल, धूमपान, वेगधारण, डक्षुरस, सुरा, स्वेदन आदि अपथ्य है।

नोट—विशेष अध्ययन के लिए लेखक की 'कायचिकित्सा' भाग २ देखें।

उपमधुमयता

(Hypoglycaemia)

पूर्व में यह कहा जा चुका है, कि मधुमेह का मुख्य कारण अन्त सावो ग्रन्थियों के चावों की विकृति है। चारो ग्रन्थियों के अन्त सावों की प्राकृत अवस्था शर्कंग के परिवर्तनों का नियन्त्रण करती है।

जब मधुनिषूदनी (इन्स्युलीन) की क्रिया बढ़ जाती है, तो रक्तगत शर्करा प्राकृत मान से भी कम हो जाती है, इसे उपमधुमयता या हाइपोग्लाइसीमिया (Hypoglycaemia) कहते हैं। यह एक चिन्ताजनक स्थिति है। यदि शीघ्र ही प्रभावकारी उपायों द्वारा रक्तगत शर्करा की वृद्धि का प्रवन्धन किया गया, तो रोगी के प्राण सकट में पड़ जाते हैं। यह स्थिति इन्स्युलीन लेने के पश्चात् तुरन्त ग्लूकोज न लेने पर भी देखी जाती है। इस प्रकार जब किसी सामान्य व्यक्ति को गलने योग्य इन्स्युलीन का अधिक प्रयोग कराया जाता है अथवा मुख द्वारा शर्करा कम करनेवाली औषधियों का अधिक प्रयोग किया जाता है, तो उपमधुमयता या हाइपोग्लाइसीमिया हो जाती है।

लक्षण

इस स्थिति के लगातार बने रहने पर रोगी में दुर्बलता, शून्यता, क्षुधा, स्वेद-निर्गमन, हृदयगति की अधिकता, कॅंपकॅंपी, वेहोशी, शिर शूल, जड़ता और मानसिक व्याकुलता, ये लक्षण होते हैं। रोगी को यह भय बना रहता है कि पुलिस उसे किसी अपराध के चलते गिरफ्तार न कर ले।

हाइपो-ग्लाइसीमिया एड्रीनलीन के स्राव को बढ़ा देती है, जिसके कारण हृदय की गति तीव्र हो जाती है और शरीर में कम्पन होने लगता है। एड्रीनलीन लीवर के ग्लाइकोजन की सक्रियता बढ़ाकर हाइपोग्लाइसीमिया से युद्ध करता है। जब गलनशील इन्स्युलीन का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाता है तो हाइपोग्लाइसीमिया की स्थिति बार-बार होती है। जब इन्स्युलीन अपना अधिकतम प्रभाव डालती है, तो शिर शूल, रात्रिस्वेद, वमनेच्छा या वमन की प्रवृत्ति, मानसिक असन्तुलन, शारीरिक क्लेश, तद्रा और मूर्छा होना, ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सा

१ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पहले रोगी की स्थिति का निरीक्षण किया जाये और प्रथम होने वाले लक्षणों को जाना जाय।

२ रोग के कारण को दृढ़तापूर्वक दूर किया जाय।

३ ऐसे रोगियों को मयमित आहार और शारीरिक श्रम करना आवश्यक है, इसलिए भोजन को मन्तुलित करने तथा नियमित व्यायाम करने का उपदेश करें।

४ इन रोगियों को अपने पास सदैव ग्लूकोज की गोलियाँ अथवा बीनी की गणि रखनी चाहिए, जिसका कि आत्यरिक स्थिति में प्रयोग किया जा सके।

५ यदि कोई रोगी, ऐमा जड़ हो, जो ग्लूकोज की गोली न निगल पाता हो, तो उसे २५ ग्राम ग्लूकोज (५०% घोल का ५० मिली०) का अन्त शिरीय सूचीवेद करना चाहिए। इसकी पुनरावृत्ति भी करनी चाहिए। यदि यह उपलब्ध न हो, तो १ १००० घोल का ० ५ मिली० एड्रीनलीन का अधस्त्वगीय इन्जेक्शन देना चाहिए, किन्तु यह अपेक्षाकृत अल्पप्रभावकारी होता है।

६ जैसे ही रोगी कुछ निगलने लायक हो जाये, उसे ३० ग्राम चीनी मुखसे देनी चाहिए।

७ हाइपो-ग्लाइसीमिया के प्रसग की पुनरावृत्ति होने से रोगी की दशा बिल्कुल क्षीण हो जाती है। अत सावधानी वर्तनी चाहिए, जिससे इसकी पुनरावृत्ति न हो।

८ वेहोशी दूर करने के लिए कट्टफल के चूर्ण का या अपामार्गबीजादि चूर्ण का नस्य देना चाहिए।

९ शक्ति-सरक्षणार्थं मकरघ्वज १२० मि० ग्रा० की २-३ मात्रा ३-३ घण्टे पर मधु से देनी चाहिए।

१० वसन्तकुमुमाकर रस १२० मि० ग्रा०/१ मात्रा का प्रयोग गुहूचीसत्त्व के साथ प्रातः-साय करना चाहिए।

११ रोगी के रक्तपरीक्षण द्वारा ग्लूकोज की मात्रा का ज्ञान करते रहे तथा नार्मल से नीचे न जाने देने के लिए अपेक्षित उपाय का प्रयोग करते रहना चाहिए।

उदर्याकिलाशोथ

(Peritonitis)

उदर्याकिला का परिचय

उदर्याकिला एक लम्बी-चौड़ी दो तह वाली थैली है, जो उदरगुहा-स्थित सभी अङ्गों को आवृत करती है, फिर भी वे अङ्ग इस कला के बाहर रहते हैं, जैसे किसी सोये हुए व्यक्ति के शरीर को रजाई से ढँक दिया जाय, तो भी उसका शरीर रजाई के बाहर ही रहता है। रजाई के दो तहों की तरह इस कला के दो तह होते हैं और इन दोनों तहों के बीच मे (रजाई की तहों के बीच मे जैसे रुई होती है, उसी तरह) एक स्निग्ध पदार्थ रहता है, जो दोनों तहों के भीतरी भाग को स्निग्ध बनाये रखता है।

उदरगुहा-स्थित अन्त्र आदि अवयव श्वास-क्रिया के दबाव से गतिमान रहते हैं और इससे उदर्याकिला के दोनों तह परस्पर रगड़ खाते रहते हैं, किन्तु उन तहों के मध्य स्निग्ध पदार्थ होने से कोई हानि नहीं होती। उदर्याकिला समस्त अङ्ग को उदरक पृष्ठवश से बांधे रखती है, अत एव गति करते हुए भी उदरस्थ अङ्ग अपने स्थान पर सुरक्षित और स्थिर रहते हैं। इस कला के रुग्ण हो जाने से अन्त्र की गतियों मे विकृति आ जाती है, जिसके फलस्वरूप शारीरिक क्रियाओं मे बाधा पड़ती है।

उदर्याकिलाशोथ

यह उदर्याकिला के सन्ताप और विस्तार की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाला कीटाणुजन्य शोथ है, जिसमे उत्पन्न विष शीघ्र लीन होकर अति धोर लक्षण उत्पन्न करता है।

निदान

यह रोग कीटाणुओं के आक्रमण से होता है। ये कीटाणु तीन प्रकार से उदयकिला में पहुँचते हैं—

१ आगन्तुक कारण—किसी हथियार या लकड़ी के कुन्दे के आधात से व्रण होने पर कीटाणु उदयकिला में प्रविष्ट होकर शोथ उत्पन्न करते हैं।

२ रक्त द्वारा—रक्तविषभयरा, पूयरक्तता आदि रोगों के होने पर कीटाणु रक्त द्वारा उदयकिला में प्रविष्ट होकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार आन्त्रिक ज्वर, वृक्क शोथ, उष्णवात आदि के कीटाणु भी इस रोग को उत्पन्न करते हैं।

३ आमाशय या अन्त्र आदि के फटने से उनका सक्रमण उदयकिला में पहुँच जाने से शोथ उत्पन्न हो जाता है।

उदयकिलाशोथ के तीन प्रकार

१ विस्तृत शोथ—उदयकिला रक्तमय हो जाती है, इससे जो स्राव निकलता है, उसमें जमने की शक्ति अधिक होती है और वह जमकर तन्तु बन जाता है, जिसे तान्त्रिक स्राव कहते हैं।

२ स्थानिक शोथ—यह शोथ उदयकिला के सीमित स्थान में होता है, इसलिए इसके लक्षण मृदु होते हैं। स्राव तन्तुल होता है, जिसके कारण वहाँ तन्तु बनकर कला की दोनों तहों को मिला देते हैं।

३ ग्रथित शोथ—इसमें स्राव तन्तुल होने से स्राव से तन्तु बन जाते हैं, जो कला के दोनों पृष्ठों को परस्पर ग्रथित कर सटा देते हैं और दोनों पृष्ठ एकजुट हो जाते हैं।

लक्षण

यह रोग आगन्तुक कारण या आमाशय या पकवाशय आदि के व्रण के फट जाने से अथवा उपान्त्र विद्वधि आदि के उदर में फट जाने से होता है। इसके लक्षण दो प्रकार के होते हैं—

१ स्थानीय—वेदना पहले एक स्थान पर और अग्रामान्य-सी होती है, फिर फैल जाती है। दीर्घ श्वास लेने से तथा अन्त्र की अनुलोम गति से वेदना अधिक हो जाती है। रोग के आरम्भ में ही आध्मान होता है, जिसके क्रमशः बढ़ जाने से उदर में तनाव हो जाता है और स्पर्श करने पर उदर कठोर प्रतीत होता है। कदाचित् उदयकिला में कुछ स्राव भी होने लगता है, जिसके एकत्रित होने से जलोदर रोग हो जाता है।

२ शारीरिक लक्षण—जिह्वा शुष्क, मलिन और फटी हुई होती है। जिह्वा का गीला रहना अच्छा एवं शुभ लक्षण है। शुद्धा का नाग और प्यास की अधिकता होती है। अकारण वमन होने लगता है। हिवकों का होना अरिष्ट लक्षण है।

निद्रा नहीं आती और बेचैनी बनी रहती है, क्षीणता बढ़ती जाती है, आँखे भीतर धूंस जाती है, गाल पिचक जाते हैं, चेहरे पर रीनक नहीं होती हृदय दुर्बल होता है और नाड़ी क्षीण हो जाती है। नाड़ी की गति का अति तीव्र होना अरिष्ट लक्षण है।

सापेक्ष निदान

जब आमाशयिक या पक्वाशयिक व्रण या उपान्त्र विद्रधि या अधिक आध्मान के साथ आन्त्रिक ज्वर में यह रोग उपद्रव के रूप में हो जाता है, तो बद्धोदर और उदर्याकिलाशोथ में भेद करना कठिन हो जाता है, इसलिए इनका विभेदक लक्षण जानना आवश्यक है।

उदर्याकिलाशोथ		बद्धोदर
१ आरम्भ में ज्वर और उदर में किसी एक स्थान पर पीड़ा।	१	आरम्भ में न तो ज्वर और न उदर में पीड़ा।
२. औदरिक तनाव, कठोरता और हाथ लगाने पर पीड़ाधिक्य।	२	उदर में आध्मान, स्पर्श में मृदु एवं हाथ लगाने पर पीड़ा का अभाव।
३ आरम्भ में अधिक पीड़ा और अन्त में कम।	३	आरम्भ में पीड़ा का अभाव और धीरे-धीरे पीड़ा में वृद्धि।
४ पूर्ण कोष्ठवद्धता नहीं होती, अधो वायु निकलती है और वस्ति का प्रयोग सफलता पूर्वक होता है।	४	कोष्ठवद्धता पूर्णत, अधोवायु अवरुद्ध, वस्ति-प्रयोग असफल।
५ वमन होता है, किन्तु उसमें मल नहीं आता।	५	वमन में धीरे-धीरे मल आने लगता आता।

चिकित्सा

- १ रोगी को पीठ का सहारा देकर बैठाना चाहिए।
- २ उदर को नार्मल सैलाइन से धोना चाहिए।
- ३ आध्मान अधिक हो या कष्टदायक हिक्का हो, तो एट्रोपीन का इन्जेक्शन देना चाहिए।
- ४ उदर पर टिक्कर आयोडीन लगाना चाहिए। अथवा पञ्चकीरी (वट-गूलर-पीपर-बड़-महुआ) वृक्षों की छाल पीस कर लेप करना चाहिए।
- ५ पूयावस्था में या विद्रधि के फटने से मात्र शल्यकर्म ही करणीय है।

अन्त्रशोथ

(Enteritis & Colitis)

परिचय—अन्त्र की श्लैष्मिककला के शोथ को अन्त्रशोथ कहते हैं। यह अन्त्र के किसी एक भाग में अथवा सम्पूर्ण अन्त्र में हो सकता है। क्षुद्रान्त्रशोथ को

डण्टेराइटिस (Enteritis) और वृहदन्त्रशोथ को कोलाइटिस (Colitis) कहते हैं। इनके कारण समस्त महासूत्र का व्यापार अव्यवस्थित हो जाता है। पाचन-प्रणाली के विभिन्न भागों में जठराग्नि के विभिन्न स्वरूप हैं, जो अग्नि के विभिन्न पाचन-व्यापार को सम्पन्न करते हैं। उनकी दुर्बलता से अग्निमान्द्य हो जाने से अजीर्ण, अतिसार, विलम्बिका, अलसक, ग्रहणी, अनुलोभक्षय और अन्त्र सम्बन्धी अनेक प्रकार की व्याधियाँ होती हैं, परम्परया अन्त्रशोथ भी उनमें से एक है।

वक्तव्य—पाचन-प्रणाली की भद्रता और अभद्रता पर ही मनुष्य की स्वस्थता और अवस्थता निर्भर है। सक्षेपत पाचन-क्रिया का कथन प्रासादिक है—‘मुख द्वारा गृहीत आहार मुख से आमाशय में पहुँचता है। वहाँ अशत पचनकर्म और सघात का भेदन होने के पश्चात वह अर्धपक्व या अर्धपक्व अवस्था में ग्रहणी या पच्यमानाशय में पहुँचता है। यहाँ विभिन्न प्रकार के पाचक रसों का भली-भाँति सम्मिश्रण होता है। पित्ताशय से पित्त और अग्न्याशय द्वारा आया हुआ अग्न्याशयिक रस यहाँ मिलते हैं और अन्न का पूर्णतया पाचन करते हैं। इस पाचन से अन्न प्रसाद और किट्ट इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। ग्रहणी, पच्यमानाशय, क्षुद्रान्त्र और ड्यूओडिनम (Duodenum) ये पर्याय शब्द हैं।

क्षुद्रान्त्रशोथ के कारण

तीक्ष्ण पदार्थों का अतिसेवन, अपक्व आहार या फल आदि का खाना, अधिक मध्यपान करना और अधिक चाय पीना, अम्लपित्त रोग होना एवं तीव्र सक्रामक ज्वर होना, वृक्क सन्यास, वातश्लैषिक ज्वर, रोहिणी आदि में उनके विष का रक्त द्वारा क्षुद्रान्त्र में पहुँचकर क्षोभ उत्पन्न करना आदि कारणों से क्षुद्रान्त्रशोथ हो जाता है। आन्त्रिक ज्वर, प्रवाहिका, हृदरोग, यकृद्विकार या फुफ्फुसविकार के होने पर भी यह रोग हो जाता है। शोथ के अधिक होने पर व्रेण बन जाते हैं।

लक्षण

क्षुद्रान्त्रशोथ में विशेष लक्षण पीड़ा और अतिसार का होना है। उदरशूल होता है और विष्टम्भ हो जाता है। अकस्मात् भोजन के बाद अतिसार का होना, इस रोग का परिचायक लक्षण है।

वृहदन्त्रशोथ

क्षुद्रान्त्रशोथ के हो जाने पर साथ में वृहदन्त्रशोथ भी हो जाता है।

कारण

कठोर, दुप्पाच्य, अपक्व और विषम भोजन करना, सक्रामक ज्वर और वृक्क-सन्यास आदि के कारण वृहदन्त्रशोथ हो जाता है। इसमें वृहदन्त्र का याकृतीय और प्लैहिक मोड ही प्राय प्रभावित होता है। इसमें उदरशूल और अतिसार होता है। यदि व्रेण हो जाय तो मल के साथ रक्त और छ्लेष्मा आने लगते हैं तथा प्रवाहिका के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

खुद्रान्त्रशोथ में रक्त और श्लेष्मा मल से मिश्रित होकर आते हैं और बृहदन्त्र रोग में मल पृथक् और रक्त तथा श्लेष्मा पृथक् आते हैं। बृहदन्त्रशोथ में उदरशूल, उद्वेष्टन और कफ की अधिकता होती है। किमी-किमी में दुर्गन्धित मल आना और आघ्मान आदि लक्षण भी होते हैं।

व्रणयुक्त बृहदन्त्रशोथ (Ulcerative colitis)

मामान्यत यह रोग २० में ४० वर्ष की आयु के लोगों में देखा जाता है, फिर भी यह किसी भी आयु के व्यक्ति को हो सकता है। इसका प्रमुख कारण शरीर की रोगप्रतिरोधक शक्ति का हास होना है, जब कि मठगत वैकटेरिया या प्रतिरोध नहीं हो पाता और वे व्रणवस्तु का निर्माण करते हैं।

मुख्य लक्षण

इवमल-युक्त, रक्तमिश्रित और श्लेष्मा के साथ अतिसार होता है। शीच त्याग करने में उदर के निचले भाग में वेदना होती है। मलाशय के शोथ के कारण कुथन होती है। जब उदरावरण में जोथ होता है, तो वहाँ की श्लेष्मलकला भी शोथाक्रान्त हो जाती है। रोग के जीर्ण होने पर अन्त्र में तन्तुमय शोथ होने के कारण निप्क्रियता हो जाती है। रोगी का स्वास्थ्य गिरने लगता है और वह अतिसार का स्थायी रोगी बन जाता है। रोगी को यका देनेवाला अतिसार होता है। ज्वर, हृदयगति की तीव्रता और जलाल्पता होना, ये लक्षण होते हैं। विपाक्तता के विस्तार के कारण रोग तीव्र होता जाता है। झुलसा देनेवाला तापमान, उदर में फैलाव आदि होने पर समुचित उपचार का अभाव प्राणवात्क होता है। रोगी में रक्ताल्पना होती है, यकृत का कार्य क्षीण हो जाता है और दौर्वल्य बढ़ जाता है।

चिकित्सा

१ रोगी को किमी अस्पताल में भर्ती कर ममुचित उपचार की व्यवस्था करनी चाहिए।

२ हृदगति के आधिक्य, रक्ताल्पता और वजन घटने की स्थिति में आरोग्य-लाभ-पर्यन्त हमदर्दी के साथ सेवा-सुश्रूपा की आवश्यकता होती है।

३ जलाल्पता को तत्काल दूर करे और एलेक्ट्रोलाइट्स के हास का निराकरण करे।

४ बृहदन्त्रशोथ का रोगी चिन्ता और वेचैनी से भ्रुव्य रहता है, अत उसे मन-शरीर-सक्षोभनाशक ट्रैन्किवलाइजर (Tranquilliser) औपध देनी चाहिए।

५ स्थानिक उपचार—यदि गुदाभाग में जोथ होने के कारण मल का अवरोध हो तो सपोजिटरी या गुदवर्ती लगाकर अथवा एनीमा का प्रयोग कर उसे दूर करे। यह प्रयोग प्रतिदिन २ बार करे और कुछ सप्ताह तक चलने दे।

६ सल्फोनामाइड के यौगिक आवश्यकतानुसार प्रयोग करे, किन्तु यह ध्यान में

रखे कि इसके प्रयोग से वमनेच्छा या वमन अथवा रक्त आना, ये उपद्रव कभी-कभी होने की सम्भावना रहती है। अत इसे धीरे-धीरे कम करते जाना चाहिए।

७ यदि औषधीय चिकित्सा सफल प्रतीत न हो रही हो, तो विशेषज्ञ द्वारा शल्यकर्म कराने का निर्देश दे।

८ कोण्ठगोधनार्थ एरण्ड स्नेह का उचित मात्रा मे प्रयोग करे।

९ उचित समझे तो अतिसार-अधिकार की औषधों का प्रयोग करे। जैसे—गङ्गाधर चूर्ण, विल्वादि चूर्ण, पाठादि चूर्ण, सिद्धप्राणेश्वर रस, रस पर्षटी, कुट्टज पुट्पाक आदि। इसबगोल की भूसी भी देनी चाहिए।

१० इस बात की सदैव सावधानी रखनी चाहिए कि विष्टम्भ और मलावरोध न होने पाये।

११ इसकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं है, इसलिए रोगी को पथ्य-सेवन का उपदेश करना चाहिए। भोजन मे नौम्य, मृदु, मुपाच्य, अनुत्तेजक, कषायरस-प्रधान, द्रवाधिक अल्प मधुर और अल्प लवण युक्त पदार्थ देना चाहिए। बिना चीनी का लाजमण्ड तथा लवण रहित मुदगयूष देना हितकर है।

तीव्र ज्वर

(Hyperpyrexia)

परिचय—पित्तदोष के अधिक उद्विक्त होने से अथवा अधिक धूप लगने से या अग्निसन्ताप से अथवा औपसर्गिक कारणों से जब तापनियन्त्रक केन्द्र (Heat regulating center) अव्यवस्थित हो जाता है, तब तीव्र ज्वर होता है। ज्वर का तापमान 104° फां या अधिक होता है।

लक्षण

इसके प्रवर्णन मे शिर शूल, बेचैनी, मानसिक व्याकुलता, वमन आदि लक्षण होते हैं और जब यह व्यक्त होकर अपने स्वरूप मे प्रकट हो जाता है, तब ज्वर का वेग 104° फां या और अधिक हो जाता है। पसीना निकलना बन्द हो जाता है, रोगी स्तब्ध हो जाता है, मुखमण्डल लाल हो जाता है, त्वचा स्पर्श मे अत्युण्ण और शुष्क प्रतीत होती है। नाड़ी की गति तथा श्वास की गति तीव्र होती है। जिह्वा सूखने लगती है, मूत्र का वर्ण गाढ़ा पीला और मात्रा न्यून हो जाती है। ज्वर के बढ़ते जाने से प्रलाप, आक्षेप, वेहोशी और मानसिक असन्तुलन की वृद्धि हो जाती है।

चिकित्सा

तापशमनार्थ द्वाहा प्रयोग—

१ शीतोपचार—ठण्डे पानी से शरीर को तब तक पोछते रहना चाहिए जब तक कि तापमान 101° फां तक न हो जाय।

२ शिर पर बरफ की थैली रखी जाय, शिर को शीतल जल से धोया जाय या शिर पर शीनल जल की धाग गिरायी जाय।

३ वरफ अनुपलब्ध होने पर ठण्डे जल (२ लीटर) मे कलमीसोरा और नौमादर का चूर्ण (५०-५० ग्राम) डालकर मिलाकर उसमे ४-६ रह किया कपड़ा भिगोकर शिर पर पट्टी रखे । गीले वस्त्र से शरीर को लपेट दे ।

४ सहस्रधौत घृत अथवा चन्दनादि तैल शिर पर रखे । अथवा—

५ शिर पर विष्णुतेल या अन्य कोई ठण्डा तेल अथवा सिरका और अण्डे की सफेदी को एक मे. फेटकर रखना चाहिए ।

आध्यन्तर प्रयोग—

१ स्वेदल योग—नागरमोथा, पित्तपापडा, चिरायता, खश, लालचन्दन और सुगन्धवाला—इन्हे समभाग मे लेकर ५० ग्राम को १ लीटर जल मे अद्विशिष्ट पकाकर थोड़ा-थोड़ा पिलाये । अथवा—

२ उक्त पड़ङ्गपानीय मे शुद्ध नरमार, कलमीसोरा और जवाखार आधा-आधा ग्राम मिलाकर पिलाये ।

३ गोदन्तीभस्म ४ ग्राम, जहरमोहरापिष्ठी १ ग्राम और रसादिवटी १ ग्राम—इन सभी को पीसकर मिलाकर ८ मात्रा बनाये और दिन मे ४ बार पड़ङ्गपानीय के अनुपान से दे । अथवा—

४ हिंगुलेश्वर रस १२० मि० ग्रा० और कलमीसोरा १०० मि० ग्राम/१ मात्रा जल से दिन मे ३-४ बार दे ।

५ रत्नगिरि रस (साधारण) २०० मि० ग्रा०/१ मात्रा ३-३ घण्टे पर दे ।

मूत्रल योग—

६ शर्तपुष्पार्क, अजवायन का अर्क, पित्तपापडे का अर्क, चिरायते का अर्क अथवा पञ्चतृणमूल क्वाथ या पुनर्नवा क्वाथ का उचित मात्रा मे प्रयोग मूत्रल है ।

७ रमौपधियो मे गोदन्ती भस्म, प्रवाल भस्म, विषाण भस्म, जहरमोहरा पिष्ठी, ज्वरकेशरी, मृत्युञ्जय रस, त्रिभुवनकीर्ति आदि का उचित अनुपान के साथ प्रयोग करना चाहिए ।

८ सम्पन्न व्यक्तियो के लिए स्वर्णमृतशेखर, मुक्ताभस्म वा पिष्ठी, प्रवाल-पञ्चामृत, तृणकान्तमणि पिष्टो, सर्वतोभद रस आदि का प्रयोग करना श्रेयस्कर है ।

९ प्रवाल भस्म १२० मि० ग्रा०, विषाणभस्म २५० मि० ग्रा०, गोदन्ती भस्म १ ग्राम की १ मात्रा । ऐसी १ मात्रा २-२ घण्टे पर देते रहने ने ज्वर का नन्ताप न्यून हो जाता है ।

१०. केवल त्रिभुवनकीर्ति का प्रयोग भी नन्ताप को जीघ्र उतार देता है ।

११ दाह-मूर्छा एव विवन्ध मे द्राक्षादि क्वाथ वा प्रान दाल फिल्में । योग—पात्रा मुनक्का, बड़ी हरे का छिल्क्क, पित्तपापडा, नागरमोथा, कुटकी और अमन्तनाम नव समभाग मे २०-२५ ग्राम जा काट बना दिश्मी मिलाकर दिनना चाहिए ।

१२ जिन न्यान ने जल का फूहान हो, वहा या भूमिरुद्ध अथवा जीन-न्यान या ऊपर की टट्टी लगे न्यान मे दोनों को रखना चाहिए ।

१३ परिषेक, अवगाहन, विस्तर आदि सभी शीतल रखे ।

१४ लहसुनिया की भस्म, मोटी की भस्म, गैरिक, गोदन्ती भस्म, सुगन्धवाला, पित्तपापड़ा तथा रक्तचन्दन का समुचित प्रयोग हितकर है ।

१५ पित्तपापड़े का अर्क पिलाते रहे और सौम्य, मृदु और शीतल उपचार का प्रयोग कर सन्तापहरण करे ।

औषध-प्रतिक्रिया और विषाक्तता

(Medicinal Reaction And Poisoning)

प्राचीन आयुर्वेद-चिकित्सा में चिकित्सक स्वय के ज्ञानवुद्धि-प्रदीप से आतुर के न के बल शरीर का अपितु उसके मन, बुद्धि और अन्तरात्मा का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसके रोग का निदान करता था और प्रत्येक रोगी के रोग क्रो^१ एक अलग रोग मान कर देश-काल-बल-शरीर-आहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वय की अवान्तर अवस्थाओं^२ को बारीकी से जानने की सम्यक् चेष्टा कर रोग के मूल कारण की खोज में तल्लीन होकर रोगी और रोग की तह^३ में पहुँचकर निदान करने के पश्चात् औषध की व्यवस्था करता था । यह स्थिति लगभग पिछले ५०-६० वर्ष में सर्वथा बदल गयी है और अब तो आयुर्वेद के स्नातक भी आयुर्वेद के निदान और उपचार की ओर उपेक्षा दृष्टि रखते हैं एव आधुनिकता की मानसिकता से ग्रसित हो चुके हैं ।

सम्प्रति पेटेण्ट दवाओं की भरमार है और रोगी के मूल रोग की खोज के झंझेले में कोई पड़ना ही नहीं चाहता, जिसके फलस्वरूप रोगी के हर लक्षण की अलग-अलग औषधों प्रेस्क्राइव कर रोगी को तसल्ली दे दी जाती है । जब एक साथ अनेक औषधों रोगी को दी जाती है तो ऐसी स्थिति में चिकित्सक का यह नैरिक उत्तर-दायित्व हो जाता है, कि वह उन देय दवाओं के गुण-दोष का आकलन करके ही प्रयोग करे । उनका एक साथ प्रयोग परस्पर विरुद्ध न हो, वे एक-दूसरे पर प्रतिकूल प्रभाव न डाले और कदाचित् विष-लक्षण न उत्पन्न करे ।

औषध की तीव्रता, उसकी अधिक मात्रा, विषाक्तता, प्रतिक्रिया और रोगी की स्थिति का विचार न करने का परिणाम घातक हो सकता है । जैसे—

१ पित्तप्रकृतिवालों को कुनीन के योग अथवा पेनिसिलीन के प्रयोग सह्य न होने से गम्भीर परिणाम ला देते हैं ।

२ अधिक मात्रा में औषध का प्रयोग जानलेवा हो सकता है, जैसे—एड्नीनलीन द्रव की अधिक मात्रा मृत्यु ला सकती है, यदि उसका अन्त शिरीय सूचीवेद्ध किया जाय ।

१. योगमासां तु यो विद्यादेशकालोपपादितम् । पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः ॥

—च० स० ११२३

२. सूक्ष्माणि हि दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि ॥

—च० स० १५१५

३. ज्ञानवुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित । आतुरस्यान्तरात्मान न स रोगोऽश्रिकित्सति ॥

—च० विमान० ४१४

३ प्रतिकूल होने पर कतिपय औपधो अनुर्जता (एलर्जी) जनक होती है ।

४ रेचक और ग्राहक औपधो को एक साथ देने पर तीव्र आघ्मान हो जाता है । इसी प्रकार परस्पर रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव के विपरीत औपधो का एक साथ प्रयोग करना उपद्रवजनक होता है ।

सल्फार्वर्ग की औपधो के विषेले लक्षण

ये औपधो विपाकत होती है । इन्हें लक्षणों के अनुसार अनेक वर्गों में विभक्त किया गया है—

१ सामान्य विपाकता—इसमें शिर शूल, मिचली या वमन होना और त्वचा में ज्यावता होना—ये लक्षण होते हैं ।

२ गम्भीर विपाकता—इसमें अतिसार, मूत्रावरोध, अन्त्रशूल, वृक्कशूल तथा रक्तमूत्रता एवं अम आदि मनोविकार आदि उपद्रव होने लगते हैं ।

३ भीखण दुष्परिणाम—इसमें १०-१५ दिन बाद यकृत शोथ, कामङ्ग, रक्ताल्पता, तन्त्रिकाशोथ (Neuritis) आदि उपद्रव होते हैं ।

४ औषध के प्रति असहिष्णुता (Drug intolerance)—एक बार सल्फार्वर्ग की औपध के प्रयोग करने के कुछ दिनों बाद पुन प्रयोग करने से त्वचा में चक्टे या दाने निकलना, गले में एवं चेहरे पर सूजन होना आदि लक्षण होते हैं ।

चिकित्सा—उन औपधों का प्रयोग रोककर लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करे ।

साधारण पेनिसिलीन तथा प्रोकेन पेनिसिलीन की प्रतिक्रियाएँ और उपचार

१ तात्कालिक प्रतिक्रिया—पेनिमिलीन की गूई लगते ही अथवा १-२ घण्टे के अन्दर रोगी में तीव्र विषेले लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । कभी-कभी रोगी की मृत्यु भी हो जाती है । मुख रूप से उपजिह्वाशोथ, गले में शोथ, श्वासकष्ट, त्वचा में चुनचुनाहट तथा चक्टे निकलना, चेहरे का रग फीका पड जाना और असहिष्णुता, ये लक्षण होते हैं ।

२ पश्चात्कालीन प्रतिक्रिया—पेनिसिलीन के प्रयोग के कई दिनों बाद प्रतिक्रिया-स्वरूप चक्टे निकलना, दाने निकलना, मुखमण्डल में शोथ होना और ज्वर होना, ये लक्षण होते हैं ।

३ प्रोकेन पेनिसिलीन की प्रतिक्रिया—शिर में चक्कर, वेचैनी, अत्यधिक पसीना छूटना, हाथ-पैर ठण्डा पडना, नाड़ी की गति मन्द होना, रक्तचाप गिर जाना और मूर्छा—ये लक्षण होते हैं । कदाचित् तीव्र आक्षेप (Convulsions), पैर में चुनचुनाहट और त्वचा में शोतपित्त जैसे चक्टे उभड़ आते हैं । कभी-कभी ये लक्षण अत्यन्त उग्र होकर प्राणनाशक हो जाते हैं ।

प्रतिवेध—

१. अत्यावश्यक होने पर ही पेनिमिलीन का प्रयोग करे ।

२ व्यक्तिगत या पारिवारिक इतिवृत्त लेकर यह पता लगा लेना चाहिए कि रोगी एलर्जी से प्रभावित है या नहीं, अथवा पहले कभी पेनसिलीन की सूई लेने में प्रतिक्रिया हुई है या नहीं।

३ हो सके तो बाँह में या जघे में सूई लगाये रथा सूई लगाने के स्थान के ऊपर बन्धन (Tourniquet) बाँध देना चाहिए।

४ सूई लगाते समय सदैव सिरिज्ज के पिस्टन को पीछे खीचकर यह देख लेना चाहिए कि सूई शिरा में रो नहीं चली गयी है। यदि शिरा में हो, तो उसे निकालकर अन्यत्र मासपेशी में लगाये तथा उस स्थान को रगड़े नहीं।

५ जिन रोगियों में प्रतिक्रिया होती दीखती हो, उन्हें भविष्य में पेनसिलीन लेने से मना कर दे।

तत्काल उत्पन्न विषाक्तता में उपचार

१. रोगी को अविलम्ब लिटा दें और पैताने को ऊंचा कर दें। सूई लगाने के स्थान के ऊपर बन्धन (Tourniquet) लगाये।

२ रोगी के पहने हुए कपड़े ढीले कर दें, जिससे श्वास लेने में आसानी हो। मुख पर शीतल जल की धारा गिराये या छीटे दें। बेहोशी को दूर करने के लिए अमोनिया सुँधाये या एक छोटी शीशी में समझाग चूना और नौसादर डालकर हिला दे और डॉट बन्द कर दे फिर डॉट खोलकर रोगी को सुँधाये, अथवा—कट्टफल की छाल का बारीक चूर्ण सुँधायें।

३. यदि दबा देते ही विषाक्तता के लक्षण प्रकट होते दीखे, तो उस दबा को तत्काल रोक दे और दूसरी सिरिज्ज से तुरन्त एड्रीनलीन हाइड्रोक्लोराइड का १ १००० का धोल ५ सी० सी० की मात्रा में मासपेशी में सूचीवेध करे।

४ हाइड्रोकॉटीनोन को १०० मिं० ग्रा० की मात्रा में शिरा द्वारा दे और कोई भी एण्टी-हिस्टामिनिक द्रव २५ से ५० मिलीग्राम की मात्रा में सूचीवेध द्वारा दे या मुख द्वारा प्रयोग कराये।

५ यदि प्रतिक्रिया का प्रभाव श्वसनतन्त्र पर हो और श्वासकष्ट हो, तो एमिनो-फाइलिन (Aminophylline) ० २५ से ० ५ ग्राम तथा एड्रीनलीन १-१००० का ० १ से १ सी० सी० को २५ प्रतिशत २५ सी० सी० ग्लूकोज के साथ मिलाकर सिरामार्ग से सूचीवेध करें।

६ उक्त लक्षणों के पुनराक्रमण पर उक्त चिकित्सा पुन दुहराये।

७ आवश्यक होने पर ऑक्सीजन सुँधाना चाहिए।

८ स्ट्रैप्टोमाइसिन, क्लोरेमिफनाल तथा टेट्रासाइक्लिन के विषाक्त लक्षण प्रकट होने पर पेनसिलीन की तरह उपचार करें।

औषधों का धातक मिथ्यण

बहुत-सी औषधे ऐसी हैं, जिनका अज्ञानतावश प्रयोग करना धातक परिणाम लाता है। जैसे—

१ जिन रोगियों में डिजिटेलिस का प्रयोग हो रहा हो, उनमें कैलसियम का प्रयोग करने से हृदय की मासपेशी पर अत्यन्त क्षोभक प्रभाव देखने में आता है, जिससे आगे चलकर निलय-विकम्पन (Ventricular fibrillation) होने से रोगी की मृत्यु हो सकती है। अत यह विधान है, कि जिन रोगियों को कैलसियम देना हो, उनमें कग से कम चार दिन पहले से ही डिजिटेलिस का प्रयोग बन्द कर दें।

२ क्लोरोफार्म भज्जाहरण (Chloroform anaesthesia) में एड्रीनलीन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

३ कोई भी इञ्जेक्शन लगाने के पहले उसके लेविल, निर्माणकाल और ममाप्तिकाल (एक्सपायरी डेट) को अच्छी तरह देख लेना चाहिए।

४ कभी-कभी औपध का प्रयोग गलत मार्ग से कर देने का घातक परिणाम होता है, जैसे विना ग्लूकोज में घोले और धीरे-धीरे एड्रीनलीन का प्रयोग शिरा द्वारा किया जाय, तो निलय-विकम्पन के कारण या तो रोगी का प्राणान्त हो जाता है अथवा उग्र शिर शूल, घबड़ाहट, चक्कर तथा अर्धाङ्ग पक्षाधात आदि लक्षण होते हैं।

५ यदि कार्बाकाल (Carbocal) का शिरा द्वारा सूचीबेध किया जाय, तो वमा अन्त शल्यता (Fat embolism) के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है।

६ किसी भी वैक्सीन को मासपेशी में लगाते समय पिस्टन खीचकर देख लेना चाहिए, कि सूई किसी शिरा में तो नहीं गयी है। क्योंकि वैक्सीन की एक बूँद भी शिरा में चले जाने से घातक परिणाम होता है।

७ इसी प्रकार N A B का मासपेशी में सूचीबेध करने से स्थानिक तथा मार्वर्दैहिक अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं।

विशेष चेतावनी—

१ डिजिटेलिम तथा स्ट्रोकेन्थिन एक साथ देने से हृदयगत्यवरोध (हार्टफैल) हो सकता है।

२ वृद्धावस्था में डिजिटेलिस तथा कैलसियम साथ-साथ देने से रक्त के जमने (श्रोम्बोसिस) का भय रहता है।

३ मुख से डिजिटेलिस देने के १४ दिन के अन्दर पुन इसका इञ्जेक्शन देने से हृदय कार्य करना बन्द कर सकता है।

४ वृद्धावस्था में एफेड्रिन देने से वस्त्र में मूत्र एकत्र होने लगता है और वह स्वयं बाहर नहीं निकल पाता।

५ जीवाणुनिरोधी, (एण्टीबायोटिक्स) औपध (जैसे —क्लोरोमाइसिटीन, टेट्रासाइक्लिन आदि) के साथ मल्टीविटामिन देना चाहिए, अन्यथा शरीर में विटामिन की कमी हो जाने से फग्स का सक्रमण हो सकता है।

६. कैलसीफेरोल प्रतिदिन अधिक मात्रा में देने से रक्त में कैलसियम की मात्रा बढ़ जाती है और वृद्धावस्था में श्रोम्बोसिस हो सकता है।

७ किसी एक विटामिन को लगानार अधिक मात्रा में देते समय अन्य विटामिनों को भी देना चाहिए, अन्यथा अन्य विटामिन की कमी हो जाती है।

विषाक्तता-प्रतिषेध के उपाय

१. विषेली औषधों को अन्य औषधों से अलग किसी वाँकस या आलमारी में रखना चाहिए, जहाँ वच्चों की पहुँच न हो।

२ खाने-पीने की सामग्री वाली आलमारी में विषेले पदार्थ चिलकुल न रखे।

३ विषेले द्रव्यों के डिव्वे या शीशी पर लाल लेविल लगाकर नाम लिख दें।

४ लेविल पर नाम स्थानीय भाषा में और स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

५ जो औषध विकृत हो गई हो, उसे जमीन में गडवा दें।

६. अन्धेरे में किसी को दवा न दे और न स्वयं भेवन करे।

७ विषोषधों का प्रयोग उपाधि-प्राप्त रजिस्टर्ड चिकित्सक ही कर सकता है, अन्य अनधिकृत व्यक्ति नहीं।

८ यदि चिकित्सक भूल से किसी विषयुक्त औषध की मात्रा अधिक लिख दे, तो वितरणकर्ता या फार्मेसिस्ट को सन्देह होने पर चिकित्सक से पुन धूप लेना चाहिए और उसके हस्ताक्षर के बिना औषध नहीं देनी चाहिए।

विषाक्तता में चिकित्सक का कर्तव्य

१ यदि किसी रोगी के विषय में चिकित्सक को यह सन्देह हो कि उसे मारने के लिए किसी ने विष दिया है, तो वह पुलिस को तुरन्त सूचित करे। क्योंकि क्रिमिनल प्रोसीजर (Criminal procedure) की धारा ४४ के अनुसार पुलिस को खबर देना चिकित्सक का कर्तव्य हो जाता है। भारतीय दण्ड-विधान की धारा ७६ के अनुसार ऐसा न करने पर चिकित्सक स्वयं दण्ड का भागी होता है।

२ आकस्मिक दुर्घटना के तहत या आत्महत्या के लिए विष का प्रयोग होने या किये जाने में चिकित्सक अपने विश्वास के अनुसार पुलिस को खबर दे और पुलिस की तहकीकात में वह न्याय-संस्था की सहायता करे। चिकित्सक का यह नैतिक कर्तव्य है।

३ प्रत्येक विषयुक्त रोगी के विषय में पुलिम को सूचना देना चिकित्सक की दृष्टि से हितावह है, और व्यवहार की दृष्टि से भी उचित है। अपराध-विवेचन पुलिस का कार्य है।

४ आत्महत्या के प्रयत्न में, पर-हत्या के प्रयत्न में या दुर्घटना में, इनमें से किसी कारणवश विषाक्त रोगी यदि मरणोन्मुख हो या चिकित्सा होने पर भी उसके जीवित रहने की आशा क्षीण हो या चिकित्सक के सामने ही उसकी मृत्यु हो जाय, तो इन परिस्थितियों में पुलिस को सूचित करना चिकित्सक का कर्तव्य है।

५ यदि चिकित्सक अस्पताल में कार्यरत है, तो किसी भी प्रकार के विषाक्त रोगी की सूचना पुलिस या मजिस्ट्रेट को देना उसका वैधानिक कर्तव्य होता है।

परिशिष्ट

इमज़ैन्सी बैग में रखने योग्य औषधें^१

- १ अमोनियम कार्बनेट और कट्फल चूर्ण—सूँघने के लिए।
- २ एपोमार्फीन हाइड्रोक्लोराइड इञ्जेक्शन के दो-तीन एम्पुल—विष-भक्षण में या अन्य परिस्थितियों में वमन कराने के लिए।
३. एट्रोपीन सल्फेट के दो-तीन एम्पुल—शूल तथा कोलेंप्स में अत्यधिक पसीना रोकने के लिए।
- ४ मार्फीन हाइड्रोक्लोराइड के $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ ग्रेन के दो-तीन एम्पुल—सभी प्रकार के शूलशमनार्थ प्रयोग के लिए।
- ५ कोरामिन, काडियाजोल, वेरिट्राल के ४-५ एम्पुल—हार्ट-फेल्योर या अन्य घातक अवस्थाओं में प्रयोगार्थ।
- ६ एड्रीनेलीन हाइड्रोक्लोराइड १ १००० के $\frac{1}{2}$ सी० सी० के कुछ एम्पुल—विभिन्न घातक अवस्था में प्रयोगार्थ एवं एण्टी एलर्जिक औषध के रूप में प्रयोग के लिए।
- ७ पायलोकार्पीन के दो-तीन एम्पुल—घृतुरा विष के प्रतिविष के रूप में प्रयोगार्थ।
- ८ पेथिडीन हाइड्रोक्लोराइड के १०० और ५० मिलीग्राम के कई एम्पुल—मार्फिया के स्थान पर प्रयोग के लिए।
- ९ लोबेलीन हाइड्रोक्लोराइड के दो-चार एम्पुल—श्वासावरोध में प्रयोग के लिए।
- १० इन्सुलीन प्लेन की १० सी० सी० ४० यूनिट की वायल—मधुमेहजन्य मूर्छा या अन्य मधुमेहज विकारों में प्रयोगार्थ।
- ११ पैरालिडहाइड की ५ सी० सी० के कुछ एम्पुल—हिस्टीरिया आदि मानस-विकारों में अवसादक के रूप में प्रयोग के लिए।
- १२ लार्जेंकिटल के ५० मिलीग्राम के ४-५ एम्पुल—वमन रोकने के लिए, अवसादन के लिए और उच्च रक्तचाप घटाने के लिए।
- १३ एमाइनोफाइलिन के कई एम्पुल—दमा में श्वासनलिका के सकोच तथा हृदय-धमनी-सकोच में प्रयोगार्थ।
- १४ एड्रीनेलीन एफेड्रिन के दो-चार एम्पुल—दमा दूर करने के लिए।
- १५ क्रोमोस्ट्रेट, स्ट्रेप्टोक्रोम के ४-५ एम्पुल—सभी प्रकार के रक्तस्रावों को रोकने के लिए।

^१. इस शीर्षक का विषय ‘सकटकालीन प्राथमिक चिकित्सा’ लेखक—डॉ० मियकुमार चौधेरी पुस्तक से साभार उद्धृत है।

१६ हिपेरिन के वायल—सेरिन्हल श्रोम्बोसिस में या अन्य श्रोम्बोसिस में एटी कोएग्युलेण्ट औषध के रूप में प्रयोगार्थ ।

१७ एण्टीस्टिन, एविल, फेनर्गन, सायनोपेन के कई एम्पुल—ग्लर्जी एवं एनाफिलेक्टिक शाँक को दूर करने के लिए ।

१८ इसगीपायरिन, नोवालिजन के कई एम्पुल—वेदना-निवारणार्थ ।

१९ स्टेमेटिल, सीकिल के कई एम्पुल—विभिन्न प्रकार की उत्तेजना और वमन को दूर करने के लिए ।

२० बाल (B A L) के कई वायल या एम्पुल—समस्त प्रकार के धातवीय विष के प्रतिविष के रूप में प्रयोगार्थ ।

२१ टिटेनस एण्टी-टॉक्सिन के कई एम्पुल—प्रतिषेधार्थ और रोगोपचार के लिए ।

२२ सर्पापिल १ ग्राम के दो-चार एम्पुल—उच्च रक्तचाप को कम करने के लिए ।

२३ सुपर ग्लूकोज सोल्यूशन के २५ प्रतिशत घोल के २५ सी० सी० के ४-५ एम्पुल ।

२४ ग्लूकोज सैलाइन की ५०० सी० सी० की कई बोतले ।

२५ कैलसियम ग्लूकोनेट की १० प्रतिशत घोल की १० सी० सी० के कुछ एम्पुल ।

२६ पेनिसिलीन-जी क्रिस्टेलिन के १, २, ५, १० लाख यूनिट के ४-६ वायल ।

२७ प्रोकेन पेनिसिलीन ४ लाख यूनिट के कई वायल तथा पेनिसिलीन ४ लाख यूनिट १ ग्राम स्ट्रोमाइसिन के मिश्रित योग के कई वायल ।

२८ एक्रोमाइसीन, टेरामाइसिन, स्टिक्लीन के १०० मिलिग्राम के कई वायल ।

२९ क्लोरोमाइसिटीन सक्सीनेट के कई वायल ।

३० पेरिस्टान-एन तथा एफकोलिन के कई एम्पुल ।

३१ डिजोक्सिन एवं डेरिफाइलीन एम्पुल—हृदयविकार में ।

३२ नेप्टाल, मर्सिलिल—मूत्रल औषध के रूप में प्रयोगार्थ ।

कुछ इमर्जेन्सी टेब्लेट्स

१ पेथीडीन ५० मिलीग्राम की गोलियाँ ।

२ स्पैजिमण्डोन या वेराल्गन की गोलियाँ ।

३ नोवालिजन, सीवान्जिन, डसगीपाड़रीन ।

४ स्यूडोकॉडिल, कोराल्जिल, स्यूडोफिल, पेण्टानाइट्री ।

५ सायनोपेन फेनर्गन, एविल एवं अन्य एण्टी एलर्जिक ।

६ सर्पासिल ० २५ मिलिग्राम, एल्डेफेन, सर्पिहिटीन इत्यादि ।

अन्य आवश्यक उपकरण

१ २, ५, १०, २० और ५० सी० सी० की मिरिङ्ज तथा उनके क्रमानुसार पतली-मोटी अनेक सुइयाँ ।

- २ एक सेलाइन आपरेटर ।
- ३ ईथर, एल्कोहल तथा स्पिरिट की शोशियाँ ।
- ४ टग डिप्रेमर, एम्पुल काटने की रेती, दियासलाई ।
५. रवर ट्रूनिकेट तथा विविध नम्बरों के रवर और मेटल कैथेटर ।
- ६ स्टेरिलाइज्ड गाँज और एक बण्डल रुड़ ।
- ७ रवर का दस्ताना और फिगर स्टाल ।
- ८ चाकू और महीन चिमटी ।
- ९ दो आमाशय नलिका ।
- १० माउथ गैंग और टग फॉर्मेप्स ।
- ११ ऑक्सीजन सिलिण्डर ।
- १२ नया सेल लगा टाचं ।
- १३ स्टेरिलाइज्ड पट्टी तथा त्वचा भीने की सूई ।
- १४ दो लम्बर पक्वर की सूई तथा सूखे स्टेरिलाइज्ड टथूब ।
- १५ एण्टीसेप्टिक लोशन, डेटॉल तथा पीटीशियम परमेंगनेट ।
- १६ ब्लडप्रेशर की मशीन, स्टेविस्कोप ।
- १७ थर्ममीटर, स्पिरिट लैम्प इत्यादि ।

व्यवस्थापन (नुस्खा) के सांकेतिक शब्द

प्र०	प्रति	कि०	ग्रा०	किलोग्राम
प्र० दि०	प्रतिदिन	ग्रा०		ग्राम
आ० अ०	आवश्यकतानुसार	सें०	ग्रा०	सेण्टीग्राम
ए० प्र० दि०	एक बार प्रतिदिन	डे०	ग्रा०	डेसीग्राम
द्वि० प्र० दि०	दो बार प्रतिदिन	से०	ग्रे०	सेण्टीग्रेट
त्रि० प्र० दि०	तीन बार प्रतिदिन	फा०		फारेनहाइट
भो० पू०	भोजन के पूर्व	मि०	ग्रा०	मिलीग्राम
मि०	मिनिम, बूँद	मि०	ली०	मिलीलीटर
स०	सप्ताह	ली०		लीटर
अ०	अधस्त्वक्	भो०	वा०	भोजन के बाद
ऐ०	पेशीमार्ग			

औषध देने का समय

- १ यदि आमाशय पर कार्य करने की दृष्टि से औषध देनी हो, तो उसे खाली पेट भोजन के पहले देना चाहिए ।
- २ भूख बढ़ाने की औषध भोजन के पूर्व खिलानी चाहिए ।
- ३ भोजन पचानेवाली औषधे भोजन के बाद देनी चाहिए ।
- ४ तीव्र जुलाब की औषध प्रात काल दे और विलम्ब में कार्य करनेवाली दवा रात में सोते समय दे ।

- ५ निद्राप्रद औषध रात मे सोने के समय देनी चाहिए ।
 ६ नीद लाने की दवा रोगी को विस्तर पर लेटकर लेनी चाहिए ।
 ७ लौह, सखिया आदि के योग भोजन के बाद लेने चाहिए ।
 ८ मासिकधर्म लानेवाली औषध मासिक होने के समय से एक सप्ताह पूर्व से ले ।

९. मूत्रल दवा प्रात काल लेनी चाहिए, रात मे लेने पर बार-बार मूत्रोत्सर्ग के लिए उठना पड़ेगा ।

१० कफवृद्धि दूर करने लिए वमन कराना हो, तो सबेरे काञ्जी पिलाकर वमनकारक औषध देनी चाहिए ।

११ अग्निमान्द्य और अजीर्ण को दूर करने के लिए औषध को भोजन के साथ देना चाहिए एव रात्रि मे भी देना चाहिए ।

१२ तृष्णा, हिचकी, श्वास और विषप्रकोप मे बार-बार औषध का सेवन कराना चाहिए ।

१३ बातरोग के शोथ पर रात्रि मे लेप न लगाये और दिन मे लगाये हुए लेप के सूखने पर उसे हटा दे ।

१४ दाहयुक्त अम्लपित्त रोग मे वमन-विरेचन से शोधन कराने के पश्चात ही औषध-सेवन कराना लाभदायक है ।

१५. सगर्भा स्त्री को अफीम, जमालगोटा और एलुवा वाली औषधे तथा अन्य तीक्ष्ण औषधे न दे ।

औषध-सेवन के पाँच काल

प्रथम काल—प्रात काल औषध प्रदान करना—यह प्रथम काल है । यह पाँचों कालों मे भवसे उत्तम माना गया है ।

१ स्वरस, कल्क, कषाय, फाण्ट और हिम को प्रात काल देना चाहिए ।

२ बातादि दोषों के शमनार्थ स्नेहपान, पित्तनाशार्थ विरेचन, कफ प्रकोप मे वमन, भेदोवृद्धि मे लेखन औषध, मूत्रल औषध, पौष्टिक औषध, वीर्यवर्धक और ग्सायन औपध प्राय प्रात काल दी जाती है ।

द्वितीय काल—१ अपानवायु के कुपित होने पर भोजन के आधे घण्टे पहले वातनाशक औषध देनी चाहिए ।

२ आमाशयम्थ प्राणवायु-विकृतिजन्य अरुचि आदि मे भोजन के साथ अनेक बार थोड़ी-योड़ी औषध दे ।

३ समानवायु प्रकोपज अग्निमान्द्य मे भोजन के मध्य मे औषध दे ।

४ व्यानवायु से प्रेक्षोप मे भोजन के अन्त मे औषध दे ।

५ उदानवायु-विकृतिजन्य पाचनतन्त्र मे गडबडी होने पर भोजन के आदि और अन्त मे औषध देनी चाहिए ।

सृतीय काल—१ दसवांश में पर्वत ने छाठ में वारभग आदि होने पर नामनाल भोजन के प्रथम जान में इसे देता है।

२. प्राययात्रु वी त्रितीय में भाग्यवत्ता में निकार होते पर नामनाल भोजन के अन्त में जीर्ण देना अपित्र उपयुक्त है।

बहुवचं काल—१. दृष्टि, उमन, दृष्टिग, दृष्टिग, भाग, विषयोप, मनिपात, अनिनार, एवतिग, मन्त्रान्ति, उभूनिरा—इन चाही-चोड़ी शास्त्रों ने और बार-दार औपध देनी चाहिए।

२. उमन, अनिनार, दृष्टी और प्रणालिना ने ५-८ वार अन्त मात्रा में औपध देना चिनेय जाभगान्त है।

३. उभूनिरा ने आप्ते-आप्ते एष्टे पर औपध है। जब गोग ता नमन होता दीर्घ तो औपध वी शाश्वता रहता है।

४ विषप्रकार त्रिकांत और चाँद भाग्यवत्ता में १-१ या २-२ एष्टे पर औपध देनी चाहिए।

पञ्चम-काल—१ काठ हें ज्ञात्यं भाग के गोग अर्थात् नेत्र, नामा, कर्ण, मुग और मन्त्रिकगत रोगों में प्रवृद्ध चातुर्विंशति दोषों के तान तथा धीण दोषों की वृद्धि के त्रिए गति में पाचन, वृत्ता और नमन औपध देनी चाहिए।

२. मधुररस-प्रधान पीटिक औपध प्राप्त रान है।

३. लवण मिश्रित कार-प्रधान औपध भोजन के पहले या भोजन के प्रथम ग्रास में देने से आमाशयित रस वी वृद्धि होती है।

४ हीग आदि तीक्ष्ण वातधन औपधियां भोजन के पहले देने से उदरवायु निकलती हैं और पाचक रस बढ़ता है।

५. कपायरस-प्रधान औपधियां (हरे, कत्था, लोधि, मोनरम, माजूफल आदि), अफीम तथा रसकर्पूर आदि औपधियां ग्राही हैं और पाचकरस की उत्पत्ति की प्रतिवन्धक होती हैं। अत उनको भोजन में तीन घण्टा पहले देना चाहिए।

६ कटवी औपध भोजन के साथ नहीं देनी चाहिए, अन्यथा वातप्रकोप होने की आशङ्का होती है।

दोषप्रत्यनीक (विरुद्ध) चिकित्सा की श्रेष्ठता

आयुर्वेद किमी रोग की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व दोष-दूष्य और स्थानादि के ज्ञान को आवश्यक मानता है। किम प्रकार कौन दोष दूषित हुआ, किस दोष का किन-किन दूष्यों से मयोग हुआ और कौन-कौन स्थान दूषित हुए—इन सभी वारों का निश्चय और सम्यग् वोध हो जाने पर ही चिकित्सा करने से सफलता मिलती है।

वारभटाचार्य के कथनानुसार है—‘दूष्य (रस-रक्तादि धातु), देश (साधारण-आनूप-जागल), वल (रोगीवल, रोगवल और दोषवल), काल (ऋतु), अग्नि,

प्रकृति, आयु, सत्त्व (मनोवल-धैर्य), सात्म्य (आहार-विहार की अनुकूलता) रोगों की सूक्ष्म-सूक्ष्म अवस्थाओं, दोष (वातादि) और औषध के गुण-प्रभाव आदि का अच्छी रीति से विचार करके जो वैद्य चिकित्सा-कार्य करता है, वह कदापि असफल 'नहीं होता'।

जैसे ताजा गोदुग्ध मेध्य, सद्य बलदायक और पुष्टिकर है, फिर भी पित्तज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, कफज खाँसी, कृमि, विद्रधि और कुष्ठ-आदि रोगों में हानिकर है। कफप्रकृति वालों के लिए हितकर औषधियाँ समान रोग होने पर भी पित्तप्रकृति वालों को हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार देश या काल-भेद से भी औषधों की योजना बनानी चाहिए।

चिकित्सा की सफलता के आधार-सूत्र

१ चिकित्सक अपने उच्चस्तरीय मानवीय सबेदना की झलक से रोगी के मन, में अपने प्रति विश्वास, श्रद्धा और निष्ठा उत्पन्न करे तथा रोगी के प्रति अपने पुत्र की तरह वात्सल्य और स्नेह जताकर आत्मीयता स्थापित करे।

२ दोष, दूष्य और निदान के विषरीत और दोष-विपरीतार्थकारी, दूष्य-विपरीतार्थकारी तथा निदान-विपरीतार्थकारी औषध, अब एवं विहार का प्रयोग निश्चित रूप से रोग को दूर करने में समर्थ होता है।

३ दक्षविधि परीक्षा—१ दोष, २ औषध, ३ देश, ४. काल, ५. सात्म्य, ६. अग्नि, ७ सत्त्व, ८ शरीर, ९ वय और १० बल—इन दसों की ठीक-ठीक परीक्षा करके ही चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिए।

४ व्याधि-मुक्ति के बाद भी चिकित्सा की आवश्यकता—किसी रोग के आक्रमण में जब शरीर क्षीण हो जाता है और दोषप्रकोप होने की सभावना बनी रहती है, तो अल्प कारण के उपस्थित हो जाने पर निवृत्त हुआ रोग पुन लौट आता है। इसलिए अवश्य लाभकर औषधों का सेवन तथा पुष्टिकर औषधों का सेवन कर शरीर को पूर्णत नीरोग और पुष्ट बना लेने के लिए रोगमुक्त होने के बाद भी कुछ दिनों और औषध का सेवन कराना चाहिए, जिससे रोग के पुनराक्रमण का भय न हो। ऋणशेष, शत्रुशेष, अग्निशेष और व्याधिशेष—इन्हें नहीं छोड़ना चाहिए, अन्यथा इनका पुन बढ़ जाना घातक होता है।

रोगी-विषयक अपेक्षा

१ गर्भवती स्त्री को अफीम, जमालगोटा और एलुवा वाली औषधें या ठीकें औषधे न दे।

२ मन्दाग्नि के रोगी, बहुमूत्र के रोगी और सूतिकाज्वर की रोगिणी को धी वा अल्प मात्रा में सेवन कराना चाहिए।

३ शरीर में जब तक रोग होता है, तब तक पीष्टिक औषध से लाभ नहीं होता। रोग दूर होने के बाद ही पीष्टिक औषध देनी चाहिए।

४. निरन्तर सेवन करने से अथवा स्वाद के न होने ने यदि पथ्य में रुचि न हो, तो उसके निर्माण के प्रकार में घोड़ा परिवर्तन कर रुचिकर बनाकर दे, यद्योकि मन के सन्तुष्ट होने पर ही रोग का धय, आरोग्य-ज्ञान, सुख और शरीर में बल की वृद्धि होती है।

५. स्त्री-रोगिणी को पुरुष की अपेक्षा ज्ञान मात्रा में दवा देनी चाहिए।

६. वालकों को निम्नाद्वित मात्रा में औपध दे—

३ मास तक पूर्णमासा का	द्वृष्ट भाग	४ वर्ष तक पूर्णमासा का	द्वृष्ट भाग
६ "	"	८ "	"
१२ "	"	१२ "	"
२ वर्ष	"	२० "	"
३ "	"	६० "	"
			पूर्णमासा

इसके बाद शक्ति घटने पर मात्रा वो क्रमम कम करने जाए।

७. रोगी के विस्तर, वस्त्र, स्थान और पात्र स्वच्छ रखने चाहिए।

८. औपध, जलपान और पथ्य नियमित एवं उचित प्रमाण में दे।

९. रुग्ण के मनोरञ्जन के लिए कमरे में ट्रांजिजस्टर आदि रख दे।

१०. पूर्ण विश्राम दें और मिलनेवाले उनके पान अधिक मग्य तक न बढ़े और न ही व्यर्थ की वार्ते करें। रोगी को धैर्य, आश्वासन और मान्तवना दें।

११. दीर्घकाल तक शश्या पर पटे रहनेवालों के शगेर वो गरम जल में तौलिया भिगोकर देह पोछना चाहिए।

१२. दोप और रोग के अनुमार जाहार-विहार की गमुचित व्यवस्था करे। ४-४ घण्टे पर तापमान, श्वास और नाड़ी की गति का रिझाइं बनाना चाहिए। मल-मूत्र के उत्तर्ग और प्रकार के विषय में आवश्यक जानकारी रखनी चाहिए।

रोग-विधयक अपेक्षा

१. नूतन ज्वर में दिन में भोजना, स्नान, अभ्यङ्ग, भोजन, हवा का झोका और श्रमजनक कार्य निषिद्ध है।

२. पीने का पानी गरम करके ठण्डा किया हुआ दे।

३. जीर्णज्वर में गोदुध और अल्प मात्रा में धी दे।

४. सन्निपात में शीतल जल नहीं पिलाना चाहिए।

५. यदि रोगी को प्रस्वेद अधिक आता हो, तो उसे तुरन्त बन्द करने की चिकित्सा करनी चाहिए, अन्यथा शीताङ्ग हो सकता है।

६. यदि तन्द्रा या वेहोशी हो तो तीक्ष्ण नस्य देकर शीघ्र होश में लाना चाहिए।

७. ताप चले जाने पर जब तक शरीर में शक्ति न आ जाय, तब तक व्यायाम, धैर्यन और पैदल त्वचालने का नियंत्रण करे।

कायचिकित्सा

८०. पारद, सखिया, कुवला आदि का सेवन यदि ज्यादा दिनों तक करना हो, उसे दो सप्ताह तक रोगी के बाद एक सप्ताह छोड़कर पुन आरम्भ करे।

११. आमाशय खाली रहने पर दी गई औपथ शीघ्र शोषित होती है, अतः सामान्य औषधे प्रात-माय खाली पेट ही दी जाती है। आमब-अरिष्ट तथा तीक्ष्ण औषधे भोजन के बाद दी जाती हैं।

आहार-विहार के कुछ नियम

१. शीतल जलपान—मूच्छा, मदात्यय, दाह, पित्तविकार, विषविकार, रक्तविकार, वमन, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, श्रम एवं भ्रम में ठण्डा जल पिलाना चाहिए।

२. उष्ण जलपान—असूचि, मन्दाग्नि, आधमान, कास-श्वास, हिचकी, मर्दी-जुकाम, पाण्डु, प्रमेह, गुल्म, नवज्वर और वातरोगों से गरम जल पिलायें।

३. जल एक बार में अधिक नहीं पीना चाहिए अपितु थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार पीना चाहिए।

४. दुग्ध-निषेध—मन्दाग्नि, आमवृद्धि, कुष्ठ, उदरशूल, कफवृद्धि और कुमिविकार में दूध पीना हानिकर है।

५. तक्क-निषेध—उष्णवात, मूच्छा, दाह, तृपा, रक्तपित्त, अम्लपित्त, सुजाक और प्रमेह में मट्टा पीना वर्जित है।

६. दही-निषेध—रक्तपित्त, अम्लपित्त, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, कुष्ठ, वातरक्त, पीनस, प्रतिश्याय, कफवृद्धि, क्षय, शोथ, सन्धिवात, इनमें और रात्रि में दही नहीं खाना चाहिए। दिन में जब दही खाना हो, तो उसमें नमक या चीनी मिलाकर खाना चाहिए।

७. दिन में भोजन के अन्त में तक्क का सेवन और रात में भोजन के बाद दूध पीना हितकर है।

८. दूध और कटहल एक साथ नहीं खाना चाहिए।

९. दूध का भछली के साथ पूर्ण विरोध है।

१०. दही बिल्कुल ताजा या तपाकर खाना हानिकर है।

११. दही गरम-भगरम और उष्णार्त के लिए अति हानिकर है।

१२. मधु और धी वरावर मात्रा में खाना विष-कारक है।

१३. रात्रि में सत्तू खाना काल-विरोधी है।

१४. बिना जल मिलाये सत्तू का सेवन नहीं करना चाहिए।

१५. ताम्बूल-निषेध—नेत्राभिष्यन्द, रक्तपित्त, क्षत, दाह, विषप्रकोप, मूच्छा, मदात्यय, इनमें ताम्बूल निपिद्ध है।

१६. अदरख-निषेध—कुष्ठ, पाण्डु, सुजाक, रक्तपित्त, दाह और निद्रानाश में अदरख का सेवन निषिद्ध है।

